"वक्रोक्ति सिद्धान्त के आलोक में श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का अनुशीलन"

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध
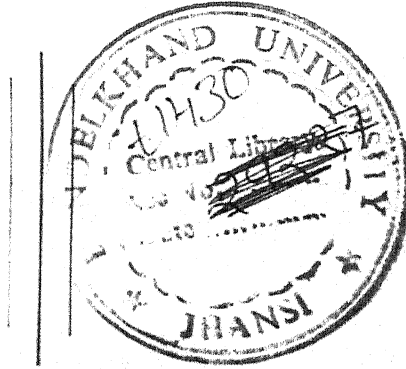
शोध-निर्देशक

डॉ० महावीर सिंह

एम०ए०,(हिन्दी, अंग्रेजी, राजनीति विज्ञान)
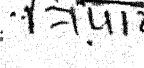
डी० फिल्०

रीडर, हिन्दी विभाग

अतर्रा, पोस्ट ग्रेजुएट कालेज

अतर्रा

शोध-कर्त्री

पुष्पा त्रिपाठी

एम०ए०

1999

डॉ0 महावीर सिंह
एम०ए० (हिन्दी, अंग्रेजी, राजनीति विज्ञान)
डी०फिल्०
हिन्दी विभाग

फोन : 204
अतर्रा स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
अतर्रा 210201 (बांदा) उ०प्र०

प्रमाण–पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **श्रीमती** पुष्पा **शुक्ला** ने मेरे निर्देशन में 200 दिन रहकर **"वक्रोक्ति सिद्धान्त के आलोक में मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का अनुशीलन"** शीर्षक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया। यह इनकी मौलिक रचना है।

(डॉ0 महावीर सिंह)
रीडर, हिन्दी विभाग
अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज,
अतर्रा

भूमिका

भूमिका

भारत एक ऐसा देश है जिसमें लोकप्रियता उसी व्यक्ति को प्राप्त हो सकती है, जो अपने देश, धर्म, समाज और संस्कृति के प्रति निष्ठावान् हो और उसकी रक्षा तथा उत्थान के लिए वैचारिक धरातल पर ही नहीं व्यवहारिक क्षेत्र में भी अपनी शक्ति और क्षमता के अनुरूप पूर्ण योगदान देता हो।

श्री मैथिलीशरण गुप्त ऐसे ही व्यक्ति थे, जो काव्य के क्षेत्र में ही नहीं सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी राष्ट्रोत्थान, समाज सुधार और संस्कृति की रक्षा के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे, जीवन जगत की गतिशीलता के कारण संवेदनशील कवि का मानसिक विकास होता रहता है, अतः वह सजग अनुभूतियों की अभिव्यक्ति निरन्तर करता रहता है, इससे उसकी काव्य यात्रा विकसित होती रहती है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का उत्कृष्ट साहित्य कवि की काव्य प्रतिभा का सबल प्रमाण है। मनस्वी मनीषियों सुधी समीक्षकों तथा अध्यवसायी अनुसन्धित्सुओं ने इस साहित्य शिल्पी के काव्य पर राष्ट्रीय भावन सांस्कृतिक विभूति, काव्य सौष्ठव, युगबोध आदि अनेक पक्षों की दृष्टि से पर्याप्त रूपेण विचार किया है, किन्तु काव्य शास्त्र की दृष्टि से गुप्त जी के काव्य पर विचार करते समय विद्वानों की दृष्टि इस ओर अलंकार तक ही सीमित रही है। ध्वनि और वक्रोक्ति सादृश महत्वपूर्ण काव्य सम्प्रदायों के आलोक में ओलडन विलोडन अध्यावधि नहीं हुआ है। श्री मैथिलीशरण गुप्त के नवीनोद्भावनाओं से समन्वित अनके काव्य वक्रोक्ति सिद्धान्त के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में यह शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम अध्याय में वक्रोक्ति की परिभाषा का प्रथम व्यवस्थित विवेचन भामह के 'काव्यालंकार' में मिलता है। वक्रोक्ति के व्यापक विभावन का आरम्भ उन्हीं से होता है। भामह ने वक्रोक्ति में शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता का समावेश माना है उनके अनुसार केवल नितान्त आदि के शब्दों के प्रयोग से वाणी में सौन्दर्य नहीं आता। शब्द और अर्थ में वक्रता होनी चाहिए, जो वाणी का अलंकार है।

भामह के उपरान्त दण्डी ने भी काव्यादर्श में वक्रोक्ति की चर्चा की है। उन्होंने वाङ्मय के दो व्यापक भेद किये हैं स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति : द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। स्वभावोक्ति में पदार्थों का साक्षात् स्वरूप वर्णन होता है, वह आद्य अलंकार है।

वामन ने वक्रोक्ति को सामान्य अलंकार न मानकर विशिष्ट ही माना है – किन्तु परवर्ती आचार्यों की स्वीकृत मान्यता के विपरीत उनकी वक्रोक्ति शब्दालंकार न होकर अर्थालंकार है और उसका लक्षण है सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति। रुद्रट ने इस वक्रोक्ति के दो भेद किये हैं : (1) काकु वक्रोक्ति (2) भंग–श्लेष वक्रोक्ति। काकु में उच्चारण और स्वर के उतार चढ़ाव द्वारा उक्ति का वक्र अर्थ किया जाता है और भंग–श्लेष में श्लेष के द्वारा। कुन्तक ने वक्रोक्ति का मौलिक व्याख्यान करते हुए उसे काव्य के आधारभूत एवं सर्वग्राही रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने भामह से प्रेरणा ग्रहण कर वक्रता को काव्य का मूल तत्व मानते हुए उसी के आधार पर काव्य के सर्वांग की व्याख्या प्रस्तुत की। काव्य का काव्यत्व उसके आश्रित है, काव्य के सभी रूपों में उसकी अनिवार्य स्थिति है – काव्य के सभी अंग उसमें अन्तर्भूत है। इस प्रकार कुन्तक के विवेचन में वक्रोक्ति मौलिक तत्व से सर्वव्यापक तत्व बनी, और अन्त में एक व्यवस्थित सिद्धान्त तथा काव्य सम्प्रदाय बन गयी। वक्रोक्ति के इतिहास में वामन का महत्व इसलिए है कि उन्होंने लक्षणा ओर वक्रोक्ति का स्पष्ट सम्बन्ध निर्देश किया। लक्षणा पाँच प्रकार की होती है। लेकिन वामन ने केवल सादृश्य लक्षणों से वक्रोक्ति का सम्बन्ध माना है। वक्रोक्ति को विचित्रविधा कहने वाले कुन्तक अभिधावादी आचार्य हैं। किन्तु उनकी अभिधा में लक्षणा और व्यंजना भी अन्तर्भुक्त हैं। कुन्तक का कहना है कि काव्यमार्ग में वे शब्द भी वाचक ही कहलाते हैं, जो अन्यत्र लक्षक और व्यंजक कहे जाते हैं। उसी प्रकार वाच्य अर्थ में द्योत्य और व्यंग्य दोनों ही अर्थों का सन्निवेश है।

इसी अध्याय के ख भाग में पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति–इस पर व्यापक चर्चा की गई है। प्लेटो, अरस्तू, सिसरो, दान्ते, एडिसन, लैसिंग, क्रोचे

की तुलनात्मक दृष्टि का प्रस्तुतीकरण हुआ है। क्रोचे और कुन्तक दोनों ही अभिव्यंजना अथवा उक्ति को मूलतः अखण्ड और अविभाज्य मानते हैं।

द्वितीय अध्याय – मैथिलीशरण गुप्त की काव्य यात्रा से सम्बन्धित है। पं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इन काव्य कृतियों को तीन भागों में विभक्त किया है। साधकावस्था, सिद्धावस्था एवं सुजनावस्था। गुप्त जी ने साधक के रूप में अपनी काव्य यात्रा के विविध मार्गों का उद्घाटन इसी युग में कर लिया था, उन मार्गों पर चलना उनकी रमणीयता के प्रदर्शन में सिद्धहस्त होना दूसरे युग की समृद्धि है। अपने काव्य जीवन के द्वितीय युग में गुप्त जी ने जैसी परिमार्जित ललित भाषा का प्रयोग किया हे, शैली की जैसी प्रांजलता कसावट और बारीकी दिखाई है, उससे साधक कवि के परिष्कृत परिपुष्ट और परिपक्व रूप के दर्शन मिलते हैं। साधक अब सिद्ध हो गया है। गुप्त जी की रचना का तीसरा युग सुजानावस्था का है। इस युग में गुप्त जी की रचना लाक्षणिक वक्रता व्यंजना की गूढ़ता शील–निदर्शन की उत्कृष्टता से परिपूर्ण है। उनकी काव्य यात्रा को मैंने इस प्रकार वर्गीकृत किया है–

प्रथम विकास स्थिति सन् 1901 से 1910 तक काव्याभ्यास काल। द्वितीय विकास स्थिति 1910 से 1925 तक निर्माण काल वर्णनात्मक तथा अनेक रूपात्मक काव्य। तृतीय विकास स्थिति 1925 से 1937 तक उत्कर्ष काल महाकाव्य तथा चरित्र प्रधान काव्य वस्तु व्यंजक शिल्प। चतुर्थ विकास स्थिति 1937 से 1947 तक परिपक्व काल जीवन दर्शन की प्रौढ़ि स्वच्छन्द प्रबन्ध काल। पंचम विकास स्थिति 1947 से 1957 तक प्रौढ़ोत्तर काल रचनाकार्य में लाघव, स्वातन्त्र्योत्तर विषय और प्रवृत्तियाँ, संकलन काव्य दार्शनिक तटस्थता।

तृतीय अध्याय – गुप्त जी के काव्य में वर्ण वक्रता वर्णित है। कुन्तक कविता के विवचेन का प्रथम अवयव वर्ण को ही मानते हैं। इसीलिए उन्होंने वर्ण विन्यास–वक्रता को ही वक्रोक्ति का प्रथम भेद माना है। यहाँ वर्ण शब्द व्यंजना का पर्यायवाचक है। इस प्रकार वर्ण विन्यास वक्रता व्यंजन–चारुता का ही दूसरा

नाम है। इसी के अन्य आचार्यों ने अनुप्रास की संज्ञा दी है। इस तथ्य को स्वयं कुन्तक ने स्वीकार किया है: एतदेव वर्ण विन्यास वक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्। परवर्ती आचार्यों ने अनुप्रास के छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास इस प्रकार के पाँच भेद किये हैं। अनुप्रास एक ऐसा अलंकार है जिस पर संस्कृत के सभी अलंकारिकों ने किसी न किसी रूप में विचार किया है। भामह के अनुसार सरूप वर्ण विन्यास को अनुप्रास कहा है। वर्ण वक्रता में एक वर्ण की आवृत्ति, दो वर्णों की आवृत्ति, दो से अधिक वर्णों की आवृत्ति पर गहनता से विचार किया गया है इसी परिप्रेक्ष्य में त–ल–नादय की चर्चा की गयी है। गुप्त जी के काव्य में इनके सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। इसी अध्याय में नाद सौंदर्य की चर्चा है। नाद–सौंदर्य कविता का सार्वकालिक और सार्वदेशिक गुण है और इससे कविता कालजयी बनती है। अनुभूति और वर्ण विन्यास के सामन्जस्य का ही नाम नाद–सौंदर्य है। नाद सौंदर्य का मनोविज्ञान यही है कि वर्ण का अनुकरण एक श्रुति–सौंदर्य की सृष्टि करता है। नाद–सौन्दर्य के सुन्दर उदाहरण श्री गुप्त जी के काव्य में मिलते हैं।

चतुर्थ अध्याय में गुप्त जी के काव्य में पद पूर्वार्ध वक्रता वर्णित पद पूर्वार्ध वक्रता का पहला भेद है, रूढ़िवैचित्र्यवक्रता। जहाँ लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसा का कथन करने के अभिप्राय से वाच्य अर्थ की रूढ़ि से असम्भव अर्थ का अध्यारोप अथवा उत्तम धर्म के अतिशय का आरोप गर्भित रूप में कहा जाता है, वह कोई अपूर्व सौन्दर्याधायक रूढ़िवैचित्र्यवक्रता कही जाती है। नियतसामान्य बोधकत्व– यह रूढ़ि दो प्रकार की हो सकती है। एक नियतसामान्य बोधकत्व और दूसरी नियतविशेष बोधकत्व। नियतसामान्य बोधकत्व वस्तुत: व्यक्तिवाचकेतर संज्ञाएँ हैं। पर्याय–वक्रता–पदपूर्वार्ध वक्रता का दूसरा भेद है पर्याय वक्रता। समान अर्थ वाले संज्ञा को पर्याय कहते हैं। प्रत्येक भाषा में शब्द के अनेक पर्याय समान अर्थ वाचक शब्द रहते हैं। सामान्य पाठकों की दृष्टि में यह सब अर्थ के ही द्योतक हैं। कोश में भी वे पर्याय समझे जाते हैं। किन्तु कवि की सूक्ष्म दृष्टि में शब्द पर्यायवाची नहीं होते हैं। प्रत्येक शब्द वस्तु के किसी विशिष्ट

रूप या लक्षण का ही प्रतिपादन करता है। विशेषण–वक्रता–विशेषणों का सौन्दर्य श्रेष्ठ कविता की एक बहुत बड़ी विशेषता है। उसका बहुत कुछ सौन्दर्य विशेषणों के प्रयोग पर निर्भर होता है, और इसी कारण विशेषण वक्रता का महत्व अधिक बढ़ जाता है। छोटे से विशेषणसे बहुत बड़े वाक्य में कही जाने योग्य बात भी कही जा सकती है। उचित विशेषण का निर्वाचन सच्चे लेखक की कला की कसौटी है। वाक्य विन्यास में विशेषण के बैठने की अदा का बड़ा ही अमोघ प्रभाव हुआ करता है। विशेषण विपर्यय – विशेषण के क्षेत्र में यह कलात्मक व्यतिक्रम विशेषण–विपर्यय के रूप में उपस्थित हुआ। किसी विशेष से स्वभावतः सम्बन्धित विशेषण को किसी दूसरे विशेष्य के साथ जोड़ना ही विशेषण विपर्यय है। विरोधमूलक विशेषण– इससे कम चमत्कारी विरोधमूलक विशेषणों का प्रयोग नहीं है। वस्तुतः यह आविष्कार नहीं अनुसंधान है। प्रत्यय–वक्रता अपने प्रभाव से प्रस्तुत के औचित्य के अनुरूप सौन्दर्य को करता हुआ पद के बीच में आया हुआ प्रत्यय कुछ अन्य प्रकार के सौन्दर्य को प्रकट करता है। वृत्ति वैचित्र्य वक्रता से अभिप्राय विषय अथवा भाव सौन्दर्य के अनुरूप समास, कृति आदि वृत्ति के प्रयोग का वैचित्र्य है। पर्याय संज्ञा अथवा विशेषण से जिस प्रकार कविता में सौन्दर्य झलक मार जाता है उसी प्रकार क्रिया की वैचित्रता से भी कविता निखर उठती है। यही क्रिया–वैचित्र्यवक्रता है। गुप्त जी के समग्र काव्य में पदपूर्वार्ध वक्रता के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।

पंचम अध्याय–पद–परार्ध–वक्रता एवं गुप्त जी के काव्य, से सम्बन्धित है इसके भी भेद उपभेद हैं– कुन्तक के अनुसार जहाँ औचित्य की अंतरतमता से काल रमणीयता को प्राप्त हो जाता है वह 'कालवैचित्र्यवक्रता' होती है। जहाँ सामान्य कारक का मुख्य रूप से और मुख्य कारक का सामान्य रूप से कथन किया जाता है, वहाँ कारक वक्रता होती है। काव्य में वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए जहाँ कवि जन स्वेच्छया वचन का विपर्यास कर देते हैं, वहीं कुन्तक के मत से वचनवक्रता होती है। पुरुष वक्रता कवियों के ऐसे प्रयोग में दिखाई दिया करती है जिनमें भाव परिपोष के लिए मध्यम और उत्तम

पुरुष के बदले अन्य पुरुष का प्रयोग रहा करता है। कभी–कभी छोटे–छोटे प्रत्ययों का प्रयोग भी बड़े से बड़ा चमत्कार पैदा कर देता है। यह प्रत्यय वक्रता तिङ् आदि प्रत्यय से विहित अन्य प्रत्यय के सौन्दर्य में देखी जा सकती है। वस्तुतः इसमें एक प्रत्यय से किया हुआ दूसरा प्रत्यय किसी अपूर्व सौन्दर्य का परिपोषण करता है। क्षेमेन्द्र का कहना है कि योग्य उपसर्गों का योग होने से निर्बन्ध गुण युक्त सूक्ति रमणीयता में इस प्रकार अधिक बढ़ जाती है, जैसे सन्मार्ग का अवलम्बन करने से सम्पत्ति बढ़ती है। निपात वस्तुतः अब्युत्पन्न पद होते हैं। कुशल कवि रस–निषेक के लिए उनका भी कलात्मक प्रयोग करता है। कुन्तक की तरह क्षेमेन्द्र ने भी निपातों के महत्व को रेखांकित किया है। उनके अनुसार "उचित स्थान पर नियुक्त उपयोगी सचिवों के कारण जिस प्रकार राज्य–लक्ष्मी निश्चल हो जाती है, उसी प्रकार उचित स्थान पर उपयुक्त उपयोगी निपातों के प्रयोग से काव्य की अर्थ–संगति ठीक हो जाती है। गुप्त जी के काव्य में पद परार्ध वक्रता के सम्यक् और सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।

षष्ठ अध्याय – गुप्त जी के काव्य में वस्तु वक्रता वर्णित है– वाक्य वक्रता सामान्यतया वस्तु वक्रता से निःसृत होती है। कुन्तक ने बतलाया है कि पदार्थों का ज्ञान होने पर ही वाक्यार्थ का ज्ञान हो सकता है। अर्थ की वक्रता अथवा वस्तु–वक्रता की परिभाषा देते हुए कुन्तक ने लिखा है– "वस्तु का उत्कर्षशाली स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ या वस्तु की वक्रता कहलाती है। कुन्तक का कहना है कि बहुत से जड़ पदार्थों का भी स्वरूप रस के उद्दीपन विभाव के रूप में कवियों की वर्णना का विषय होती है। जड़ अर्थात् अचेतन जल, वृक्ष, पुष्प और समय इत्यादि का इस प्रकार रस के उद्दीपन सामर्थ्य के प्रदर्शन से मनोरम स्वरूप वर्णनीयता को प्राप्त होता है। गुप्त जी ने अपने काव्यों में प्रकृति के सुन्दर चित्र उकेरे हैं।

सप्तम् अध्याय – प्रकरण वक्रता एवं गुप्त जी के काव्य, से सम्बन्धित है– प्रकरण वक्रता के प्रकारों में भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना रोचक प्रकरणों की अवतारणा मुख्य हैं। गुप्त जी ने नगर, सूर्योदय, चन्द्रोदय, वन विहार

का सुन्दर विवेचन अपने काव्यों में किया है। यहाँ पर मैं भावपूर्ण स्थिति की उद्‌भावना का 'साकेत' से एक उदाहरण देना चाहूँगी–

"आ भाई, वह वैर भूलकर, हम दोनों समदुखी मित्र,
आजा क्षण भर भेंट परस्पर, कर लें अपने नेत्र पवित्र।
हाय! किन्तु इससे पहले ही मूर्छित हुआ निशाचर–राज,
प्रभु भी यह कह गिरे राम से रावण ही सहृदय है आज।"

अष्टम् अध्याय में प्रबन्ध वक्रता और गुप्त जी के काव्यों का विशद विवेचन है। प्रबन्ध वक्रता के भेदों में प्रबन्ध –रस–परिवर्तन वक्रता, समापन वक्रता, कथा–विच्छेद–वक्रता, आनुषंगिक–फल–वक्रता, नामकरण–वक्रता, तुल्यकथा–वक्रता हैं।

कुछ आलोचकों का मानना है कि 'साकेत' का नामकरण व्यंजक और सार्थक नहीं लेकिन मेरी अवधारणा है कि साकेत में वक्रता है साथ ही इसमें नामकरण की सार्थकता भी छिपी है, क्योंकि यह वर्ण्य विषय से सम्बद्ध है, सम्पूर्ण घटनाओं का केन्द्र है, चित्ताकर्षक है, इसमें उत्सुकता बढ़ाने की क्षमता है।

नवम् अध्याय में वक्रोक्ति विधान की दृष्टि से गुप्त जी के काव्यों का वैशिष्ट्य निरूपित है। श्री मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युगीन काव्य साधना की अन्यतम सिद्धि है। वे 'महावीर' के 'प्रसाद' हैं भी। उनके कवि व्यक्तित्व का निर्माण द्विवेदी युग में हुआ, परन्तु वह उस युग का ही होकर नहीं रह गया। उसने अपने समय की गति–विधि जनता की चित्तवृत्ति तथा युग की चेतना को भली–भाँति पहचाना। गुप्त जी के काव्य को द्विवेदी युग की चौहद्‌दी में ही सक्रिय और सीमित नहीं माना जा सकता, उनकी काव्य सीमाएँ अधिक विस्तृत गति अधिक स्वतन्त्र और चिन्तन अधिक व्यापक है। उनकी काव्य कला उत्रोत्तर प्रभाव शालिनी होती गयी। जैसे–जैसे उनकी काव्य कृति प्रौढ़ होती गयी वक्रता का शनैः शनैः आगमन प्रारम्भ हुआ। 'रंग में भंग' से लेकर 'लीला' तक की समस्त रचनाओं में वक्रता का सुष्ठु प्रयोग हुआ है, ये

वक्रताएँ चरम परिणिति को प्राप्त हुई है और इन्हीं वक्रताओं ने कवि की काव्य कला में चार चाँद लगा दिये हैं। इस युग का कोई भी कवि उस धरातल तक नहीं पहुँच पाया जहाँ गुप्त जी स्थापित हैं।

अब आती है आभार प्रदर्शन की बात – डॉ0 महावीर सिंह, रीडर हिन्दी विभाग, अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज इस शोध प्रबन्ध के निर्देशक हैं, अथ से इति तक उनका सम्यक् मार्ग दर्शन मिला है, उनके प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

मेरे मामा डॉ0 वेद प्रकाश द्विवेदी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज हिन्दी के अधिकारी विद्वान हैं, उन्होंने इस शोधकार्य का अक्षराम्भ कराया, उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

तालियों की गड़गड़ाहट उत्साह सम्वर्धक होती है, लक्ष्य तक पहुँचा देती है, श्री गोविन्द शुक्ल, श्रीमती सरोज शुक्ला, श्री प्रत्यूष शुक्ल, श्री सुरेश चन्द्र त्रिपाठी, श्रीमती शकुन्तला त्रिपाठी एवं डॉ0 नरेशचन्द्र त्रिपाठी ने मेरा उत्साह सम्वर्धन किया उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना कहीं औपचारिक न हो जाये, क्योंकि भावनाएँ और धरती तो उन्हीं की हैं इन सभी को नमन।

चिरंजीव वीरेन्द्र वर्मा, कुमारी नीलम सविता ने सारस्वत सहायता की इनके प्रति असीम शुभकामनाएँ एवं हार्दिक आशीर्वाद।

श्री विमल तिवारी एवं सुनीता तिवारी (आकृति टंकण संस्थान) ने जिस अपनत्व लगन के साथ इस शोध प्रबन्ध को टंकित किया उनको साधुवाद।

(श्रीमती पुष्पा शुक्ला)

प्रथम अध्याय

वक्रोक्ति सिद्धान्त – स्वरूप परिचय

वक्रोक्ति सिद्धान्त : स्वरूप, परिचय

ग्यारहवीं शताब्दी का काल भारतीय काव्य शास्त्र के लिए सबसे उर्वरकाल है, इस सदी में अभिनव गुप्त, कुन्तक और भोज की वृहत्त्रयी ने भारतीय काव्य शास्त्र में नये प्रतिमानों की स्थापना की। कुन्तक का आविर्भाव रस–ध्वनि सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा के बाद हुआ। भामह के वक्रोक्ति–विषयक चिन्तन की चरम परिणित कुन्तक में ही हुई। अलंकार सम्प्रदाय की छोटी–छोटी विचार–सारणियों को कुन्तक ने स्थापत्य प्रदान किया। शैनः–शैनः परिक्षीण होती शक्ति को नयी तेजस्विता और गरिमा से भर दिया। अवन्ति सुन्दरी की उक्ति– "विदग्धभंगिभणिति निवेद्यं वस्तुनों रूपं न नियतस्वभावम्"[1] से वक्रोक्ति की परिभाषा का संकेत ग्रहण करके उन्होंने वक्रोक्ति को वैदग्धभंगीभणिति कहा है– "वक्रोक्तिरेव वैदग्ध भंगीभणिति रुच्यते।"[2] कुन्तक काव्य परिभाषा भामह के शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् से ही आरम्भ करते हैं और उसमें अपनी वक्रोक्ति जोड़ देते हैं–

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाह कारिणि।।"[3]

उनके लिए काव्य अलंकृत शब्द और अर्थ के सिवा और कुछ नहीं हैं और इसका एक मात्र अलंकार वक्रोक्ति है– यह वक्रत्व कवि"व्यापार की देन है और वर्ण, पद, पूर्वार्ध, पदपरार्ध, वाक्य प्रकरण और प्रबन्ध इसके छः भेद हैं–

"कवि व्यापार वक्रत्व प्रकाशः सम्भवन्तिषट्
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छति शोभिनः।।
वर्ण विन्यास वक्रत्वं पद पूर्वार्धवक्रता
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः।।

---

1. काव्यभीमांसा – पृ० सं० – 114
2. हि० वक्रो० – 1/10
3. हि० वक्रो० – 1/10

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यत्र सहस्रधा।

यत्रालंकार वर्गोऽसौ सर्वोप्यन्तर्भविष्यति।।

वक्रभाव: प्रकरणे प्रबन्धे यास्ति यादृश:।

उच्यते सहजाहार्य सौकुमार्य मनोहर:।।"[1]

उनके वक्र का तात्पर्य ही शास्त्रयादि में प्रसिद्ध शब्द और अर्थ के उपनिबन्धन से भिन्न शब्दार्थ की योजना है–

"वक्रोयोऽसौ शास्त्रयादि प्रसिद्ध शब्दाथेपिनिबन्धव्यतिरेकि:"[2]

उनकी वक्रोक्ति वस्तुत: काव्यगत अभिव्यंजना को दैनंदिन व्यवहार की भाषा से पृथक् करने का नंदतिक आधार ही है। उनका स्पष्ट अभिमत है कि वक्रोक्ति जो कि भंगीभणिति है विदग्धों की वस्तु है "कीदृशी, वैदऽध्यभंगीभणिति।"[3] अवश्य ही वे विद्वत् से भिन्न विदग्ध में इसके अस्तित्व की ओर इंगित कर रहे हैं। यह विदग्धभंगीभणिति कवि कर्म के आश्रित है। कुन्तक भारतीय काव्यशास्त्र के कुछेक अलंकारिकों में अत्यन्त मुख्य है, जो कवि कर्म पर इतना जोर देते हैं।

<u>अभिनवगुप्त</u> :– ध्वनि सम्प्रदाय की सार्वभौम प्रतिष्ठा की सुष्ठु आधारशिला का निर्माण अभिनवगुप्त की देन है। अपने 'लोचन' में अभिनव ने आनंदवर्धन द्वारा उद्धृत मनोरथ कवि के श्लोक के 'वक्रोक्ति शून्यं च यत्' वाक्यांश पर टिप्पणी करते हुए लिखा है–

वक्रोक्ति उत्कृष्ट संघटना को कहते हैं। उससे शून्य का अर्थ है शब्द और अर्थगुणों से शून्य। वक्रोक्ति शून्य शब्द से सामान्य लक्ष्ण के अभाव से सभी अलंकारों का अभाव कहा गया है, यह कुछ लोग कहते हैं। इस प्रकार अभिनव वक्रोक्ति की सामान्य अलंकारता की पुष्टि करते हैं।

<u>भोज</u> :– वक्रोक्ति के इतिहास में भोज का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है, वे सरस्वती कण्ठाभरण में कहते हैं–

---

1. हि0 वक्रो0 – 1/18–21
2. हि0 वक्रो0 – 1/36
3. वही – पृ0 – 51

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाड्.मयम्।
सवग्रसु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रति जानते।।"[1]

वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वाभावोक्ति वाड्मय है, इनमें रसोक्ति अति मनोग्राहिणी है। इस प्रकार भोज में वक्रोक्ति के तीन अर्थ मिलते हैं। पहला अर्थ तो अलंकार–सामान्य है, जो काव्य की आत्मा ही है, दूसरा औपम्यगर्भ अलंकारों के अर्थ में हैं, तीसरा वाकोवाक्य नामक शब्दालंकार के उपभेदों में से एक अलंकार विशेष है।

कुन्तक, अभिनवगुप्त और भोज का काल वक्रोक्ति का उत्कर्ष किन्तु उसके पश्चात् वक्रोक्ति–सिद्धान्त की महत्ता क्षीण होने लगती है।

वक्रोक्ति : विभावन का विकास क्रम

कुन्तक ने जिस वक्रोक्ति के द्वारा कविता के विश्लेषण का एक सम्पूर्ण शास्त्र ही दिया, उसका इतिहास अति प्राचीन है। काव्य की आत्मा की खोज में ही भारतीय काव्यशास्त्र ने अलंकार रीति, वक्रोक्ति, रस ध्वनि और औचित्य आदि सम्प्रदायों को जन्म दिया, किन्तु जितना उत्थान और पतन इस वक्रोक्ति सम्प्रदाय को देखना पड़ा उतना किसी और को नहीं। रस और ध्वनि सम्प्रदाय की यात्रा राजपथ की यात्रा है, किन्तु वक्रोक्ति सिद्धान्त को बन्धुर–पथ से होकर बार–बार चलना पड़ा। वक्रोक्ति की विकास यात्रा पर यदि दृष्टि डालें तो एक लम्बी परम्परा उपलब्ध होती है, इसी विषय यात्रा का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत है–

सुबन्धु और अमरु :– वक्रोक्ति के व्यवस्थित विवेचन का आरम्भ भामह से होता है, किन्तु उसके बीज सुबन्धु और बाण में ही मिलते हैं। "वासवदत्ता" में सुबन्धु ने अस्पष्ट रूप से वक्रोक्ति का **प्रयोग** किया है। अमरू ने वक्रोक्ति का प्रयोग क्रीडालाप परिहास के अर्थ में किया है –

---

1. अमरुशतकम्, पृ0 सं0 29

"सा पत्युः प्रथमापराध समये सख्योपदेशं बिना।
नो जानाति सविभ्रमांग वलनावक्रोक्ति संसूचनम्।।"[1]

बाण :– बाण ने भी श्लेष, प्रहेलिका आदि का प्रयोग करते हुए शब्द क्रीड़ा का रस लिया है, बाण की वक्रोक्ति इतिवृत्त वर्णन से भिन्न काव्य की चमत्कार पूर्ण शैली तथा वचन–विदग्धता की ही पर्याय है। जिसका इन्होंने इस प्रकार विश्लेषण किया है –

"नवोऽर्थो जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षर बन्धश्चि कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।।"[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि बाण का वक्रोक्ति मार्ग शब्द और अर्थ दोनों के चमत्कार से सम्पन्न है, उसमें आक्लिष्ट श्लेष और नवीन अर्थ दोनों का चमत्कार है।

भामह :– काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में वक्रोक्ति का प्रथम व्यवस्थित विवेचन भामह के "काव्यालंकार" में मिलता है। भामह ने वक्रोक्ति में शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता का समावेश माना है –

न नितान्ता दिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेय शब्दोवित्तरिष्टा वाचामलंकृति।।"[3]

उनके अनुसार नितान्त आदि शब्दों के प्रयोग से वाणी में सौन्दर्य नहीं आता। शब्द और अर्थ में वक्रता होनी चाहिए, जो वाणी का अलंकार है। भामह का मानना है कि इन उपादानों से तो आभूषण, उपवन और मालाएं अलंकृत होती है, वाणी को अलंकृत करने का सामर्थ्य तो शब्द और अर्थ की की वक्रता में है –

"तदेभिरंगैर्भूष्यन्ते भूषणोपवन स्रजः।
वाचा वक्रार्थ शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।।"[4]

---

1. अमरुशतकम् – पृ0 सं0 – 29
2. हर्ष चरित – 1/8
3. काव्यालंकार – 1/36
4. काव्यालंकार – 5/66

भामह ने बतलाया है कि दैनिक व्यवहार में आने वाले और काव्य में उपयोज्य होने वाले शब्दों में अन्तर है। उन्होंने काव्य में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के साधुत्व – असाधुत्व पर विचार किया। भामह ने माना है कि सभी अलंकारों की जड़ में अतिशयोक्ति वर्तमान रहती है, उसी से वाणी में चमत्कार आता है।

<u>दण्डी :–</u> दण्डी का मानना है कि श्लेष प्रायः वक्रोक्तियों – उक्ति वैचित्र्य कृत अलंकारों में शोभादायक रहा ही करता है, इन दोनों शैलियों में यथार्थ स्वरूप वर्णन वाली शैली स्वाभावोक्ति से युक्त रह सकती है और दूसरी शैली चमत्कृत वर्णन–उक्ति वैचित्र्य वक्रोक्ति से चमत्कृत हो सकती है।

<u>आचार्य वामन :–</u> अलंकार–विशेष के रूप में वक्रोक्ति की प्रथम स्थापना आचार्य वामन में हुई, किन्तु वामन, रुद्रट से इस अर्थ में भिन्न हैं कि उन्होंने रुद्रट की तरह इसे शब्दालंकार न मान कर अर्थालंकार माना है। वामन, इसे सादृश्यमूलक अर्थालंकार उपमा के समान ही उपस्थित करते हैं। डॉ0 नगेन्द्र का विचार है कि "सामान्य अर्थ में भी वक्रोक्ति की वामन ने सर्वथा उपेक्षा की है, यह नहीं कहा जा सकता। वामन के शब्दों में विशेष का अर्थ है गुणात्मा और उनके अनेक शब्द तथा अर्थ–गुणों में वक्रोक्ति के अनेक रूपों का स्पष्ट अन्तर्भाव है। उदाहरण के लिए वामन के ओज, श्लेष, उदारता कान्ति आदि अनेक शब्द –गुणों में कुन्तक की वर्ण–विन्यास वक्रता का अन्तर्भाव है। xxx कहने का तात्पर्य यह है कि वामन ने अपने ढंग से वक्रता के अनेक रूपों का वर्णन किया है।"[1]

<u>आचार्य रुद्रट :–</u> रुद्रट प्रथम आचार्य हैं जिनमें वक्रोक्ति अलंकार सामान्य का पर्याय न रहकर संकीर्ण रूप ग्रहण करती है। रुद्रट ने वक्रोक्ति को न केवल अलंकार–विशेष के ही अर्थ में ग्रहण किया, प्रत्युत उन्होंनें उसे मात्र

---

1. भा0 का0 भू0 – पृ0 188–89

शब्दालंकार माना। रुद्रट से ही वक्रोक्ति अलंकार के दो प्रमुख भेदों का प्रारम्भ होता है – श्लेष वक्रोक्ति – काकु वक्रोक्ति।

<u>आनंदवर्धन :-</u> वक्रोक्ति का उल्लेख आनंदवर्धन, "ध्वन्यालोक" के द्वितीय उद्योत की 21वीं कारिका की वृत्ति के अन्तर्गत करते हैं – "वह आक्षिप्त अलंकार जहाँ पर दूसरे शब्द के द्वारा अभिहित कर दिया जावे वहाँ पर शब्दशक्तियुद्भव अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। वहाँ पर वक्रोक्ति आदि वाच्यालंकार का ही व्यवहार होता है।"[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि आनंदवर्धन ने इसे विशेष अलंकार के रूप में ग्रहण किया है, वे वक्रोक्ति को वाच्य और ध्वनि को व्यंग्य मानते हैं।

<u>राजशेखर :-</u> राजशेखर ने काव्य–मीमांसा के नवम् अध्याय के अर्थ व्याप्ति प्रकरण में अपनी विदुषी पत्नी अवन्ति सुन्दरी के इस मत को उद्धृत किया है – "विदग्धभणितिभंगि निवेद्यं वस्त्तुनो रूपं न नियतस्वभावम्।"[2] तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु का स्वरूप नियत नहीं है प्रत्येक वस्तु अनियत स्वभाव वाली है। राजशेखर ने काव्य मीमांसा के सप्तम अध्याय में काकु पर विचार किया। साथ ही औक्तिक शब्द पर विचार किया है – औक्तिक शब्द उक्ति से निष्पन्न है। वक्रोक्ति में भी वक्र उक्ति (सुन्दर उक्ति) की ही तो प्रधानता है, अतः वक्रोक्ति, औक्तिक भी कही जा सकती है।

<u>अग्निपुराण :-</u> अग्निपुराण निश्चय ही राजशेखर के बाद की रचना है। इसके 337 – 347 अध्यायों में काव्यशास्त्र के अंगो पर विचार किया गया है। "अग्नि पुराण के रचयिता ने वाकोवाक्य के दो भेद बतलाए हैं – ऋजु और वक्रोक्ति। स्वाभाविक वचन को ऋजु वाकोवाक्य कहते हैं। वक्रोक्ति के भी दो भेद होते हैं – प्रथम भंगिमा के द्वारा और द्वितीय काकु के द्वारा।"[3]

---

1. ध्वन्यालोक – आचार्य विश्वेश्वर पृ0 सं0 – 169
2. काव्य मीमांसा – पृ0 सं0 – 114
3. अग्निपुराण का काव्य शास्त्रीय भाग (रामलाल शास्त्री) पृ0 सं0 – 60–61

महिम भट्ट :- "प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्यसिद्धये।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता।।"[1]

जहाँ वह अर्थ-विचित्रता की सिद्ध के लिए प्रचलित ढंग को छोड़कर और ही किस ढंग से कहा जाता है - वह ढंग ही वक्रोक्ति कही जाती है। महिम भट्ट मानते हैं कि यह अर्थ पद, वाक्य आदि कई माध्यमों से प्रतीत होने के कारण कई प्रकार का है, इसलिए उसकी वक्रता भी उसके जानकार की दृष्टि से कई प्रकार की मान्य होती है।

मम्मट :- मम्मट ने वक्रोक्ति को पारिभाषित करते हुए लिखा है -
"श्लेषेण काक्वा वा रोया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।
तथेति श्लेष वक्रोक्तिः काकु वक्रोक्तिश्च।"[2]

अन्य प्रकार से कहा हुआ वाक्य दूसरे के द्वारा श्लेष और काकु से, अन्य प्रकार से लगा लिया जाता है, वह वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार होता है। वह श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति दो तरह का होता है।

रुय्यक :- रुय्यक वक्रोक्ति के सामान्य और विशेष दोनों रूपों का उल्लेख करते हैं। अलंकार सर्वस्व के प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा है कि वामन ने तो सादृश्य निबंधना लक्षणा को वक्रोक्ति अलंकार कहते हुए अलंकार रूप में कोई ध्वनि भेद ही कह डाला है। अलंकार विशेष के रूप में वक्रोक्ति की चर्चा करते हुए रुय्यक ने लिखा है - अन्य अर्थ में प्रयुक्त उक्ति की श्लेष अथवा काकु द्वारा अन्य अर्थ में योजना वक्रोक्ति कहलाती है।

वाग्भट, हेमचन्द्र, जयदेव :- वाग्भट प्रथम ने चार शब्दालंकार माना है - चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक। वाग्भट ने काकु वक्रोक्ति का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने संवाद रूप में केवल सभंग और अभंग श्लेष वक्रोक्ति का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने राजशेखर का अनुसरण करते हुए,

---

1. हिन्दी व्यक्ति विवेक - 1/69
2. काव्य प्रकाश - 9/78

काकु को वक्रोक्ति मानने से इंकार कर दिया है और आनंदवर्धन की तरह उसे गुणीभूत व्यंग्य में अन्तर्भुक्त कर दिया है, काकु को वे केवल पाठ धर्म मानते हैं। हेमचन्द्र ने मम्मट की तरह सभंग और अभंग श्लेष वक्रोक्ति का उल्लेख किया है। जयदेव ने "चन्द्रालोक" में श्लेष अथवा काकु के द्वारा वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है।

<u>विश्वनाथ :–</u> मम्मट का अनुसरण करते हुए विश्वनाथ ने इसे शब्दालंकार ही माना है। साहित्य दर्पण के प्रथम अनुच्छेद में ही उन्होंने वक्रोक्ति का उल्लेख मम्मट की परिभाषा के खण्डन के क्रम में किया है। उनका कहना है कि जब यह सिद्ध है कि अलंकृत शब्द और अर्थ काव्य नहीं है तब वक्रोक्ति जीवितकार का यह कथन कि वक्रोक्ति अथवा भंगीभणति काव्य का जीवन है – "स्वयं ही असिद्ध हो गया। भला वक्रोक्ति जो एक अलंकार है, काव्य का आत्म तत्त्व क्योंकर होने लगे। काकु और श्लेष के संवाद रूप में विश्वनाथ ने जिस प्रकार वक्रोक्ति का विवेचन और कुन्तक के मत का त्वरित खण्डन किया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तक के ग्रन्थ को उन्होंने देखा ही नहीं।

<u>केशव मिश्र और अप्पय दीक्षित :–</u> केशव मिश्र ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना है और इसी को उन्होंने वाकोवाक्य भी कहा है। अवश्य ही उन्होंने यह वाकोवाक्य भोज से ग्रहण किया है किन्तु अन्तर यह है कि वक्रोक्ति को उन्होंने भोज की तरह वाकोवाक्य का एक उपभेद न मानकर उसका पर्याय ही माना है।

अप्पय दीक्षित ने रुय्यक का अनुसरण करते हुए वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है – दीक्षित ने वक्रोक्ति के तीन भेद माने हैं – शब्द श्लेषमूला, अर्थश्लेषमूला तथा काकुमूला।

हिन्दी–समीक्षा का प्रारम्भ रीतिकाल से होता है, रीतिकाल के आचार्यों का प्रेरणा स्रोत संस्कृत का परवर्ती अलंकार शास्त्र रहा है। संस्कृत काव्य शास्त्र रहा है। संस्कृत काव्य शास्त्र के ह्रास–युग को अपना आधार बनाने के

रीतिकाल में हिन्दी–समीक्षा का अपना कोई स्वरूप खड़ा नहीं हो सका। संस्कृत काव्य शास्त्र के परवर्ती काल में ही कुन्तक का वक्रोक्ति सम्बन्धी विभावन पूरी तरह तिरस्कृत हो गया था और उसके स्थान पर रुद्रट के शब्दालंकार के रूप में वक्रोक्ति की जो उद्भावना थी, वही मान्य रही। रीतिकालिक आचार्यों ने वक्रोक्ति को इसी संकीर्ण अर्थ में ग्रहण किया।

रीतिकाल की इस रुढ़ि के अपवाद केशवदास हैं।
केशव के अलंकार–निरुपण पर दण्डी का प्रभाव है। अलंकार विशेष के रूप में केशव ने वक्रोक्ति को उक्ति अलंकार के पाँच भेदों में एक माना है।

"केशव सूधी बात में बरणत टेढ़ो भाव।
वक्रोक्ति तासों कहत, सदा सबै कविराय।।"[1]

शब्द सीधे–सादे हों पर तात्पर्य में गूढ़ व्यंग्य हो, तो वक्रोक्ति होती है, अतएव केशव की वक्रोक्ति उक्ति चमत्कार मात्र नहीं, बल्कि भाव प्रेरित वक्रता है।

वक्रोक्ति शब्दालंकार के रूप में – केशव तो रीतिकाल में वक्रोक्ति प्रसंग के सुखद अपवाद हैं। चिन्तामणि त्रिपाठी वक्रोक्ति को शब्दालंकार मानते हैं एवं श्लेष और काकु से उसके दो भेद बतलाए हैं –

"और भाँति को वचन जो और लगावे कोइ।
कै श्लेष कै काकु सो वक्रोक्ति है सोइ।।"[2]

कुलपति मिश्र, ने भी इसे श्लेष और काकु से शब्दालंकार ही माना है –

---

1. प्रिया प्रकाश – 12/3
2. कवि कुल कल्प तरु (पं0 महेश दत्त – सम्पादित) पृ0 सं0 – 16

"कहै बात औरै कछू, अर्थ करै कछु और।

वक्र उक्ति ताको कहैं, श्लेष काकु द्वै ठौर।।"[1]

रसिक, सुमति, रसरूप, सोमनाथ, भिखारी दास, रत्नेश, रसिक गोविन्द ने भी वक्रोक्ति को शब्दालंकार मान कर ही विवेचन किया है। रुद्रट की पद्धति का अनुसरण करने वाले इन आचार्यों ने श्लेष वक्रोक्ति का सभंग और अभंग जैसा भेद भी नहीं किया।

<u>वक्रोक्ति अर्थालंकार के रूप में :-</u> जसवन्त सिंह, मतिराम भूषण, देव, कुमार मणि भट्ट, दूलह, रूप साहि, पद्माकर, गिरिधर दास ने इसे अर्थालंकार ही माना है –

1. बक्र उक्ति स्वर श्लेष सों अर्थ फेर जौ होई।"[2]

2. श्लेष काकु सों अर्थ की, रचना और जु होय।
   बक्र उक्ति सो जानिए, ज्ञान सलिल मति धोय।"[3]

3. जहाँ श्लेष सों काकु सों अरथ लगावै और।
   बक्र उकुति ताकों कहत, भूषन कवि सिर मौर।।"[4]

इन कवियों ने रुय्यक के अनुसरण पर वक्रोक्ति को अर्थालंकार ही माना है।

वक्रोक्ति विषयक व्यापक उद्भावना का संकेत केवल केशव में मिलता है, शेष कवियों ने केवल कंठ ध्वनि विकार को पकड़ा, परोक्ति को छोड़ दिया।

<u>आधुनिक युग :-</u> यों तो रीति का अन्त सम्वत् 1900 से माना जाता है, किन्तु उसकी परम्परा बहुत बाद तक चलती रही। लछिराम, मुरारिदीन, मिश्र बन्धु आदि ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार ही माना है और श्लेष तथा काकु से उसके

---

2. भाषा भूषण – पृ0 सं0 – 145
3. मतिराम ग्रन्थावली – पृ0 सं0 – 163
4. भूषण ग्रन्थावली – पृ0 सं0 – 97
1. रस रहस्य, पृ0 सं0 – 72

दो भेद किए हैं। अर्जुनदास केडिया, लाला भगवान दीन, बिहारी लाल भट्ट और कन्हैया लाल पोद्दार ने शब्द वक्रोक्ति और अर्थ वक्रोक्ति का अलग–अलग उल्लेख किया है। लछिराम के **"रामचन्द्र भूषण"**, "रावणेश्वर कल्पतरु" दो ग्रन्थ हैं, उन्होंने काकु वक्रोक्ति का उल्लेख नहीं किया है –

अर्थ फेरि अश्लेष करि बरनै जबहिं सुरीति।
वक्र उक्ति भूषन वहाँ भाषत कवि करि प्रीति।।"[1]

लाला भगवानदीन का विचार है कि, "शब्द वक्रोक्ति तो उस समय सब लोग स्वीकार करते थे परन्तु अर्थ वक्रोक्ति, अर्थ श्लेष पर आश्रित है।" लाला ने शब्द मूला वक्रोक्ति से अर्थ वक्रोक्ति के पार्थक्य की मीमांसा भी की है। डॉ0 रमा शंकर शुक्ल का विचार है कि, "इस अलंकार का बहुत बड़ा प्रधान्य माना गया है, क्योंकि इसमें कवि की उस प्रतिभा का चमत्कार दिखाई पड़ता है जिसके द्वारा वाक्य रचना में चातुरी के साथ सौन्दर्य एवं माधुर्य आ जाता है तथा उसमें वैचित्र्य के मनोरंजक कौतुक एवं कुतूहल का प्रकाश होता है। यह सब प्रकार के भावों एवं विचारों को भाषा में विचित्र ढंग के साथ अनुवादित करने की कला–कुशलता पर ही समाधारित है।"[2]

<u>द्विवेदी युग</u> :– आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लाइन क्लियर सी सपाट शैली को आविष्कृत और व्यवहृत किया लेकिन सैद्धान्तिक चिन्तन के धरातल पर वे चमत्कार के पक्षधर हैं, उनका विचार है कि, "शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार का होना परम आवश्यक है, यदि कविता में चमत्कार नहीं, कोई विलक्षणता नहीं, तो उससे आनंद की प्राप्ति नहीं हो सकती।"[3] द्विवेदी जी काव्यानंद का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः चमत्कार से जोड़ देते हैं। उनका विचार है कि, "जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों के द्वारा इस तरह से प्रकट की जाये कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर

---

1. रावणेश्वर कल्पतरु – पृ0 सं0 – 270
2. अलंकार पीयूष , पृ0 सं0 – 65
3. रसज्ञ – रंजन, पृ0 सं0 – 39

पड़े उसी का नाम कविता है – यही साधारणत्व का त्याग और असाधारण की आकांक्षा कुन्तक ही वक्रोक्ति है। जो कवि शब्द–चयन, वाक्य विन्यास और वाक्य समुदाय के आकार–प्रकार की काँट–छाँट में भी कौशल नहीं दिखा पाते, उनकी रचना विस्मृति के अंधकार में अवश्य विलीन हो जाती है। ये शब्द चयन, वाक्य विन्यास एवं वाक्य समुदाय कुन्तक की पद वक्रता और वाक्य वक्रता से मेल खाते हैं, यह बात अलग है कि द्विवेदी जी ने कुन्तक के ग्रन्थ को देखा तक नहीं।

पं0 पद्मसिंह का वक्रोक्ति प्रेम दो रूपों में व्यक्त हुआ है, एक तो द्विवेदी युग की सादगी और स्वाभावोक्ति के प्रत्याख्यान में और दूसरा वक्रोक्ति के प्रत्यक्ष समर्थन में। शर्मा जी का विचार है कि, "आजकल सम्भ्रान्त शिक्षित समाज कोरी स्वाभावोक्ति पर फिदा है, अन्य अलंकारों की सत्ता उसकी परिष्कृत रुचि की आँख में काँटा सी खटकती है और विशेषकर अतिशयोक्ति से तो उसे चिढ़ सी है। प्राचीन साहित्य–विधाताओं के मत में जो चीज कविता कामिनी के लिए उपादेय थी, वही इसके मत में सर्वथा हेय है। यह भी एक रुचि वैचित्र्य का दौरात्म्य है।"[1] आगे उनका विचार है कि सब जगह सादगी ही आदर नहीं पाती कविता की तरह और भी कुछ चीजें ऐसी हैं, जहाँ वक्रता ही कदर और कीमत पाती है। उपमा, उत्प्रेक्षा, पर्याय और निदर्शना आदि अतिशयोक्ति से अनुप्राणित होकर ही जीवन लाभ करते हैं – अतिशयोक्ति ही उन्हें जिला कर चमकाती है – यह न हो तो वे कुछ भी नहीं, बिना नमक का भोजन, तार रहित सितार और लावण्यहीन रूप। इसी जगह भामह की प्रसिद्ध कारिका "सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः" को उद्धृत करते हुए उन्होंने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति के अभिन्नत्व को का प्रतिपादन किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – वक्रोक्ति जो चिन्तामणि त्रिपाठी से सेठ कन्हैयालाला

---

1. बिहारी सतसई – पृ0 सं0 217

पोद्दार के समय तक अलंकार के रूप जाना समझा जाता था, आचार्य शुक्ल ने उसकी नयी मीमांसा प्रस्तुत की, "वचन की जो वक्रता भाव-प्रेरित होती है, वही काव्य होती है। "वक्रोक्ति काव्य जीवितम्" से यही वक्रता अभिप्रेरित है, वक्रोक्ति अलंकार है xxx भावोद्रेक से उक्ति में एक प्रकार का बांकपन आ जाता है, तात्पर्य कथन के सीधे मार्ग को छोड़कर वचन जो एक भिन्न प्रणाली ग्रहण करते हैं, उसी की रमणीयता काव्य की रमणीयता के भीतर आ सकती है। भाव-प्रसूत वचन या रचना में ही भाव या भावना तीव्र करने की क्षमता पायी जाती है।"[1]

भावोद्रेक से ही वचन में वक्रता आती है। कुन्तक की वक्रता के विशद परिपेक्ष्य का इन्हें स्पष्ट अभिज्ञान है, वे कहते हैं कि, "कुन्तक वक्रता बहुत व्यापक है, जिसके अन्तर्गत वे वाक्य वैचित्र्य की वक्रता और वस्तु वैचित्र्य की वक्रता दोनों को लेते हैं। हिन्दी के प्रथम समीक्षक के रूप में वह काव्य मूल्यों के निर्धारण और रुचि-परिमार्जन के लिए प्रबल संघर्ष कर रहे थे। यह संघर्ष उन्हें विरासत में प्राप्त हुआ - कारण रीतिकाल में टुच्चा चमत्कारवाद और दूसरा द्विवेदी युग की सपाट बयानी। मध्यकाल की कविता राजाओं के केलि का विषय थी, उक्ति वैचित्र्य ने नया रूप ग्रहण कर लिया था, महफिल मिजाज ने कला-प्रेम नहीं बल्कि कला बाजी को जन्म दिया। काव्य पर शब्दालंकार आदि का इतना बोझ लादा गया कि उस का सारा रूप ही छिप गया। बात यह हुई कि इन विविध कलाओं के जितने अभ्यासगम्य और श्रमसाध्य अंग थे वह तो हद से बाहर घसीटे गये और जितने सहृदयता से सम्बन्ध रखने वाले थे, उन पर ध्यान ही नहीं रहा। आचार्य शुक्ल जिस चमत्कार का विरोध करते हैं, उसके रूप को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है - "चमत्कार से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है, जिसके अन्तर्गत वर्ण विन्यास की विशेषता (जैसे अनुप्रास में)

---

1. भ्रमर गीत सार (भूमिका का भाग) पृ0 सं0 71

शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में) वाक्य की वक्रता या वचन भंगी (जैसे काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना (जैसे – उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में इत्यादि बातें आती हैं।"[1]

आचार्य शुक्ल मानते हैं कि जो उक्ति, हृदय में कोई भाव, जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे वह तो है काव्य। उक्ति के अन्तर्गत मार्मिकता की अन्तर्धारा रहनी चाहिए। शुक्ल ने कुन्तक का विरोध या खण्डन नहीं किया है, उन्होंने तो केवल कुन्तक की वक्रोक्ति की उचित सीमाओं का निर्देश कर उसके वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा की है।

छायावाद युग

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जिस भाव प्रेरित वक्रता की अनुशंसा इतने प्रबल ढंग से कर रहे थे, उसका व्यावहारिक निर्देशन छायावादी कविता में हो रहा था। छायावाद के कवि द्विवेदी युग के अवक्र काव्य के प्रतिलोमस्वरूप वक्र कविता का अत्यन्त रमणीय उदाहरण प्रस्तुत कर रहे थे। इसी काव्य के समानांतर उसकी स्वीकृति के लिए वे समीक्षा के जिन प्रतिमानों को गढ़ रहे थे, वे प्रतिमान वक्रता के हैं।

जयशंकर प्रसाद ने छायावाद के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की मीमांसा के क्रम में शब्दखण्ड "छाया" की व्याख्या में कुन्तक का स्मरण किया है। वे "छाया" को लावण्यवाचक लक्षक शब्द बतलाते हैं। शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कांति की सर्जना करती है, इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवियों का ही काम है। वैदग्ध भंगीभणिति

---

1. चिन्तामणि भाग–1, पृ0 सं0 230

में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप में अवस्थित होती है। स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उत्तर अलंकार काल में वक्रोक्ति शब्दालंकार या अर्थालंकार मात्र रह गयी थी, काकु-श्लेष में सिमट कर रह गयी थी, छायावाद में अभिव्यंजना की समृद्धि आन्दोलन के रूप में परिलक्षित हुई। काव्य की इस आन्तर यात्रा की शक्ति से ही उसका बाहरी रंग-रूप निर्मित होता है। यही सच्ची वक्रोक्ति है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – इन्होंने वक्रोक्ति पर प्रत्यक्ष विचार नहीं किया है, लेकिन काव्यकला की मीमांसा जगह-जगह की है, उसमें उसके प्रकार और स्वरूप का उद्घाटन अवश्य होता है। कुन्तक की एक स्थापना यह भी है कि कविता में शब्द पूरी तरह प्रतिपन्न होता है, अनेक पर्यायवाची शब्दों में से कवि कोई एक ही विवक्षित शब्द उठाता है, निराला इसी बात को यों कहते हैं – "एक ही शब्द के पयार्यवाची अनेक शब्द होते हैं। उनमें किस शब्द का प्रयोग उचित होगा, किस शब्द से कविता में भाव-व्यंजना अधिक होगी, इसका ज्ञान भी कवियों को रखना पड़ता है।"[1]

हालाँकि सुमित्रानन्दन पंत ने प्रसाद की तरह कुन्तक का प्रत्यक्ष उल्लेख कहीं नहीं किया है किन्तु वक्रत्व के सच्चे और व्यापक स्वरूप की सबसे अधिक प्रतिष्ठा उन्हीं की समीक्षाओं के द्वारा हुई। द्विवेदी युग की सपाट बयानी की प्रतिक्रिया में उन्होंने समीक्षा के धरातल पर छायावाद की वक्रता की मीमांसा काव्य कला के व्यापक स्वरूप के सन्दर्भ में की। पंत जी के काव्य सिद्धान्त विचित्र रूप से कुन्तक से समता रखते हैं। कुन्तक विवक्षित अर्थ के वाचक एक ही शब्द को वक्र शब्द माना है। पंत जी से अधिक शब्दों के आभ्यंतरिक व्यक्तित्व को आधुनिक युग के किसी भी अन्य कवि ने नहीं समझा। उनके अनुसार, "प्रत्येक शब्द एक संकेत मात्र, इस विश्वव्यापी संगीत की अस्फुट झंकार मात्र है। जिस प्रकार समग्र

---

1. रवीन्द्र कविता, कानन पृ0 सं0 – 118

पदार्थ एक दूसरे पर अवलम्बित है, ऋणानुबन्ध है, उसी प्रकार शब्द भी, ये सब एक विराट् परिवार के प्राणी हैं। इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति अनुराग, विराग जान लेना xxx एक–दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते इनकी पारस्परिक प्रीति मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है।"[1]

पंत जी के अभिव्यंजना–सिद्धान्त की एक विशेषता यह भी है कि वह भावयोग से पूर्णतः संपृक्त है। भारतीय काव्य शास्त्र की भाषा में कहा जायेगा कि उन्होंने रसवाद और वक्रोक्ति सिद्धान्त की श्रेष्ठ उपलब्धियों को आत्मसात कर लिया है। भाव और भाषा के सामञ्जस्य की सुखद परिणति इसी का परिणाम है। पंत एक मात्र ऐसे कवि समीक्षक हैं जिन्होंने लिंगवक्रता, पयार्य वक्रता और परस्पर स्पर्धित्व समभाव आदि पर सूक्ष्म विचार किया, इस प्रकार उन्होंने वक्रत्व के सच्चे समग्र स्वरूप की प्रतिष्ठा की है।

छायावाद की श्रेष्ठ कवयित्री महादेवी वर्मा ने कला तत्त्व की पूरी उपेक्षा कर विचार तत्त्व का विश्लेषण किया, अतः अभिव्यंजना सौष्ठव पर उन्होंने नहीं के बराबर विचार किया। गद्य और काव्य की शब्द योजना के पार्थक्य पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है, "गद्य में विशेष शब्द संयोजन की अपेक्षा नहीं रहती, अतः अनावश्यक शब्द भी अनाहूत तमाशबीनों के समान स्थान घेर लेते हैं जिससे उसके अर्थ, प्रवाह में अवरोध उत्पन्न हो सकता है।"[2] ठीक इसके विपरीत कवि काव्य में अनेक शब्दों में से एक ही विवक्षित शब्द का चयन करता है।

श्रीमती वर्मा के अनुसार, "भाषा सम्बन्धी मुक्ति किसी साहित्यकार के कर्त्तव्य को सरल नहीं बनाती, क्योंकि अपने सृजन में विशेषता लाने के

---

1. पल्लव, पृ0 सं0 – 28
2. सन्धिनी, पृ0 सं0 – 21

लिए उसे शब्द–समुद्र में बार–बार डूब कर ऐसे महार्घ शब्द चुनने पड़ते हैं, जिससे उसके सृजन को अन्य सृजनों से भिन्न व्यक्तित्व भी प्राप्त हो सके और उसका कथ्य अपनी सम्पूर्ण मर्मस्पर्शिता के साथ सम्प्रेषणीय बन सके।"[1]

अवश्य ही यह कुन्तक का ही वक्र शब्द है। छायावाद–काल में वक्रोक्ति के सच्चे स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई – रचना और आलोचना दोनों में। परवर्ती समीक्षा में चिन्तन की इस दिशा का स्वीकार और विस्तार होता रहा है। आचार्य समीक्षक और कवि समीक्षक के आधार वक्रोक्ति सिद्धान्त के विस्तार की चर्चा प्रस्तुत है। आचार्य समीक्षकों में हजारी प्रसाद द्विवेदी, गुलाबराय, लक्ष्मीनारायण सिंह, बलदेव उपाध्याय, नगेन्द्र, नन्द दुलारे बाजपेयी, शिवदान सिंह चौहान एवं भगीरथ मिश्र। कवि–समीक्षकों में श्री केदारनाथ सिंह "प्रभात", रामधारी सिंह "दिनकर", अज्ञेय एवं जानकी वल्लभशास्त्री।

श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु का विचार है कि, "वक्रोक्तिवाद की प्रकृति अलंकार की ओर विशेष तत्पर दिखायी देती है, लेकिन अभिव्यंजनावाद का बाह्य रूप से अलंकार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अलंकार, अनुगामी होकर अभिव्यंजनावाद के पीछे चल सकता है, वक्रोक्ति के साथ की भाँति सहगामी होकर नहीं।"[2]

डॉ0 गुलाबराय के अनुसार, "वक्रोक्ति शब्द दो अर्थों में व्यवहृत होता है, एक अलंकार–विशेष के रूप में और दूसरा उक्ति की वक्रता वा असाधारणता के रूप में। वक्रता का अर्थ एक प्रकार का सौन्दर्य है।"[3]

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है कि, "कुन्तक या कुंतल

---

1. सन्धिनी, पृ0 सं0 – 16
2. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ0 सं0 – 48
3. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ0 सं0 232

नाम के एक आचार्य सम्भवतः नवीं या दसवीं शताब्दी में हुए। उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर वक्रोक्ति शब्द की ऐसी व्यापक व्याख्या की जिससे वह शब्द काव्य का वास्तविक स्वरूप समझाने में बहुत दूर तक सफल हो गया। xxx काव्य में शब्द और अर्थ के साहित्य में एक विशिष्टता होनी चाहिए। जब कवि प्रतिभा के बल पर एक दूसरे शब्द से मिलकर जिस प्रकार स्वर और ध्वनि–लहरी के आतान–वितान से रमणीय माधुर्य का सृजन करेंगे, उसी प्रकार दूसरी ओर तद्‌गर्भित अर्थ भी उसके साथ तुल्ययोगिता करके परस्पर को नवीन चमत्कार से चमत्कृत करेंगे। इस प्रकार ध्वनि के साथ ध्वनि के मिलने से और अर्थ के मिलने से जो दो परस्पर स्पर्द्धा करने वाली चारुताँए उत्पन्न होंगी, उनका पारस्परिक सामंजस्य ही यहाँ साहित्य शब्द का अर्थ है।"[1]

वक्रोक्ति–सिद्धान्त का प्रथम विशद प्रमाणित एवं सन्तोषप्रद विवेचन डॉ0 बल देव उपाध्याय ने प्रस्तुत किया। "भारतीय साहित्यशास्त्र" के द्वितीय भाग में कुन्तक के आधार पर इस सिद्धान्त की प्रामाणिक समीक्षा उपस्थित की।" इसके रूपानुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वक्रोक्ति काव्य का नितान्त व्यापक रुचिर तथा सुगूढ़ तत्त्व है जिसके अस्तित्व के ऊपर कविता में चमत्कृति का संचार होता है। बालरुचि वाले कवियों को पसन्द आने वाले चमत्कार के वे पक्षपाती नहीं है, प्रत्युत वे रस को काव्य का मुख्य अर्थ मानने वाले आचार्य हैं।"[2]

डॉ0 नगेन्द्र का विचार है कि, "भारतीय काव्यशास्त्र में कुन्तक मूलतः देहवादी आचार्य हैं – अतएव उनका संसर्ग भामह, दण्डी, वामन आदि अलंकार–रीतिवादियों के साथ स्वभाव से ही अधिक घनिष्ठ है।"[3]

---

1. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ0 सं0 – 147
2. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ0 सं0 – 479
3. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, पृ0 सं0 – 201

इस तरह नगेन्द्र मूलतः वक्रोक्ति सिद्धान्त को अलंकारवाद का प्ररोह मानते हैं।

1. काव्य में वस्तु तत्त्व और माध्यम का अनुभूति और अभिव्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य रहता है।

2. काव्य–वस्तु–तत्त्व साधारण न होकर विशिष्ट होता है अर्थात् उसमें ऐसे तथ्यों का वर्णन नहीं होता है, जो अपनी सामान्यता में प्रभावहीन हो गये हैं, वरन् उन अनुभवों की अभिव्यक्ति होती है, जो रमणीय अर्थात् प्रभावोत्पादक होते हैं।

3. काव्य में अभिव्यंजना की अद्वितीयता रहती है – अर्थात् किसी विशेष अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए एक ही शब्द अथवा शब्दावली का प्रयोग संभव होता है।

4. अलंकार काव्य का मूल तत्त्व है, बाह्य भूषण मात्र नहीं अतएव अलंकार और अलंकार्य में मौलिक भेद नहीं है – केवल व्यवहार के लिए भेद मान लिया जाता है।

5. काव्य का काव्यत्व कवि कौशल पर आश्रित है – दूसरे शब्दों में काव्य एक कला है

6. काव्य–मर्मज्ञों का मनः प्रसादन काव्य की कसौटी है।

डॉ0 नगेन्द्र की स्थापनाओं में कहीं–कहीं वदतोव्याघात है, एक ओर तो वे अनुभूति और अभिव्यक्ति में पूर्ण तादात्म्य बतलाते हैं, दूसरी ओर वे कल्पना–तत्त्व का आधिक्य देखते हैं।

डॉ0 नन्द दुलारे बाजपेयी – "ऐसा प्रतीत होता है कि अभिव्यंजना की रोचकता को ही कुन्तक ने वक्रोक्ति की संज्ञा दी है और रस को भी वक्रोक्ति का ही एक स्वरूप माना है।"[1]

---

1. आधुनिक साहित्य, पृ0 सं0 – 389

डॉ0 शिवदान सिंह चौहान – ने कुंतक को एक मात्र रूपवादी आचार्य बतलाया है। उनके अनुसार, "कुन्तक के सिद्धान्त में रूप तत्व की परख करने वाले साहित्यलोचन के कुछ व्यापक मानदण्ड मिलते हैं, जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वस्तुतः अलंकार और रीति के सिद्धान्तों ने किसी व्यापक सौन्दर्य सिद्धान्त के प्रति परवर्ती आचार्यों ने जो विरोध प्रदर्शित किया, वह क्षोभ का विषय है।"[1]

डॉ0 भगीरथ मिश्र – ने भी वक्रोक्ति सिद्धान्त का परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया है। उनके अनुसार: "काव्य के चमत्कार के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए यह वक्रोक्ति सिद्धांत एक सूक्ष्म, व्यापक और सर्वांगीण कसौटी का काम कर सकता है।"[2]

छायावाद का परवर्ती चिन्तन: कवि समीक्षक

छायावाद के परवर्ती युग में जिन कवि समीक्षकों ने वक्रोक्ति सिद्धान्त का पुनराख्यान किया है उनमें सर्वश्री केदारनाथ मिश्र "प्रभात" और रामधारी सिंह "दिनकर" मुख्य है। इसके अतिरिक्त सच्चिदानंद वात्स्यायन और जानकीवल्लभ शास्त्री ने भी यत्किाचिंत विचार किया है। श्री केदारनाथ मिश्र "प्रभात" छायावादी कवि ही है और इसलिए उन्होंने वक्रोक्ति सिद्धान्त को समग्रतः ग्रहण किया है। कुन्तक की महिमा उनके अनुसार, सौष्ठववाद में है। वह लिखते हैं, "कुंतक की दृष्टि में सौन्दर्य ही है। उसका एकांगी मूल्यांकन असम्भव ही नहीं, अनुचित भी है। काव्य–सौष्ठव की वृद्धि गुणों के समन्वय से होती है, अथवा अलंकारों के योग से, यह प्रधान नहीं। काव्य सौष्ठव ही प्रधान है।"[3] प्रभात जी ने कुंतक की "वैदग्ध्यभंगीभणिति" की व्याख्या इन शब्दों में की है, "सामान्य उक्ति से कविता इसलिए भिन्न

---

1. आलोचना के सिद्धान्त, पृ0 सं0 – 80
2. काव्य शास्त्र, पृ0 सं0 – 233
3. पहिये की धुरी, पृ0 सं0 – 126

है कि उसमें कवि अपनी चातुरी और कल्पना के सहारे अभिव्यंजनामूलक वैदग्ध्य भर देते हैं। कुन्तक ने इसी वैदग्ध्यभंगी को वक्रोक्ति कहा है – यदि लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति ही कविता का प्रधान उद्‌देश्य है, तो कुंतक के अनुसार शब्द योजना, पद–लालित्य, स्वर झंकार, अर्थ गाम्भीर्य तथा परिस्थिति का सुस्पष्ट वर्णन भी आनन्दोद्रेक का कारण बन सकता है, क्योंकि कवि की प्रतिभा और कल्पनाशक्ति से जिस अभिव्यंजना का प्रादुर्भाव होता है, वह सामान्य शब्दोच्चार से न केवल भिन्न होती है, प्रत्युत उसमें एक विलक्षण गरिमा और आकर्षण भी रहता है।"[1]

आचार्य जानकी बल्लभ शास्त्री – काल की दृष्टि से परवर्ती किन्तु प्रकृति से छायावादी कवि हैं। उनकी कविताएं छायावाद की परम्परा का ही विस्तार है। अपनी समीक्षाओं में यत्किचिंत उन्होंने भी वक्रोक्ति सिद्धांत पर विमर्श किया है। उनके अनुसार, "अलंकार मत से रीतिमत अधिक सूक्ष्म तथा व्यापक है और वक्रोक्ति उससे भी अधिक परिष्कृत।"[2]

जानकी वल्लभ शास्त्री ने कुंतक के साहित्य विषयक मत को समग्रतः स्वीकार कर लिया है। उनका कहना है कि "काव्य में केवल अर्थ–प्रतीति के लिए जैसे तैसे शब्द नहीं प्रयुक्त होते, यहाँ तो दोनों तुल्यकक्षता आवश्यक है। एक शब्द खिसका नहीं कि अर्थ की इमारत की नींव से हिली।"[3]

इस प्रसंग में आगे वह कुंतक का स्मरण करते हुए लिखते हैं: "उसने स्वयं शंका उपस्थित की है कि जब शब्द और अर्थ में परस्पर वाच्य वाचक–भाव संबंध विद्यमान है, तब तो दोनों का "साहित्य" स्वतः सिद्ध होगा ही – फिर बलपूर्वक "शब्दार्थौ सहितौ" कहने का भला क्या प्रयोजन हो सकता है? और इस शंका का समाधान भी उसने अति प्राञ्जल

---

1. पहिये की धुरीः पृ0 सं0 – 121
2. प्राच्य साहित्य पृ0 सं0 – 3
3. प्राच्य साहित्य, पृ0 सं0 – 27

भाषा में ही कर दिया है कि वह वैसा 'साहित्य' वाच्य–वाचक भाव–सम्बन्ध के कारण नहीं होता, वह इतना सस्ता या आसान नही। वैसा विशिष्ट साहित्य तभी होता है जब शब्द और अर्थ समान रूप गुणशाली हो।"[1]

सिद्धान्त और व्यवहार दोनो दृष्टियों से छायावाद–युग वक्रोक्ति का उत्कर्ष युग है। अतएव इस युग में इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा जितने जोरदार ढंग से हुई, उतने सबल रूप से कुंतक के बाद पुनः कभी नहीं हुई थी। किन्तु छायावाद के बाद जो साहित्यिक चिन्तन चला वह अन्य रास्ते गया। सारे संसार में कविता के क्षेत्र में नया विप्पलव आया हुआ है। यह नया आन्दोलन अभी अपने नये प्रतिमान ठीक–ठीक स्थिर नहीं कर सका है। ऐसा लगता है कि इसकी कुक्षि से कोई नूतन काव्यशास्त्र जन्म लेगा।। तब भी बक्रोक्ति सिद्धान्त की कई शिक्षाएँ ऐसी हैं कि नया साहित्य उनको स्वीकार किसी न किसी रूप में करेगा। परवर्ती चिन्तकों में अन्यतम श्री सच्चिदानन्द वात्सायन 'अज्ञेय' ने वक्रत्व के दर्शन को पूरी तरह स्वीकार किया है। उनके अनुसार "हम जानते हैं कि सीधी रेखा सुन्दर नहीं होती, बक्र रेखाएँ सुन्दर होती हैं। यहाँ पर फिर हम अपना अनुभव नहीं दोहरा रहे हैं। हमारे अंगों का कोई भी सहज निरपेक्ष वक्रता या गोलाई लिए होता है –अबोध शिशु भी जब हाथ पैर पटकता है, तो मण्डलाकार गति सेसहज गति सीधी रेखा में होती ही नही, और सीधी रेखा में अंग–संचालन अन्यतम क्लेश–साध्य होता है। अतः वक्रता को कला, गुण या सौन्दर्य तत्व मानने में हम फिर अपना अनुभव दोहरा रहे हैं : गोचर अनुभव का कार्य–कारण–ज्ञान के सहारे प्राप्त किया हुआ निचोड़ ही हमारे सौन्दर्य–बोध का आधार है।

इस तरह आधुनिक समीक्षा में वक्रत्व ने अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर ली है। रीतिकाल में जो वक्रता केवल शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार बन रह गयी थी, वह आधुनिक युग में व्यापक काव्य–सौन्दर्य का बोधक बन गई है। यह काव्य का अलंकारवाचक धर्म नहीं, प्रत्युत् व्यवच्छेदक

---

1. वही पृष्ठ सं0 – 28

तत्व है और आधुनिक समीक्षा ने कुंतक की शिक्षा को आत्मसात् कर शक्ति संचय किया है।

वक्रोक्ति और अलंकार

वक्रोक्ति का अलंकार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है– आलोचकों ने वक्रोक्ति को प्रायः अलंकार का अंग मानकर वक्रोक्ति–सम्प्रदाय को अलंकार–सम्प्रदाय का ही पुनरुत्थान मात्र सिद्ध किया है। इस कथन में निश्चय ही सत्यता है, परन्तु फिर भी इन दोनों में स्पष्ट भेद है, और यह भेद स्थूल अवयवगत न होकर तत्वगत है। वक्रोक्ति के स्वरूप को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए अलंकार और केवल अलंकार ही नहीं, अन्य काव्य–तत्वों के साथ भी उसका तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है।

अलंकार और अलंकार्य :

अलंकार और अलंकार्य के भेंदाभेद का प्रश्न यूरोप में अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तन के पश्चात् आधुनिक काव्यशास्त्र में विशेष चर्चा का विषय बन गया है। परन्तु भारतीय काव्य शास्त्र के लिए यह कोई नवीन विषय नहीं है। प्राचीन आलंकारिकों ने भामह, दण्डी, वामन आदि ने अलंकार और अलंकार्य का अभेद माना है और समस्त काव्य–सौन्दर्य को अलंकार के अन्तर्गत ही रखा है।

1. काव्यशोभाकारन् धर्मानलंकारान्प्रचक्षते। – दण्डी
2. सौन्दर्यमलंकार। – वामन

इस प्रकार इन आचार्यो के अनुसार अलंकार काव्य–शोभा के कारण अथवा पर्याय है : इन्होंने इसी दृष्टि के समस्त रस प्रपंच को रसवदादि अलंकार चक्र में अन्तर्भूत कर लिया है। इनके मत से काव्य का प्रस्तुत पक्ष अरमणीय या चमत्कार – रहित होने पर काव्य न होकर वार्ता मात्र रह जाता है।

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणाः।
इत्येवमादि कि काव्यं?........वार्तामेनां प्रचक्षते।। भामह

अर्थात् सूर्य अस्त हो गया चन्द्रमा का उदय हो गया है, पक्षिगण अपने अपने नीड़ो को लौट रहे हैं....... इत्यादि – यह कोई काव्य है? इनको वार्ता कहते हैं। रमणीय अथवा चमत्कारपूर्ण होने पर काव्य का यह प्रस्तुत पक्ष अलंकार से अभिन्न हो जाता है। अभिप्राय यह है कि अलंकारवादी प्रस्तुत अर्थ का निषेध नही करते, परन्तु उसमें यथावत काव्यत्व की सम्भावना नही मानते – किसी भी प्रकार के सौन्दर्य से विशिष्ट होने पर फिर वह अपने समग्र रूप में अलंकार बन जाता है। अर्थात् शब्द अर्थ के दो रूप हैं: (1) प्रकृत (अनलंकृत रूप) (2) अलंकृत रूप। इनमें से प्रथम अकाव्य हैं द्वितीय अपने समग्र रूप में ही काव्य हैं – वही अलंकार भी हैं, उसमें अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं है। रस– ध्वनिवादियों ने रस को अथवा शब्द अर्थ को और स्पष्ट शब्दों में शब्द अर्थ को प्रत्यक्षतः और रस को मूलतः अलंकार्य माना हैऔर उपमा अनुप्रासादि को अलंकार नाम से अभिहित किया है। उन्होंने अलंकार और अलंकार्य की पृथक् सत्ता का स्पष्ट निर्देश किया है। अलंकार की उपादेयता के विषय में आनन्दवर्धन का मत है :

विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन।

अर्थात् अलंकार की विवक्षा रस को प्रधान मानकर ही होनी चाहिए अंगीरूप में नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि अंगी होने के नाते रस अलंकार्य है – अलंकार की सार्थकता उसका उत्कर्ष वर्धन करने में ही है। इस प्रकार अलंकार और अलंकार्य की पृथकता सिद्ध है। मम्मट और विश्वनाथ ने इसी मन्तव्य की अपने अपने ढंग से पुष्टि की है:

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्‌.द्वारेण जातुचित्

हारादिवलंकारास्ते................। काव्यप्रकाश

अर्थात् रस रूप अंगी को अलंकार शब्द – अर्थ रूप अंग के द्वारा उपकृत करते हैं : हारादि आभूषण जिस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से शरीर को सुशोभित करते हुए मूलतः आत्मा का उत्कर्ष करते हैं,

इसी प्रकार अलंकार प्रत्यक्षतः शब्द अर्थ को भूषित करते हुए मूल रूप में रस का उपकार करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार उपमादि अलंकार है और शब्द अर्थ प्रत्यक्ष रूप में तथा रस मूल रूप में अलंकार्य है इसी तथ्य का प्रतिपादन विश्वनाथ भिन्न प्रकार से करते हैं:

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः

रसादीनुषकुर्वन्तोऽलंकारास्ते ....।

अर्थात् अलंकार शब्द अर्थ के अस्थिर धर्म हैं जो उनकी शोभा की अभिवृद्धि करते हुए मूलतः रस का उपकार करते हैं। यहाँ अलंकरण का अर्थ किया गया है। शोभा – वर्धन – प्रकृत शोभा की अभिवृद्धि और प्रत्यक्ष रूप से शब्द अर्थ को तथा तत्व रूप से रस को अलंकार्य माना गया है। कुन्तक की दृष्टि इस विषय में सर्वथा निर्भान्त है, उन्होनें अनेक प्रसंगों में अनेक प्रकार से इस प्रश्न को उठाया है और अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अपना मन्तव्य व्यक्त किया है।

1. अलंकार और अलंकार्य को अलग अलग करके उनकी विवेचना उसका उपाय होने से ही की जाती है।

शब्द – अर्थ और अलंकार की समष्टि ही काव्य है।

अलंकृति का अर्थ अलंकार है, जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय उसको अलंकार कहते हैं, जो अलंकरणीय वाचक (शब्द) रूप तथा वाच्य (अर्थ) रूप है उसका विवेचन किया जाता है, सामान्य तथा विशेष लक्षण द्वारा उसका निरूपण किया जाता है।

अभिप्राय यह हुआ कि अलंकार – सहित अर्थात् अलंकरण सहित सम्पूर्ण अवयव रहित समस्त समुदाय की काव्यता है, कवि कर्मत्व। कुन्तक एक स्थान पर अलंकार और अलंकार्य का पृथक् उल्लेख करते हैं – शब्द – अर्थ अलंकार्य होते हैं, और चतुरतापूर्ण शैली से कथन वैदग्ध्यभंगीभणिति रूप वक्रोक्ति

ही उन दोनों का अलंकार होती है।

क्रोचे का मत :– पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी अलंकार और अलंकार्य का व्यवहारगत भेद प्रायः आरम्भ से ही मान्य रहा है, वहाँ इस भेद की स्पष्टता की मात्रा में तो अन्तर होता रहा है, परन्तु उसका निषेध क्रोचे से पूर्व किसी ने नहीं किया। क्रोचे के सिद्धान्त का सार इस प्रकार है – कला मूलतः सहजानुभूति अथवा स्वयं प्रकाश ज्ञान है; और सहजानुभूति अभिव्यंजना से अभिन्न है जो अभिव्यंजना में मूर्त नहीं होती वह सहजानुभूति न होकर संवेदन या प्रकृत विकार मात्र है। अपने मूर्त रूप में वस्तु यन्त्रवत् है, निष्क्रिय है, मानवात्मा उसका अनुभव तो करती है, परन्तु सृजन नहीं करती। सहजानुभूति से अभिन्न होने के कारण अभिव्यंजना अखण्ड है, रीति, अलंकार आदि में उसका विभाजन नहीं हो सकता। अभिव्यंजना का विभिन्न श्रेणियों में अवैध विभाजन साहित्य में अलंकार सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है।

आचार्य शुक्ल का मत :– अलंकार–अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता, आचार्य शुक्ल के विचार का सारांश इस प्रकार है – प्रत्येक काव्य उक्ति में एक प्रस्तुत अर्थ वर्तमान रहता है – यह प्रस्तुत अर्थ ही अलंकार्य है, यह अलंकार्य प्रस्तुत अर्थ भाव रूप होता है या रमणीय तथ्य रूप। प्रत्येक अलंकार के पीछे भी एक प्रस्तुत अर्थ रहता है – उसी के द्वारा अलंकार में सन्निहित अप्रस्तुत विधान के औचित्यानौचित्य का वर्णन हो सकता है, अतएव अलंकार्य और अलंकार में अनिवार्य भेद है जो मिट नहीं सकता।

इन दोनों में कौन सा मत मान्य होना चाहिए, वास्तव में अलंकार अलंकार्य का भेदाभेद का प्रश्न प्रत्यक्ष रूप से वाणी और अर्थ के भेदाभेद केसाथ सम्बद्ध है। व्याकरणशास्त्र में निश्चय ही वाणी और अर्थ के

अभेद, उक्ति की अखण्डता, प्रत्येक शब्द की एकाग्रता आदि का स्पष्ट विवेचन मिलता है।

अभिव्यंजनावादियों से लगभग हजार वर्ष पहले कुन्तक ने काव्य की अभिव्यंजना के तात्त्विक रूप को समझा था, उनका मत है कि अलंकार्य और अलंकार का विवेचन की सुविधा के लिए अलग–अलग किए जाते हैं। यही क्रोचे और कुन्तक से गहरा मतभेद है। वे मानते हैं कि उपचार के चौदह भेद, शब्द और वाक्य के अलंकार ये अथवा अभिव्यंजना के ऐसे प्रकार वा कोटिक्रम, परिभाषा का प्रयत्न करने पर यह प्रकट कर देते हैं कि तत्त्व रूप में उनका कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि या तो वे शून्य में खो जाते हैं या निरर्थक वाग्जाल मात्र रह जाते हैं, हम उन दोनों को अस्वीकार करते हैं जो सौन्दर्यात्मक तथ्य में या तो केवल आधेय पाते हैं अथवा जो उसमें रूप और आधेय का सम्मिश्रण अर्थात् प्रभाव एवं अभिव्यंजना का सम्मिश्रण अर्थात् प्रभाव एवं अभिव्यंजना का सम्मिश्रण पाते हैं। सौन्दर्यत्मक तथ्य में अभिव्यंजनात्मक क्रिया को प्रभावों के साथ योग संकलित नहीं किया जाता, किन्तु प्रभाव उसके द्वारा रूप संघटित होते हैं, विस्तार पाते हैं। प्रभाव मानो अभिव्यंजना में फिर से प्रगट हो जाता है। ज़ल वही है, फिर भी कितना भिन्न। अतः कलात्मक तथ्य रूप है और रूप के अतिरिक्त कुछ नहीं। आचार्य शुक्ल से क्रोचे की यह दुर्बल नस पकड़ में कैसे नहीं आती। क्रोचे की दुर्बलता का उद्‌घाटन उन्होंने किया। रस–अलंकार आदि के नाना भेद निरूपण क्रोचे के अनुसार कला के निरूपण में योग न देकर तर्क या शास्त्र पक्ष में सहायक होते हैं। उन सबका मूल्य केवल वैज्ञानिक समीक्षा में है, कला–निरूपिणी समीक्षा में नहीं। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी का विचार है कि वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही कलानिरूपिणी समीक्षा है और यहाँ शुक्ल जी प्रकारान्तर से कुन्तक को दुहरा रहे हैं "–

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।

दतुपायतया तत्वं सालंकारस्य काव्यता।।"[1]

<u>वक्रोक्ति सिद्धान्त और स्वभावोक्ति</u> :– संस्कृत अलंकारशास्त्र में स्वभावोक्ति की स्थिति भी विचित्र है, वह काव्य अथवा अकाव्य, और यदि काव्य है तो वह अलंकार अथवा अलंकार्य? आदि अनेक तर्क–वितर्क इस प्रसंग उठते हैं। कुन्तक ने अपनी स्थापना को पुष्ट करने के लिए विवेचन प्रस्तुत किए – जिन (दंडी सदृश) आलंकारिक आचार्यों के मत में स्वाभावोक्ति अलंकार है उनके मत में अलंकार्य क्या रह जाता है? जिन आलंकारिकों का मत यह है कि स्वाभावोक्ति भी अलंकार है – अर्थात् जिनके मत में स्वभाव अथवा पदार्थ के धर्मभूत लक्षण की उक्ति या कथन ही अलंकार है, वे सुकुमार बुद्धि होने से विवेक का कष्ट नहीं उठाना चाहते, क्योंकि स्वभावोक्ति का अर्थ क्या है? स्वभाव से उच्चमान अर्थात् उक्ति का विषय – वर्ण्य विषय है। यदि वही अलंकार है तो फिर उससे भिन्न काव्य की शरीर स्थानीय कौन सी वस्तु है जो उनके मत में अलंकार्य विभूष्य रूप से स्थित होकर पृथक् सत्ता को प्राप्त करती है – अर्थात् और कुछ नहीं है। स्वभाव को यदि अलंकार मान लिया जाये तो अन्य अलंकारों की रचना होने पर उन दोनों का अर्थात् स्वभाक्ति तथा उपमादि का भेद ज्ञान या तो स्पष्ट होता है या अस्पष्ट। स्पष्ट होने पर (दोनों अलंकारों की निरपेक्ष स्थिति होने से सर्वत्र संसृष्टि अलंकार होगा और अस्पष्ट होने से संकर। इसलिए शुद्ध रूप से (उपमादि) अन्य अलंकारों का विषय (उदाहरण) ही नहीं बचेगा।

कुन्तक का मन्तव्य सर्वथा निभ्रान्त है। स्वाभावोक्ति के निराकरण में उन्होंने अत्यन्त प्रबल तर्क प्रस्तुत किये हैं–

–स्वभावोक्ति का अर्थ स्वभाव का कथन। स्वभाव से कथन का तात्पर्य उन मूल विशेषताओं का है जिनके द्वारा किसी पदार्थ का कथन या ज्ञान होता है। अतएव किसी वस्तु का वर्णन निसर्गतः उसके स्वभाव का ही वर्णन है क्योंकि उससे

रहित वस्तु तो शब्द के लिए अगोचर हो जाती है, अर्थात् वस्तु वर्णन मूलतः स्वभावोक्ति ही है।

लोक तथा शास्त्र में सभी वस्तुओं का वर्णन रहता है, किन्तु काव्य में उन्हीं का वर्णन होता है जो स्वभाव से सुन्दर हों – अथवा यह भी कहा जा सकता है कि लोक और शास्त्र में किसी वस्तु के सभी गुणों का वर्णन मिल जाता है, परन्तु काव्य में केवल उन्हीं का वर्णन प्रेय है जो स्वभाव के सुन्दर हों। अतएव सुन्दर स्वभाव काव्य का प्रकृत वर्ण्य विषय है और वर्ण्य विषय होने से वह अलंकार्य ही है अलंकार नहीं हो सकता।

स्वभाव कथन यदि अलंकार है तो जन–सामान्य के साधारण वाक्य भी अलंकार हो जायेगें।

स्वभाव का वर्णन ही अलंकार मान लिया जाये तो उसका अलंकार्य क्या होगा? यदि यह कहा जाये कि वह स्वयं ही अलंकार्य भी है तो यह असम्भव है। अलंकार तो शरीर पर धारण किया जाता है, यदि शरीर ही अलंकार है तो शरीर अपने को कैसे धारण करेगा।

यदि स्वभावोक्ति अलंकार है तो उपमा आदि सभी अलंकारों में उसकी स्थिति माननी पड़ेगी क्योंकि स्वभाव कथन तो सभी वर्णनों में अनिवार्य है, ऐसी स्थिति में शुद्ध अलंकार कोई रह नहीं जायेगा – स्वभावोक्ति का योग होने से वे या तो संसृष्टि बन जायेगे या संकर।

उपर्युक्त मन्तव्य कुन्तक की निर्भीक प्रकृति और मौलिक प्रतिभा का प्रमाण है। उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती प्रायः समस्त आलंकारिक आचार्यो ने स्वाभावोक्ति की अलंकारता को स्वीकार किया है।

भामह से पूर्व, स्वाभावोक्ति का नामोल्लेख न होने पर भी प्रकारान्तर से उसका वर्णन बाण के हर्षचरित तथा भट्टि काव्य में उपलब्ध हो जाता है। बाण ने 'जाति' नाम के एक काव्य उपकरण का उल्लेख किया है – 'नवोऽर्थो जातिरग्राम्या' जो स्वाभावोक्ति के समतुल्य है और दण्डी आदि ने

उसे इसी रूप में ग्रहण भी किया है। डॉ0 राघवन ने प्रस्तुत प्रसंग का दो स्थलों पर अत्यन्त प्रमाणिक विवेचन किया है। उनका मन्तव्य है कि 'जाति' के दो अर्थ हो सकते हैं (1) किसी पदार्थ को सहजात रूप का वर्णन (2) जाति वर्ग के आधार पर किसी पदार्थ की जातिगत विशेषताओं का वर्णन। इनमें से एक या दोनों ही अर्थ कदाचित् बाद में चलकर अलंकार रूप में रूढ़ हो गये हैं। इस प्रकार भामह से पूर्व स्वभावोक्ति का वर्णन जाति और वार्ता के रूप में हुआ है। भामह ने जाति का प्रयोग नहीं किया और वार्ता को अकाव्य माना है, उन्होंने स्वभावोक्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है–

"स्वभावोक्तिलंकारः इति केचित्प्रक्ष्यते।

अर्थस्य तद्वस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा।। भामह 2/93

भामह ने इतने आग्रह के साथ वक्रोक्ति को अलंकार का प्राण तत्व माना है कि सामान्यतः उनके विधान में स्वभावोक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। अब प्रश्न यह उठता है कि स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति में किसी प्रकार का सामंजस्य हो सकता है इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति में कोई विरोध नहीं। वक्र का अर्थ है स्वभाव से भिन्न अर्थात् विशिष्ट और स्वभावोक्ति में निश्चय ही विशिष्टता का सद्भाव रहता है। स्वभावोक्ति में किसी वस्तु के उन मूल गुणों का वर्णन होता है जो स्वभाव से सुन्दर हों– सभी सामान्य गुणों का यथावत् वर्णन स्वभावोक्ति न होकर वार्ता मात्र होता है। स्वभावोक्ति में कवि रमणीय के ग्रहण तथा अरमणीय के त्याग से अपनी प्रतिभा अथवा कल्पना का उपयोग करता है। इस दृष्टि से उसमें वक्रता या विशिष्टता की मात्रा निश्चय ही वर्तमान रहती है और इसीलिए वह अलंकार है।

भामह के उपरान्त दण्डी ने स्वाभावोक्ति का विस्तार के साथ विवेचन किया है, उनके अनुसार स्वभावोक्ति जाति की ही पर्याय है, उनकी परिभाषा इस प्रकार है –

"नानावस्थं पदार्थानां रूप साक्षात् विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा।।"

उद्भट ने स्वभावोक्ति का क्षेत्र सीमित कर दिया – उनके मत से क्रिया में प्रवृत्त मृगशावकादि की लीलाओं का वर्णन ही स्वभावोक्ति है–

"क्रियायां संप्रवृत्तस्य हवेकानां निबन्धनम्।
कस्यचित् मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाह्यता:।। 3/89

रुद्रट ने इसके विपरीत, स्वभावोक्ति के क्षेत्र का सम्यक विस्तार कर दिया है, उन्होंने अर्थालंकारों के चार वर्ग किये हैं – वास्तव – औपम्य, अतिशय और श्लेष। इनमें स्वभावोक्ति अथवा जाति 'वास्तव' वर्ग का प्रमुख अलंकार है।

भोज ने वाङ्.मय का तीन रूपों में विभाजन किया –
वक्रोक्ति, रसोक्ति एवं स्वभावोक्ति।

'वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिचेशति वाङ्.मयम्।

इनमें अलंकार–प्रधान साहित्य वक्रोक्ति के अन्तर्गत आता है, रस–भावादि–प्रधान रसोक्ति के अन्तर्गत एवं गुण–प्रधान स्वभावोक्ति के अन्तर्गत।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि वस्तु का उत्कर्ष स्वभावोक्ति है, अलंकारों का विच्छित्ति वक्रोक्ति। कवि कौशल दूसरे का प्राणभूत ही रहता है किन्तु पहले भी उसका नातिअल्प योग है। स्वयं कुन्तक ने लिखा है कि "वर्ण्यमान के औचित्य के अनुरोध से महाकवियों को कभी केवल स्वाभाविक सौन्दर्य ही एकछत्र रूप से प्रकाशित करना अभीष्ट होता है और कभी विविध प्रकार के रचना के वैचित्र्य से युक्त सौन्दर्य का वर्णन करना अभीष्ट होता है। उनमें से पहिले पक्ष में रूपक आदि अलंकारों का वैसा कोई तत्व नहीं है और दूसरे पक्ष में अलंकारादि रूप रचना वैचित्र्य ही मुख्य प्रतीत होता है।"[1]

---

1. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित – पृ0 सं0– 303

जैसा कि कुन्तक ने कहा है कि स्वभाव का स्पष्ट रूप से परिपोषण ही वक्रता का परम रहस्य है। इस प्रकार वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति का द्वन्द्व शमित हो जाता है। स्वभावोक्ति अलंकार्य है और वक्रोक्ति अलंकार।

<u>वक्रोक्ति और लक्षणाः–</u> भट्‌ट नायक और कुन्तक ये दोनों आचार्य ध्वनि सम्प्रदाय की सार्वभौम प्रतिष्ठा के विरोध में उठ खड़े हुए थे, इन दोनों आचार्यों ने शब्द शक्तियों के प्रसंग में प्रचलित संज्ञा का तिरस्कार किया, लेकिन भट्‌नायक ने जहाँ अभिद्या, भावकत्व और भोजकत्व इन तीन शक्तियों की उद्‌भावना की, वहाँ कुन्तक केवल विचित्र अभिद्या की सत्ता स्वीकार करते हैं। "कुन्तक ने काव्य मार्ग में प्रयुज्य होने वाले शब्द और अर्थ पर सूक्ष्म विचार किया। यहाँ शब्द विवक्षितार्थ वाचक तथा अर्थ को सह्रदयाह्लाद–स्वस्पन्द सुन्दर होनाही चाहिए। ये दोनों अलंकार्य है और वक्रता उनकी अलंकृति। वस्तुतः जो शब्द लोक में वाचक रूप से प्रसिद्ध है, वे तो काव्य में वाच्य ही है, यहाँ वे भी वाचक ही कहलाते हैं जो अन्यत्र लक्षक और व्यंजक कहे जाते हैं। कुन्तक का कहना है कि पहले प्रकार के शब्द मुख्य रूप से और दूसरे प्रकार के औपचारिक रूप से ही मुख्य कहे जा सकते हैं। इस उपचार के मूल में सभी शब्दों की अर्थ प्रतीतिकारिता है। इस प्रकार काव्य मार्ग में शब्द और अर्थ की वाचकता और वाच्यता लोक से भिन्न है। इन दोनों का सर्वातिशायी अलंकरण ही वक्रोक्ति है। यह वक्रोक्ति ही अभिधा है, पर प्रसिद्ध अभिधान शक्ति से अतिरिक्त कुछ और भी अभिधा है। इसलिए इसे विचित्र अभिधा कहा गया है। यह अभिधा वैदग्धयुक्त भणिति का पर्याय है।"[1]

"इसके अतिरिक्त जब हम कुन्तक को यह सुनते हैं कि विचित्र अभिधा अलंकृति है, तब अलंकार को शब्द एवं अर्थ का धर्म मान लेना पड़ता है। इस प्रकार अभिधा भणिति या शब्द–सन्निवेश रूप न होकर शब्द एवं अर्थ का एक धर्म है। अभिधा शक्ति भी शब्दार्थ धर्म ही है,

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 – 217

अतः समनियत होने के कारण दोनों एक हो सकते हैं।[1]

कुन्तक शब्द की अन्य शक्तियों से परिचित है, किन्तु उपचार से वे सबको वाचक ही कह देते हैं। उपचार लक्षणा ही है। डॉ0 राममूर्ति त्रिपाठी ने उचित ही कहा है कि "जो लक्षणा मानेगा नही उसे हक क्या है कि उसके बल पर किसी को कुछ कहे सुने?, दूसरी बात यह भी है कि यदि कुन्तक को लक्षणा स्वीकृत न होती, तो उनके विरोध में तर्क दिये होते। पर ऐसा कहीं कुछ नही है। तीसरी बात यह है कि लक्षक या लक्षणा को उपचारतः वाचक एवं अभिधा कहा जाए, तो इस व्यवहार का क्या प्रयोजन है? प्रसिद्धि या रूढ़ि कोई इस प्रकार की है ही नहीं। रूढ़ि एवं प्रयोजन के न होने पर उपचार सम्भव ही नहीं और जबरदस्ती की जाए तो वह दोष है।"[2] चौथी बात यह है कि यदि लक्षणा कुछ न हो तो 'उपचारत्तावपि वाचकावेव' में उपचार शब्द का क्या अर्थ होगा? पहला पक्ष कुन्तक ले नहीं सकते और दूसरे में मनमानी है। उसके पीछे कोई परम्परा एवं समर्थन नहीं। यह कहना कि लोक में लक्षणा की स्थिति कुन्तक मानते हैं पर काव्य की चर्चा के प्रसंग में नहीं, तो प्रश्न है कि 'वक्रोक्ति जीवित' में काव्य 'उपचारात्तवपि' कहा गया है फिर काव्य चर्चा से बाहर कैसे हुआ? परिणाम यह कि लक्षणा इन्हें माननी होगी।" वक्रोक्ति के इतिहास में वामन का महत्व इसलिए है कि उन्होंने लक्षणा और वक्रोक्ति का स्पष्ट सम्बन्ध निर्देश किया। लक्षणा पाँच प्रकार की होती है। लेकिन वामन ने केवल सादृश्या से लक्षणा से वक्रोक्ति सम्बन्ध माना है।

सादृश्यालक्षणा वक्रोक्तिः।[3]

वामन स्पष्टतःकहते है कि लक्षणा के अनेक कारण होते हैं, लेकिन उनमें सादृश्य से की गई लक्षणा ही वक्रोक्ति हैः बहूनि हि निबन्धानानि लक्षणायम्। तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति रसावति (वृति)। इस पर टिप्पणी करते हुए डॉ0 राघवन

1. लक्षणा और हिन्दी काव्य में उसका प्रसार – पृ0 सं0 –61

2. लक्षणा और हिन्दी काव्य में उसका प्रसार – डॉ0 राममूर्ति त्रिपाठी – पृ0सं0–61

3. का0 सू0 वृ0 4/3/8

ने उचित ही लिखा है कि जो लोग सभी सुन्दर की लक्षणाओं को वक्रोक्ति के उद्‌भव में सहायक मानेगें। जब अभिधामूलाध्वनि भी वक्रोक्ति में समाविष्ट की जा सकती है, तब यह कहा जा सकता है, कि सादृश्येतर लक्षणाएँ भी वक्रोक्ति हैं।

भोज ने कदाचित् वामन की त्रुटि पकड़ ली थी। 'शृंगार प्रकाश' के 'सप्तम प्रकाश' में भोज ने अभिधा, लक्षणा और गौणी वृत्तों पर विचार किया है। लक्षणा को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि लक्षणावृत्ति ही विदग्ध वक्रोक्ति का जीवित है।

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणेति या।
सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरिष्येत।।[1]

भोज ने स्वयं इस प्रसंग में इतना कहा है। उन्होंने कदाचित् इसे पल्लवित करने की आवश्यकता नहीं समझी हो। भोज का तात्पर्य किस लक्षणा विशेष से है उन्होंने इसे स्पष्ट नहीं किया। उनका मन्तव्य शायद यह है कि वक्रोक्ति–सामान्य का ही प्राण लक्षणा है। लक्षण और लक्षित लक्षणा के सभी भेद–उपभेद का का विवरण देकर भोज कहते हैं कि कवि की उक्तियों में सभी प्रकार की लक्षणाएँ मिलती है। भोज के अनेक उदाहरण वे ही है, जो आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक में लक्षणामूलाध्वनि के रूप में दिया है। निश्चय ही ऐसे सभी उदाहरणों में सादृश्यमूला लक्षणा की ही प्रचुरता है, लेकिन भोज का तात्पर्य उक्त कारिका में सभी प्रकार की लक्षणाओं से है। यह आकस्मिक नहीं है कि इसी श्लोक में कुन्तक के प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम भी आया है।

उक्त श्लोक में भोज का तात्पर्य केवल सादृश्यमूलालक्षणा से ही नहीं है, इसकी दृष्टि रत्नेश्वर की टीका से भी होती है : शय्या नामक शब्दालंकार पर विचार करते हुए भोज में (सरस्वती कण्ठाभरण) द्वितीय परिच्छेद में उसके एक भेद 'प्रकीर्णघटना' का उल्लेख किया है। इस पर विचार करते हुए भोज मुख्या, गौणी और लक्षणा वृत्तियों का उल्लेख करते हैं। इस पर टिप्पणी करते हुए रत्नेश्वर ने भोज के उक्त श्लोक का उद्‌धत किया है। वे भी

---

1. शृंगार प्रकाश – भोज – पृ0 सं0 – 223

यहाँ लक्षणा से केवल सादृश्यामूला नहीं, प्रत्युत सभी प्रकार की लक्षणाओं को ही ग्रहण करते हैं।

तदुक्तम्

अभिधयाविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणेति या।

सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरिष्यत।

सा द्विधा – शुद्धा, लक्षित लक्षणा च।[1]

तत्पश्चात् रत्नेश्वर ने 'श्रृंगार प्रकाश' का सारांश देते हुए भोज के उदाहरणों को ही उदृधत किया है। उसी प्रकार भोज बतलाते है कि विरुद्धलक्षण में परुषदोष गुण ही बन जाता है। इस पर भी टिप्पणी करते हुए रत्नेश्वर भोज के उक्त श्लोक को भ्रष्ट रूप में उदृधत करते हैं।

तदाहु :

अभिध्येयाविनाभावप्रतीतिर्लक्षणेति या।

सैषा काव्ये दग्धवक्रा जीवितं वृत्तिरिष्येत।।[2]

इससे यह स्पष्ट होता है कि भोज ने सभी प्रकार की लक्षणाओं को वक्रोक्ति का प्राण कहा है।

भोज से बहुत ही परवर्ती आचार्य शारदातनय ने भी भोज के उक्त श्लोक का यही अर्थ समझा है। भोज के साहित्य–सम्बन्धी मतों का संक्षिप्त समाहार प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उनके उक्त श्लोक को यों उद्धृत किया है:

अभिधायाविनाभूतप्रीतिर्लक्षणोच्यते।

सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरिष्येत।।

क्रोशन्ति मञ्चा इत्यादौ सा वृत्तिखगम्यते।

लक्ष्यभाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता।।[3]

---

1. सरस्वती कण्ठाभरण – पृ0 सं0 – 189

2. वही पृ0 सं0 – 133

3. भाव प्रकाश पृ0 सं0 – 145

शारदातनय यहाँ लक्षणा को 'क्रोशान्ति मञ्चा' द्वारा उदाहृत करते हैं। इससे स्पष्ट है कि भोज का मतलब यहाँ पर सभी प्रकार की लक्षणाओं से है। राघवन ने बतलाया है कि बहुरूप मिश्र ने शारदा तनय के उपरिउद्धृत अंश को दुहराया है। वे भोज के 'विदग्धवक्रोक्ति' वाले उक्त श्लोक को भी उसी तरह उद्धृत करते हैं। इस प्रकार भोज ने वामन के मत की त्रुटि का परिमार्जन किया है।

'अलंकार रत्नाकर' में लक्षणा को काव्यजीवितायमान' कहा गया है। भोज ने तो निर्भ्रान्त रूप से कहा कि लक्षणा काव्यजीवित (वक्रोक्ति) का भी जीवित है। चंद्रालोककार जयदेव ने बतलाया है कि शब्द, पदार्थ, वाक्यार्थ, संख्या, कारक एवं लिंग में रहने वाली लक्षणा का ही अंकुरण अलंकार है।

शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे संख्यायां कारके तथा।

लिङ्.गेचेयमलङ्. काराङ. कुरबीजतया स्थिता।।

कुन्तक के वाक्यवक्रता में ही सभी अलंकारों को अन्तर्भुक्त कर लिया है। इस प्रकार कुन्तक ने यद्यपि लक्षणा का नाम नहीं लिया है किन्तु लक्षणा उनकी वक्रोक्ति की आधारशिला रही है। वक्रोक्ति का इतने उदार अर्थ में प्रयोग का विस्तार ही तो 'वक्रोक्तिजीवित' है। डॉ0 हरिचन्द्र शास्त्री ने एक स्थान पर इसी (भक्ति) लक्षणा को वक्रोक्ति से अभिन्न मानते हुए बताया है कि कुन्तक का वक्रोक्ति–सम्प्रदाय भाक्त सम्प्रदाय के भी नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने भाक्त सम्प्रदाय का प्रवर्तक कुन्तक को ही माना है। तब सहज ही यह प्रश्न उठता है कि कुन्तक ने लक्षणा से बचने का प्रयास क्यों किया है? उन्होंने उपचारवक्रता पर विचार करते हुए एक विलक्षण बात कही है। इससे वक्रोक्तिवाद को बल मिलता है। उपचार सादृश्यकमूलक गौणी लक्षणा से घटित होता है। किन्तु सभी सादृश्यकमूलक गौणी लक्षणाएँ उपचार नहीं है। थोड़ा सा अंतर होने पर इस उपचार में वक्रता का व्यवहार नहीं होता है। "गौर्वाहीक : अर्थात् वाहीक देशवासी पुरुष गाय के समान मूर्ख या सीधा होता है। यहाँ वाहीक के लिए इस शब्द का प्रयोग सादृश्यमूलक गोणी लक्षणा से होता है। परन्तु इस प्रकार के चमत्कारहीन उदाहरणों में उपचारवक्रता नहीं होती है। इस

प्रकार कुन्तक अपने वक्रोक्तिवाद के पृथक अस्तित्व की उद्भावना को ठोस शास्त्रीय आधार प्रदान करते हैं। उनकी वक्रोक्ति लक्षणाश्रित होकर भी लक्षणा से पूरी तरह बद्ध नहीं है। उसके संचरण के अनेक क्षेत्र लक्षणाचक्र से भी परे हैं।"[1]

वक्रोक्ति और ध्वनि

अभिनव गुप्त के समय में ही ध्वनि–सम्प्रदाय के विरुद्ध विद्रोह शुरु हो गया था। उन्हीं के समकालीन (कुन्तक किन्चित् पूर्ववर्ती और महिमभट्ट किन्चित् परवर्ती) कुन्तक और महिमभट्ट ने ध्वनिसंप्रदाय की सार्वभौम प्रतिष्ठा को चुनौती देते हुए क्रमशः वक्रोक्ति–सम्प्रदाय एवं अनुमान की प्रतिष्ठा की। लेकिन ध्वनि सम्प्रदाय की सार्वभौम प्रतिष्ठा को चुनौती देना और ध्वनिसंप्रदाय की समग्र उपलब्धियों को नकारना एक ही बात नहीं है। विचारों के इतिहास का विद्रोह प्राक्तन चिंतन का समग्र अस्वीकार न होकर उसमें किंचित संशोधन ही होता है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के विद्रोह को भी हमें इसी दृष्टि से समझना होगा। ध्वनि सिद्धान्त वस्तुतः भारतीय समीक्षा का सर्वोत्तम निचोड़ है। आनन्दवर्धन ने इतनी युक्तियों और कौशल से ध्वनि सिद्धान्त का विवेचन और विश्लेषण किया कि वह एक प्रतिमान बन गया। उससे भी महत्वपूर्ण बात यह हुई कि अपने सम्पूर्ण चिन्तन को आनंदवर्धन ने ऐसी सुष्ठु भाषा और स्थापत्य प्रदान किया कि बाद के वे आचार्य भी उसी सरणि का अनुसरण कर चले, जो चिंतना के धरातल पर आनंदवर्धन से तालमेल नही रखते थे।

यह दुहराना निष्प्रयोजन है कि कुन्तक ने ध्वनि सिद्धान्त का समग्र पारायण उस पर चिन्तन और मनन किया था। उन्होंने अपने ग्रन्थ में ध्वनिकार का स्पष्ट उल्लेख किया है – 'यस्माद् ध्वनि–कारणे।' (हि0वक्रो0।12।।7।। की वृत्ति)। जगह–जगह वक्रोक्ति के भेदों के निरूपण में, उसके उदाहरणों के चयन, प्रातिमान अर्थ और रस के समर्थन में ध्वनिकार के प्रति उनकी पुष्कल श्रद्धा का संकेत मिलता है।

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 – 220

वक्रोक्ति और व्यंजना :– वक्रोक्ति को विचित्रभिधा कहने वाले कुन्तक अभिधावादी आचार्य हैं। किन्तु उनकी अभिधा में लक्षणा और व्यंजना भी अन्तर्भुक्त है। कुन्तक का कहना है कि काव्यमार्ग में वे शब्द भी वाचक ही कहलाते हैं, अन्यत्र लक्षक और व्यंजक कहे जाते हैं। उसी प्रकार वाच्य अर्थ में द्योत्य और व्यंग्य दोनों ही अर्थों का सन्निवेश है। दोनो में सामान्य धर्म है अर्थप्रतीतिकारिता। वाच्यार्थ की तरह द्योतक तथा व्यंजक शब्द भी अभीष्ट अर्थ की प्रतीति कराते हैं। उपचार से द्योतक तथा व्यंजक शब्दों के लिए वाचक का प्रयोग न्याय्य है। वस्तुतः कुन्तक ने वाचक की बड़ी ही विशद कल्पना की है। अर्थात् कुन्तक ने तीनों शब्द–शक्तियों – अभिधा, लक्षणा ओर व्यंजना– को काव्य में स्वीकार किया है, परन्तु लक्षणा और व्यंजना का अन्तर्भाव इन्होंने सुगमता के कारण अभिधा के भीतर रखा है। अतः अभिधावादी होकर भी कुन्तक की विचारणा वास्तव में व्यंजना की महिमा का तिरस्कार नहीं करती है।[1]

स्थापत्यगत साम्य :– फिर भी कुन्तक की अभिधा में व्यंजना का साम्य ढूँढ़ना अंततः उतनी ठोस नहीं है जितना कि ध्वन्यालोक और वक्रोक्तिजीवित का स्थापत्यगत साम्य का प्रत्यक्षबोध है। ध्वनिकार ने ध्वनि की व्याप्ति का विश्लेषण–विवेचन वर्ष से प्रबन्ध तक की व्याप्ति में की है। कुंतक ने आनंदवर्धन के इसी स्थापत्य का वक्रोक्ति के भेद–प्रभेद की उद्भावना में अनुसरण किया है। आनंदवर्धन के ही विश्लेषण का आधार ग्रहण कर कुन्तक ने वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वाध और पदपरार्धवक्रता के भेद–प्रभेद वस्तुवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता की सूक्ष्मातिसूक्ष्म उद्भावनाओं को उपस्थित किया है। डॉ0 नगेन्द्र का कहना है कि "वास्तव में ध्वनि के आत्मपरक सौन्दर्य–भेदो की कुन्तक ने वस्तुपरक व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, इसलिए उनके विवेचन की रूपरेखा अथवा योजना बहुत–कुछ वही है, जो ध्वनिकार ने अपनी स्थापनाओं के लिए बनायी थी।"

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 – 222

परिभाषागत साम्य :- यह साम्य ध्वनि और वक्रोक्ति की परिभाषा में भी परिलक्षित होता है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को इन शब्दों में परिभाषित किया है। जहाँ अर्थ अपने को अथवा अपने शब्द अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वान लोग ध्वनि कहते हैं। (हिन्दी ध्वन्यालोक 1।।13।।)

महाकवियों की वाणियों में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है, जो प्रसिद्ध अलंकारों अथवा प्रतीत होने वाले अवयवों से भिन्न 'सहृदयसुप्रसिद्ध' अंगनाओं के लावण्य के समान प्रकाशित होता है।– (हिन्दी ध्वन्यालोक 1।।4।।)

कुन्तक ने वक्रोक्ति की परिभाषा यों दी है : "प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। कैसी, वैदग्ध्यपूर्ण शैली से कथन। वैदग्ध्य अर्थात् चतुरतापूर्ण कवि कर्म का कौशल (हिन्दी वक्रो० पृ० 51) प्रसिद्ध कथन से भिन्न का अर्थ (1) शास्त्रादि में उपनिबद्ध शब्दार्थ के सामान्य प्रयोग से भिन्न और (2) प्रचलित व्यवहार–सरणि का अतिक्रमण करने वाला।

इन दोनों परिभाषाओं में विवक्षा का आन्तरिक साम्य अत्यन्त ही स्पष्ट है। (1) दोनों ही प्रसिद्ध वाच्यवाचक का अतिक्रमण करते हैं। आनंदवर्धन ने जिसे 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृतस्वार्थौ' कहा है उसे ही कुन्तक ने 'शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेक' कहा है। इस प्रकार असाधारणत्व की विवक्षा ही ध्वनि और वक्रोक्ति की अभ्यान्तरिक चेतना है। (2) वैचित्र्य की आकांक्षा से दोनों ही उत्प्रेरित है – कुन्तक ने जिसे 'विचित्र अभिधा' कहा है, उसे ही ध्वनिकार ने अन्यदेव वस्तु (हिन्दी ध्व० 1।।4।।) कहकर व्यक्त किया है। इस प्रकार ध्वनि और वक्रोक्ति एक ही भूमि पर संचरण करती हैं।

प्रतीयमान का स्पष्ट निर्देश :- इसके अतिरिक्त कुन्तक के ग्रन्थ में जगह–जगह प्रतीयमान का स्पष्ट उल्लेख और स्वीकृति मिलती है यथा–

(1) उन्होंने विचित्र मार्ग में वाक्यार्थ की प्रतीयमान का स्पष्ट उल्लेख किया है।

'प्रतीयमान यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।

वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित्।।1।।40।।[1]

(2) वस्तु के स्वभाव का सरस उन्मीलन ही कुन्तक की वस्तुवक्रता है। इसके वर्णन में वक्रोक्ति जीवितकार ने लिखा है–

"वस्तुनोवक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता" (3।।1।।)। इस कारिका में 'गोचरत्वेन' के प्रयोग के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए कुंतक कहते है कि प्रतिपादन तो व्यंग्य रूप से भी हो सकता है।

(3) कुन्तक ने अनेक अलंकारों के द्विविध रूप स्वीकार किये हैं – वाच्य और प्रतीयमान। रूपक वाच्य भी होता है और प्रतीयमान भी। वाच्य रूपक में तो उपमेय और उपमान का अभेदारोप वाच्यरूप से ही किया जाता है, परन्तु प्रतीयमान रूपक में यह अभेदारोप वाच्यमुखेन न होकर व्यंग्यमुखेन ही प्रस्तुत किया जाता है। इस अलंकार के उदाहरण में कुंतक ने आनंदवर्धन की निजी रचना 'लावण्यकान्तिपूरित' को उद्धृत किया है। इसी को आनंदवर्धन ने 'रूपकध्वनि' कहा है। अतएव कुंतक का प्रतीयमान रूपक और आनंदवर्धन की 'रूपकध्वनि' एक ही चीज है।

(4) इसी प्रकार व्यतिरेक अलंकार भी द्विविध होता है। वाच्यव्यतिरेक और प्रतीयमान व्यतिरेक। शब्द व्यतिरेक कविप्रवाह प्रसिद्ध होता है और उसके समर्पण की योग्यता शब्दों में स्वतः विद्यमान रहती है, परन्तु प्रतीयमान व्यतिरेक मात्र वाक्यार्थ के सामर्थ्य से ही व्यंजित होता है।

(5) कुन्तक के अनुसार उपमा का द्वैविध्य स्पष्ट है। उपमा अलंकार में तो उपमान और उपमेय का साधर्म्य वाच्य होता है, परन्तु उसी प्रजाति के दीपक निदर्शना आदि अलंकार औपम्यगर्भ हुआ करते हैं। वस्तुतः उनकी शोभा औपम्य की प्रतीयमानता से ही निःसृत है।

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति 1/40

के हर्षचरित के दो दृष्टान्त दिये हैं, जो मूलतः आनन्दवर्धन द्वारा उद्धृत है।

(3) कुंतक ने उपचारवक्रता के अन्तर्गत आनन्दवर्धन की 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' नामक लक्षणामूला ध्वनि का अन्तर्भाव किया है। रुय्यक ने अलंकारसर्वस्व में लिखा है: "उपचारवक्रता दिभिःसमस्तो ध्वनिप्रपच्च स्वीकृत एव।" सादृश्य के अतिशय से जहाँ एक धर्म का अन्य वस्तु के ऊपर आरोप किया जाता है वहाँ उपचारवक्रता होती है। इसके उदाहरण में कुंतक ने आनंदवर्धन के ही उदाहरण 'गउपं अयत्तमेहगाथा' को ही उद्धृत किया है।

(4) संवृतिवक्रता भी व्यंजनाश्रित ही है। यहाँ सर्वनाम के द्वारा रमणीय अर्थ की व्यंजना की जाती है। शास्त्रीय दृष्टि से यह अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य से भिन्न वस्तु नहीं है।

(5) उसी प्रकार वृत्तिवैचित्र्यवक्रता का भी सादृश्य आनन्दवर्धन में ढूढ़ा जा सकता है।

सुप्–तिङ्.–वचन–सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत–तद्धित–समासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्।।

इस कारिका में जो कृतद्धित समासध्वनि है वह वृत्तिवैचित्र्यवक्रता ही है। केवल लिंग का स्पष्ट उल्लेख आनंदवर्धन ने नहीं किया है, किन्तु कारिका में आये वचन आदि को उपलक्षमात्र समझना चाहिए। आनंदवर्धन ने तो वचन कारक आदि का शब्दशः उल्लेख किया है और उनकी वृत्ति है कि 'च' शब्द से निपात–उपसर्ग कालादि का बोध हो जाता है। ध्वनि सिद्धान्त को उच्चतर दार्शनिक पीठिका प्रदान करने वाले अभिनवगुप्त स्वयं इस समता से परिचित है। उन्होंने अभिनव भारती के चर्तुदश अध्याय में भरत की इस कारिका को उद्धृत किया है:

नामाख्यातनिपातोपसर्गतिर्द्धितसमासनिर्वर्त्यः।
सन्धिविभक्तनियुक्तो विज्ञेयो वाचकाभिनयः।।[1]

इस पर अभिनवगुप्त की 'भारती' है कि 'विभक्तयः सुप्तिङ्.वचनानि तैः कारकशक्तयो लिड.द्युपग्रहाश्चोपलक्ष्यन्ते।.......अनयैरपि सुबादवक्रतेति।"

---

1. हिन्दी ध्वन्यालोक – पृ0 – 271

अवश्य ही 'अन्यै' के द्वारा अभिनवगुप्त का संकेत कुन्तक की ओर है। अभिनवगुप्त के कथन का गुणीभूत व्यंग्य यह है कि ध्वनि–सिद्धान्त की इस स्थापना को ही कुन्तक ने वक्रता में रूपान्तरित किया है।

पदपूर्वार्द्धवक्रता के आठ भेद हैं – रूढ़िवैचित्र्यवक्रता, पर्यायवक्रता, उपचारवक्रता, विशेषण वक्रता, संवृति–वक्रता, वृत्ति वक्रता, लिंगवैचित्र्यवक्रता और क्रियावैचित्र्यवक्रता। इनमें से अधिकांश ध्वनि–भेदों के रूपान्तर ही है।

<u>पदपरराार्धवक्रता और ध्वनि</u> :– पदपरार्धवक्रता के भी लगभग आठ ही भेद हैं– कालवैचित्र्यवक्रता, कारकवक्रता, वचन–वक्रता, पुरुष–वक्रता, उपग्रह–वक्रता, प्रत्यय–वक्रता उपसर्ग–वक्रता और निपात वक्रता।

अवश्य ही ध्वनिकार ने इनमें से प्रत्यय, काल, कारक, वचन, उपसर्ग और निपात का तो उक्त कारिका (हिन्दी ध्वन्यालोक: 3।।16।।) में शब्दशः उल्लेख किया है। शेष रह जाते हैं पुरुष और उपग्रह वक्रता। ये भी 'च' में ही गर्भित माने जा सकते हैं। इस प्रकार ध्वनिकार की उपर्युक्त कारिका समस्त पदपरार्धवक्रता की प्रेरक सिद्धि होती है।

<u>वस्तुवक्रता और वस्तुध्वनि</u> :– "अर्थवक्रता ही वस्तुवक्रता है। वस्तु का उत्कर्षशाली स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ या वस्तु की वक्रता कहलाती है। स्वयं कुन्तक को इस तथ्य का अभिज्ञान है कि वस्तुवक्रता वस्तु की वाच्यता नहीं, बल्कि उसका प्रतिपादन है। प्रतिपादन तो वाच्यता को छोड़कर व्यंग्य रूप से भी हो सकता है। अवश्य ही अपनी इस स्थापना की पुष्टि में कुन्तक की ध्वनि के समीप पहुँच जाते हैं। वे वस्तुवक्रता के वर्णन के प्रसंग में, उपमा आदि वाच्य अलंकारों के अतिशय प्रयोग का वर्णन करते हैं। ये वाच्य अलंकार वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य को म्लान कर देते हैं। वस्तुतः कुंतक वाच्यता के निषेध में प्रतीयमान की खोज कर रहे है। वस्तु को देखने का यह कोण उन्हें आंनदवर्धन से मिला है। आनंद ने इसे ही वस्तुध्वनि कहा है। उनके अनुसार यह वस्तुध्वनि वाच्य से अत्यन्त भिन्न है।"[1]

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद – पृ० सं० – 225

आनंदवर्धन और कुंतक का पार्थक्य स्वल्प है। कुंतक वाच्यत्व में भी यत्किञ्चित सौन्दर्य का दर्शन करते हैं, किन्तु आनंदवर्धन मात्र प्रतीयमानत्व में ही सौन्दर्य का अस्तित्व स्वीकारते हैं। इस प्रकार कुन्तक की वस्तुवक्रता वस्तुध्वनि से ही गृहीत है।

<u>वाक्यवक्रता और ध्वनि</u> :- कुन्तक की वाक्यवक्रता में सम्पूर्ण अलंकारवर्ग सन्निविष्ट है। वस्तुवक्रता के प्रतीयमान सौन्दर्य के विपरीत कुन्तक की वाक्यवक्रता में वाच्यत्व का चमत्कार अधिक है। वाक्यवक्रता को यह पृथक् भूमि पर प्रतिष्ठित करता है। आनंदवर्धन स्पष्टतः अलंकारध्वनि का वाच्यार्थ से भिनत्व प्रतिपादित करते हैं। लेकिन वाच्यत्व को वाक्यवक्रता के आधार रूप में ग्रहण करते हुए भी कुन्तक, कतिपय अलंकारों में प्रतीयमानता का भी निर्देश करते हैं। उनके अनेक अलंकारों के वाच्य तथा प्रतीयमान ये द्विविध रूप हैं। रूपक, व्यतिरेक, उपमा, परिवृत्ति आदि में उन्होंनें वाच्यत्व के अतिरिक्त प्रतीयमानत्व का भी विधान किया है। आनंदवर्धन और कुन्तक दो कोणों से एक ही बिन्दु का दर्शन करते हैं। इसका एक छोटा सा प्रमाण तो यह भी है कि प्रतीयमान रूपक का जो उदाहरण कुन्तक ने दिया है उसे आनंदवर्धन ने रूपकध्वनि कहा है। 'लावण्य-कान्तिपूरित' पद्य आनंद की निजी रचना है और कुन्तक ने इसे ही उद्धृत किया है। इस प्रकार कुन्तक ने आनंदवर्धन की अलंकार ध्वनि को वाक्यवक्रता में आत्मसात् करने का प्रयत्न किया है।

प्रबन्धवक्रता और प्रबन्धध्वनि:"[1]

कुन्तक की प्रबन्धवक्रता आनंदवर्धन की प्रबन्धध्वनि की तुल्यकक्षता में है। आनंदवर्धन ने असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि का अस्तित्व रामायण और महाभारत आदि प्रबन्धकाव्यों में प्रतिपादित किया है। उन्हीं की तरह कुन्तक ने भी लिखा है कि किसी महाकवि के बताए हुए, रामकथा मूलनाटक आदि में इस पाँच प्रकार की वक्रता से सुन्दर सहृदयहृदयाह्लादकारी नायक रूप महापुरुष

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद - पृ0 सं0 - 226

का वर्णन ऊपर से किया गया प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में कवि का प्रयोजन केवल उस महापुरुष के चरित्र का वर्णन करना मात्र नहीं होता है अपितु राम के समान आचरण करना चाहिए, रावण के समान नहीं, इस प्रकार विधि और निषेधात्मक धर्म का उपदेश उस काव्य या नाटक का फलितार्थ होता है। कुन्तक के अनुसार यही उस प्रबन्धकाव्य की वक्रता या सौन्दर्य है। यह प्रबन्ध ध्वनि के सिवा और क्या है? भोज ने इसे महावाक्यार्थ की संज्ञा दी है। प्रबन्धवक्रता के प्रबन्ध रस–परिवर्तन–वक्रता नामक प्रथम भेद में कुंतक का कहना है कि इतिहास में अन्य प्रकार से निरूपित रस की उपेक्षा कर अन्य रस से कथा की समाप्ति से अपूर्व वक्रता का स्फुरण होता है।

आनन्दवर्धन ने प्रबन्धध्वनि को रस–रूप ही माना है। अतएव रस परिवर्तन प्रबन्धध्वनि का ही परिवर्तन है। कुन्तक को इसका भी अभिज्ञान है कि प्रबन्ध में कथा शरीर मुख्य नहीं है। मुख्य है यही प्रबन्धध्वनि। समान कथा के आधार पर निर्मित प्रबन्ध भी इसी कारण तुल्यकक्षता प्राप्त नहीं करते हैं। कुन्तक का कहना है कि कथाभाग समान होने पर भी शरीर में एक जैसे प्राणियों के सदृश्य अपने–अपने गुणों से काव्य और नाटक आदि प्रबन्ध अलग–अलग प्रतीत होते हैं। कारण यह कि प्रत्येक श्रेष्ठ कवि सिद्धि का नया मार्ग ढूढ़ता है। इसी कारण नये–नये उपायों से यह सिद्ध नीतिमार्ग का उपदेश करने वाले महाकवियों के सभी ग्रन्थों में सौन्दर्य रहता ही है। तात्पर्य यह है कि काव्य का पार्थक्य कथा के अन्तर पर नहीं प्रत्युत उसकी प्रबन्ध ध्वनि से स्थापित हो पाता है।

"इस प्रकार कुन्तक न तो ध्वनि के विभावन को अस्वीकार करते हैं और न इसे भक्ति या लक्षणा में ही अन्तर्भुक्त कर देते हैं। वस्तुतः ध्वनिसम्प्रदाय में आनंदवर्धन ने काव्य के जिन गहन तत्वों का उन्मीलन किया, उनकी उपेक्षा का कोई भी परवर्ती आलंकारिक नहीं चल सकता था। परवर्ती आचार्यों के सामने दो ही मार्ग शेष थे। या तो वे आनंदवर्धन का खन्डन कर आगे बढ़ते या उसे स्वीकार कर। यह आकस्मिक नहीं है कि उनके किंचित् परवर्ती महिमभट्ट ने

बतलाया कि वक्रोक्ति और ध्वनि एक ही चीज है। उनका तर्क है कि इसीलिए तो कुन्तक ने उसके वे ही भेद–प्रभेद और वे ही उदाहरण दिखलाए है। तब भी वक्रोक्ति और ध्वनि काव्य की आत्मा है और यह शरीरेतर धर्म है। किन्तु वक्रोक्ति वस्तुगत तत्व है– यह शरीर और आत्मा दोनों का युगपत् आचरण है। अतएव 'काव्यस्यात्माध्वनिः और 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' में स्पष्ट पार्थक्य है।"[1]

वक्रोक्ति और रस

कुन्तक सामान्यतः चमत्कारी आचार्य समझे जाते हैं। वक्रोक्ति में चमत्कार सन्निविष्ट है। लेकिन कुन्तक का चमत्कार बालरुचि वाले चमत्कार से भिन्न किसी उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित है। उन्होंने चमत्कार को प्रस्तुत के औचित्य से अनुशासित और नियमित किया है। इस कारण यह चमत्कार खालिस अनुप्रास, यमक, चित्रबन्ध, असंगति और विरोधाभास आदि की संकीर्ण सरणि से ऊपर उठकर सौन्दर्य के ही व्यापक अर्थ में बद्ध हो गया है। अतएव वे चमत्कार की इस संकीर्ण भूमि से निकलकर व्यापक नन्दतिक फलक पर वक्रोक्ति–सिद्धान्त को स्थापित कर सके हैं। उनकी वक्रोक्ति काव्य का सर्वातिशायी तत्व है। वैसा काव्य उन्हें कथमपि स्वीकार्य नहीं हो सकता। जिसमें अवक्र उक्तियों की प्रचुरता है। भामह से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होंने काव्य में 'लोकाति क्रांतगोचरता' को आवश्यक बतलाया। इसी में अतिशयोक्ति भी समाहित है। इसके अभाव में वक्रोक्ति–वैचित्र्य में चमत्कार नहीं आ सकता। इस लोकोत्तर चमत्कार के समीप पहुँचकर कुन्तक रस–सिद्धान्त को आत्मसात् कर लेते हैं। इस लोकोत्तर वैचित्र्य से उन्होंने तद्विदाह्लाद का तादात्म्य स्थापित किया है।

'रसवादी आचार्य ने रसों को शुद्ध मनोवैज्ञानिक पीठिका प्रदान की है। रस आस्वाद्य होता है। यह भोगरूप है। इन आचार्यों ने भोगरूप रस को चित्त की तीन दशाओं से सम्बद्ध कर दिया है। ये तीन दशाएँ हैं– द्रुति,

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद पृ0 सं0 – 227

दीप्ति और विस्तृति। शृंगार, करुण और शान्त का सम्बद्ध चित्त की द्रविणशीलता से है। वीर, वीभत्स और रौद्र में दीप्ति रहती है। इनमें चित्त की ज्वलनशीलता का क्रमिक विकास परिलक्षित होता है। हास, अद्भुत और भयानक में चित्त का उत्तरोत्तर विकास होता है। चित्त के इसी विस्फार को 'विस्मय' कहा गया है। विश्वनाथ ने बतलाया है कि "चमत्कार" शब्द "विस्मय" का समानार्थक। प्रसंगात् वे भी यह बतलाते हैं कि विस्मय सहृदय सामाजिक का चित्त विस्तार अथवा मनोविकास है। चमत्कार ही रसरूप अनुभव का प्राणभूत है। इस प्रकार विश्वनाथ ने चमत्कार को सत्वगुण से सम्बद्ध कर दिया है। इससे पूर्व आनंदवर्धन ने रसास्वाद को 'चेतश्चचमत्कृतिविधायी' कहा था। कुन्तक ने इसी व्यापक चमत्कार की अनुशंसा की है। इस कारण उनकी वक्रोक्ति रस–सिद्धान्त की श्रेष्ठ उपलब्धियों के विरोध में खड़ी नहीं होकर प्रत्युत आत्मसात् कर शक्ति संचय करती है।"[1]

अवश्य ही 'सालंकारस्य काव्यता' की उद्घोषणा करने वाला काव्य सिद्धान्त रस तत्व को स्वीकार कर ही आगे चला है। कुन्तक काव्य–लक्षण के प्रसंग में ही 'कवि–व्यापार' के साथ 'तद्विदाह्लादकारिता' को भी अनिवार्य मानते हैं (1।।7।।)। 'तद्विद' का तात्पर्य 'सहृदय' से है और 'सहृदय' आस्वाद पक्ष से सम्बद्ध है। काव्य प्रयोजन पर विचार करते हुए वे स्पष्टतः 'रस' शब्द का प्रयोग करते हैं:

> चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
> काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितयन्ते।।[2]

कुन्तक ने 'सहृदय' या 'तद्विद' को स्पष्टतया रसादिपरमार्थज्ञ अर्थात् रसादि के परम तत्व का वेत्ता कहा गया है।

> रसादिपरमार्थज्ञमनः संवादसुन्दरः ।।1।।26।।[3]

---

1. वक्रोक्ति – सिद्धान्त और छायावाद – पृ० सं० – 228
2. हिन्दी वक्रोक्ति – 1/5
3. वही – 1/26

उसी प्रकार सौभाग्य गुण को परिभाषित करते हुए 'सहृदय' के लिए 'सरसत्मानम्' शब्द का प्रयोग किया और उसकी व्याख्या के लिए 'आर्द्रचेतसाम्' कहा है–

सर्वसम्वपत्यरिस्पन्दसम्पाद्य सरसात्मनाम् ।।1।।56।।

सरसात्मनाम् आर्द्रचेतसाम् ....।[1]

इस प्रकार कुन्तक का सहृदय निश्चय ही सरसात्मा अथवा आर्द्रचित्त रसज्ञ ही है और उसका आह्लाद रसास्वाद ही है।

वक्रोक्ति –सिद्धान्त ने प्राचीन अलंकारिकों से भिन्न मार्ग पर संचरण करते हुए रस की अलंकारता का खन्डन किया है। कुंतक रस को अलंकार्य के ही रूप में ग्रहण करते हैं कि इसकी अलंकारता स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी की प्रतीते न होने से खण्डित हो जाती है।

अलंकारों न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।

स्वरूपादर्वतरिक्तस्य शब्दार्थासिगतेरपि। 3।।1।।[2]

रस के प्रति कुन्तक का आग्रह इतना अधिक है कि वे रसवत् को सब अलंकारों का जीवित मानने के लिए प्रस्तुत है तथा उसे वे काव्य का सर्वस्व अंगीकार करते हैं।

यथा स रसवन्नाम सर्वलंकारजीवितम्।

काव्यैकसारतां यति तथेदानी विवेच्यते।। 3।।14।।[3]

ध्यान देने की बात तो यह है कि रस का तिरस्कार कुंतक के पूर्ववर्ती अलंकारिकों ने भी किया था किन्तु यह काम उन्होंने उसकी अलंकार्यता का निषेध कर सम्पन्न किया। रस को आभूषण मात्र बना देने से बढ़कर उसका तिरस्कार और क्या हो सकता है? कुंतक ने भामह, उद्भट और दण्डी आदि की परम्परा का परित्याग कर रस के प्रसंग में रस–ध्वनिवादियों का ही अनुसरण किया। वक्रोक्ति चक्र में रस का स्थान क्या है? अलंकार्य

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति – 1/56
2. वही – 3/11
3. वही – 3/14

मान लेने से ही रस की अधिक काष्ठा प्राप्ति नहीं होती। अलंकार्य शरीर है और अलंकार आभूषण। परन्तु कुंतक के चिन्तन की व्याप्ति इतने ही तक सीमित नहीं है। उन्होने प्रसंगात् इस संदेह का निवारण कर दिया है।

रसवतोलंकार इति षष्ठीसमासपक्षेऽपि न सुस्पष्टमन्वयः।
यस्य कस्याचित् काव्यत्व रसवत्वमेव।।"[1]

किसी भी काव्य का रसवत्व ही उसका काव्यत्व है। इसकी महिमा से कुंतक इतने अभिभूत हैं कि वे अन्यविध व्याख्या के द्वारा रसवत के अलंकारत्व को स्वीकार कर लेते हैं।

रसेनवतते तुल्यं रसवत्वविधानतः।[2]
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाहादनिर्मितेः।। 3।।15।।

अर्थात् रसवत्व के विधान से सहृदयों के आह्लाददायक होने से जो अलंकार रस के समान हो जाता है, वह अलंकार रसवत् कहा जाता है।

रस की अलंकारता का प्रतिरोध तो कुंतक की 'प्रतिज्ञा' का निषेधमूलक पक्ष है। उसका विधेयात्मक पक्ष तो वस्तु रूप में ही रस की प्रतिष्ठा है यही तो रस की अलंकार्यता है। काव्य की वर्ण्यवस्तु को वे स्पष्ट रूप से रस स्वरूप मानते हैं और विविध प्रकार से उसकी रस निर्भरता का प्रतिपादन करते हैं। तदेवंविध स्वभावप्रधान्येन द्विप्रकारं सहजसौकुमार्य सरसं स्वरूपं वर्णनाविषयवस्तुनः शरीरमलंकार्यतामेर्वाहति। अर्थात् इस प्रकार (1) स्वभावप्रधान्य से और (2) रसप्रधान्य से दो प्रकार से वर्णना के विषयभूत वस्तु का सहज सौकुमार्य से रस स्वरूप शरीर ही अलंकार्यता के योग्य है। उन्होंने काव्य वस्तु के दो भेद किये हैं– चेतन और अचेतन। इसमें उन्होंने चेतन को ही मुख्य माना है और उसके लिए रसादि का परिपोष आवश्यक ठहराया है।

मुख्यमल्किष्टख्यादि परिपोषमनोहरम्।
स्वजात्युचितहेवाकसमुल्लेखोज्जवलं परम्।। 3।।7।।

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति – पृ0 – 352
2. हिन्दी वक्रोक्ति – 3/15
3. हिन्दी वक्रोक्ति – 3/7

कुंतक अचेतन वस्तु की काव्यता रसोद्दीपन सामर्थ्य के ही कारण मानते हैं। वस्तु का काव्यत्व वस्तुतः रसावहता के कारण ही सिद्ध होता है।

मार्ग–त्रय के धर्म–निरूपण में भी कुंतक ने रस की महिमा का संकेत किया है। सुकुमार मार्ग के निरूपण में उन्होंने रसादिपरमार्थज्ञमन संवाद सुन्दरम्' (1।।26।।) कहा है। विचित्रमार्ग 'सरसाकूत' और 'रसनिर्भराभिप्रायः' (1।।41।।) है। मध्यम मार्ग में चूँकि दोनों मार्गों के गुण परस्पर स्पर्धा करते हैं, अतएव उसे भी रसपुष्ट होना चाहिए। इस प्रकार वक्रोक्तिचक्र में रस संचरण एक अनिवार्य उपादान है।

कुन्तक वाक्यों में प्रबन्ध को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उनकी प्रबन्ध वक्रता वक्रोक्ति की काष्ठा प्राप्ति है। प्रबन्ध का आधार है कथाशरीर। कथाशरीर का आधार ग्रहण कर ही कवि अपने प्रबन्ध के झरोखे और मेहराब बनाता है। लेकिन कथा कवि प्रतिभा के विलास का अन्यतम क्षेत्र नहीं है। कुन्तक स्पष्टतः प्रतिपादित करते हैं कि निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले संदर्भों से परिपूर्ण कवियों की वाणी कथामात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती है।

निरन्तररसोद्गारगर्भसंदर्भनिर्भराः
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमारिताः।।[1](4।।4।। का अन्तःश्लोक)

प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता के अनेक प्रकारों के भीतर भी कुंतक ने रस–चमत्कार का अर्न्तभाव किया है। उन्होंने प्रबन्ध–रस–परिवर्तनवक्रता को ही प्रबन्धवक्रता का प्रथम प्रकार बतलाया है तात्पर्य यह कि कवि में नवीन रस के उन्मीलन की क्षमता होनी चाहिए। एकरसता मनुष्य के मनोविज्ञान के प्रतिकूल पड़ती है। जैसे एक ही भोजन अरुचिकर लगने लगता है, वैसे ही विरसता को हटाने के लिए प्रबन्ध में अंगीरस के अतिरिक्त अन्य रसों को आना चाहिए। कुन्तक ने प्रबन्धवक्रता का एक प्रकार वह भी

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति – 4/4

माना है जिसमें सरस कवि इतिहास के किसी एक देश को अपनी संरम्भगोचरता का विषय बनाता है और उत्तरवर्ती विरस कथा का परित्याग कर देता है (4।।18–9।।)। इस प्रकार कुन्तक की प्रबन्धवक्रता का आधार है रस। अंगीरस तथा अंगरस के परस्पर आनुकूल्य के महनीय सिद्धान्त से वे भलीभाँति परिचित हैं।

रस स्वरूप की मीमांसा में कुन्तक ने ध्वनि–सिद्धान्त का अनुसरण किया है। वे रस को वाच्य नहीं वरन् व्यंग्य मानते हैं। प्रसंगात् उद्‌भट द्वारा मान्य रस के स्वशब्दवाच्यत्व का उपहास वे इन शब्दों में करते हैं:

"रसों की स्वशब्दनिष्ठताहमने आज तक नहीं सुनी है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि अपने वाचक शब्दों के द्वारा कहे जाकर श्रवण से ग्रहीत होते हुए, सहृदयों को आस्वाद का आनन्द प्रदान करते हैं। इस युक्ति से तो धृतपूर आदि पदार्थ नाम लेने मात्र से खाने का आनन्द लेने लगते हैं (यह सिद्ध हो जावेगा)। इस प्रकार उन उदारचरित महाशयों ने किसी भी पदार्थ के उपभोग का सुख प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सभी व्यक्तियों के लिए, उस पदार्थ का नाम लेने मात्र से त्रैलोक्य के राज्यप्राप्ति तक के सुख की प्राप्ति बिना प्रयत्न के सिद्ध कर दी है।" इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त में भी रस व्यंग्य होता है न कि वाच्य।"[1]

वक्रोक्ति यदि काव्य जीवित है और रस काव्य का परम तत्व है, तब रस और वक्रोक्ति का संबंध क्या हुआ? प्रसंगात् हम कुन्तक की वक्रोक्ति विषयक धारणा को फिर साफ कर लें। वक्रोक्ति काव्यजीवितम् का आशय यही है कि काव्यस्वरूपतः कला है, अनुभूति नहीं है। ध्यान देने की बात यह है कि कुन्तक काव्य की आत्मा के झमेले में नहीं पड़ते हैं। वे काव्य को अलंकार नहीं मानते हैं, क्योंकि अलंकार जिसे कहा जाता है वह तो काव्य शरीर

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित – पृ0 सं0 – 344

है। उनके आकर्षण का केन्द्र काव्य है न कि रस और ध्वनि। कलाओं के आस्वाद का परम रहस्य आनन्द है और इसमें आलोचकों के काव्य से विलग कर देने की बड़ी मोहक शक्ति है। काव्यमार्ग के शब्दों की गति और अर्थ में इस आनन्द (रसरूप) का प्रच्छन्न एहसास आलोचकों में रहता है। रस की अलौकिकता अन्ततः इन्हीं शब्दों से निःसृत होती है। रस तो कई हैं, अनुभूतियों की इन विभिन्न स्थितियों से काव्य निर्माण नहीं होता है। और न समाजिकों के लिए इन विभिन्न स्थितियों को आनन्द की एकान्विति में ढालना ही सम्भव है।"[1] अतएव काव्यलोचन का वह सिद्धान्त जो अनुभूति दर्शन पर आधृत है, आलोचक के लिए कई कठिनाइयां उत्पन्न कर देता है। अतएव आलोचक की व्यवहारिक सुविधा का ख्याल रखते हुए कुंतक ने आत्मा की खोज नही की, अनुभूतिवादी सिद्धान्त से बचकर निकल गये और रचना को ही आलोचक की मीमांसा का केन्द्र माना। इसी कारण वक्रोक्ति को उन्होंने काव्य का जीवित बतलाया।[2]

वक्रोक्ति और औचित्य

आधुनिक आलोचना की भाषा में वक्रोक्ति कल्पना विलास है, जैसा कि लौंगिनुस ने कहा है कि 'कल्पना–विलास' में भी संयम आवश्यक है। कल्पना के अतिचार से काव्य वागाडम्बर से ग्रस्त हो जाता है। इसी हेतु कुन्तक ने वक्रोक्ति और औचित्य के युगपत् अस्तित्व कोस्वीकार किया है। एक ओर रस तथा दूसरी ओर औचित्य से अपनी वक्रोक्ति को अनुशासित कर उन्होंने कोरे चमत्कार से उसे ऊपर उठाकर शुद्ध काव्य–सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

कुन्तक ने काव्य में अलंकार्य और अलंकार की सत्ता स्वीकार की है। यह अलंकार वक्रोक्ति है। इसके अतिरिक्त अपने काव्य सिद्धान्त

---

1. वक्रोक्ति – सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 – 231
2. वक्रोक्ति– सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 – 232

को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने साहित्य आदि कई शब्दों का परिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है। साहित्य के साथ–साथ ही वे औचित्य और सौभाग्य नामक साधारण गुणों का भी उल्लेख करते हैं औचित्यको परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि उचित वर्णन ही जिसका प्राण है, इस प्रकार के स्वभाव का महत्व स्पष्ट रूप से जिसके द्वारा परिपुष्ट किया जाता है, वह औचित्य है।

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्वं येन पोष्यते।

प्रकारेण तदौचित्यमु चिताख्यानजीवितम्।। 1।।53।।[1]

स्वभावोल्लेख को उचिताख्यान से युक्त होना ही चाहिए। क्षेमेन्द्र 'औचित्यविचारचर्चा' में लिखते हैं: उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।' कुन्तक का कहना है कि स्वभाव का स्पष्ट रूप से परिपोषण ही वक्रता का परम रहस्य है। पदार्थ का उचित रूप से कथन के ही जीवन स्वरूप होने के कारण वाक्य के एकदेश में भी औचित्य का अभाव होने से सहृदयों के आह्लादकारित्व की हानि होती है। इस प्रकार वक्रोक्ति औचित्य का दूसरा नाम है।

कुन्तक ने शब्द और अर्थ के परमार्थ्य की मीमांसा की है। उनका शब्दपरमार्थ्य केवल पदौचित्य और अर्थ पारमार्थ्य अर्थौचित्य है। उनके अर्थ पारमार्थ्य में उपकल्पना के औचित्य का भी समावेश है– प्रतिभौचित्य। राजशेखर की बालरामायण का उदाहरण देकर कुंतक ने बतलाया है कि इसमें प्रकृत्यौचित्य का अभाव है। कुंतक के अनुसार इस औचित्य का निकष रस ही है।[2]

साहित्य के विभावन को स्पष्ट करते हुए उन्होंने वृत्तौचित्त का उल्लेख किया है– वृत्तौचित्तमनोहारि रसानां परिपोषणम्।' यह औचित्य या तो कौशिकी आदि नाट्य–वृत्तियों से संबंध रखता है अथवा उपनागरिका आदि अनुप्रास जातियों से। उपनागरिका वृत्ति का औचित्य रीति संघटना, गुण अथवा

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति – 1/53

2. वक्रोक्ति : सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 233

वर्ण का औचित्य है और कुंतक ने इसे वर्णविन्यासवक्रता कहा है। डॉ0 राघवन ने बतलाया है कि यही आनंदवर्धन की वर्णसंघटनाध्वनि अथवा क्षेमेन्द्र का गुणौचित्य है। कुंतक का कहना है कि वर्णों को प्रस्तुत के औचित्य से युक्त होना ही चाहिए। उन्होंने अनुप्रासों के औचित्य पर विचार करते हुए बतलाया है कि उसे अत्यन्त आग्रहपूर्वक विरचित नहीं होना चाहिए और पूर्व आवृत्त को छोड़कर नवीन के पुनरावर्तन का प्रयास करना चाहिए (2/4)। अलंकारौचित्य का प्रथम सिद्धान्त यह है कि वह अत्यन्त आग्रहपूर्वक विरचित न हो। कुन्तक का कहना है कि सायास प्रयत्नपूर्वक रचना करने से प्रस्तुत के औचित्य की हानि होने से शब्द और अर्थ का परस्परस्पर्धित्व रूप 'साहित्य' का अभाव हो जाता है। उनके अनुसार अलंकारों का प्रस्तुत के अनुरूप उचित प्रयोग ही वांछनीय है। वाच्य अलंकार उपमा आदि का अधिक उपयोग उचित नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें स्वाभाविक सौन्दर्य के अतिशय में मलिनता आने का भय रहता है। (3।1 की वृत्ति)। यही तो अलंकारौचित्य है। कुंतक औचित्य के एक और प्रकार का निर्देश करते हुए कहते हैं कि अपेशल वर्णों से बचना चाहिए। आनंदवर्धन और रुद्रट के यमकौचित्य के संबंध में कुन्तक यों कहते हैं:

> औचित्ययुक्तमाद्यादिनियतस्थानशोभि यत्।
> यमकं नाम कोप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते।।[1]2।।7।।

इस कारिका की वृत्ति में कुन्तक ने बतलाया है के औचित्य से तात्पर्य वस्तु के स्वभाव उत्कर्ष से है। यानि जहाँ यमक रचना के व्यसन से भी औचित्य की न्यूनता नहीं हुई हो। रसवद् यमक के विरल उदाहरणों को उन्होंने औचित्य पर बल दिया है। औचित्य के अनुरूप सुन्दर और सहृदयों के आह्लादकारक पदार्थों के प्रतीयमान धर्म को प्रकाशित करने वाली वस्तु दीपक अलंकार है।(3।17)।"[2]

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति – 2/7
2. वही – 3/17

प्रत्ययवक्रता पर विचार करते हुए कुंतक ने बतलाया है कि यह प्रस्तुत के औचित्य के अनुरूप सौन्दर्य को प्रकाशित करता है।

प्रस्ततौचित्यविच्छिंत्ति स्वमहिम्नाविकासयन्।
प्रत्ययः पदमधेऽन्यामुल्लासयति वक्रताम्।।2।।17।।[1]

इस कारिका की वृत्ति में वे स्पष्ट करते हैं कि अपने उत्कर्ष से प्रस्तुत के औचित्य की विच्छित्ति को यह प्रकाशित करता है। कुन्तक ने इसके दो उदाहरण भी दिये हैं। उसी प्रकार वे लिंगवक्रता पर विचार करते हुए कहते हैं कि जहाँ अन्य लिंग संभव होने पर भी विशेष शोभा के लिए अर्थ के औचित्य के अनुसार किसी विशेष लिंग का ही प्रयोग किया जाता है, वह लिंग वैचित्र्यवक्रता है (2।23)। उनकी वृत्ति है: कस्मात्कारणात् वाच्यौचित्यानुसारतः। वाचस्य वर्णमानस्य वस्तुनो यदौचित्यम् पदार्थौचित्यमनुसृत्येत्यर्थः। इस प्रकार कुन्तक जगह–जगह औचित्य का उल्लेख वस्तु रस अथवा प्रस्तुत के सन्दर्भ में करते हैं। वे इसे प्रस्ततौचित्य, स्वभावौचित्य आदि कहते हैं। क्रियावैचित्र्यवक्रत्व का विवेचन करते हुए वे पुनः 'प्रस्ततौचित्यचारवः' कहते हैं।

कुन्तक ने कालौचित्य पर भी विचार किया है। इसमें औचित्य की अन्तरतमता से काल वैचित्र्य को प्राप्त हो जाता है।

औचित्यान्तरतक्येन समयो रमणीयताम्।।2।26।।[2]

उसी प्रकार उपग्रह के औचित्य पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि कवि औचित्य से परिचालित होकर परस्मैपद तथा आत्मनेपद में से कोई एक चुन लेता है।

पदयोरुभयोरेकम् औचित्याद्विनियुज्जयते।
शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रहवक्रताम।।2।31।।[3]

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति – 2/17
2. वही – 2/26
3. वही – 2/31

अपने ग्रन्थ के तृतीय उन्मेष में उन्होंने अनेक जीवों और वस्तुओं के स्वाभावौचित्य पर विचार किया है।

भावानामपरिक्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम्।[1]

चेतनानां जड़ानां च स्वरूपं द्विविधं स्मृतम्।।3।5।।

× × × × × × × × × × × × × × × × ×

स्वाजात्युचितहेवा कसमुल्लेखोज्ज्वलं परम्।।3।7।।[2]

पुनः वे व्यवहारौचित्य पर विचार करते हैं। उनका व्यौहारौचित्य 'लोकवृत्त योग्यम्' है।

धर्मादिसाधनोपायपरिस्पन्दनिबन्धनम्।

व्यवहारोचित्य चान्यल्लभते वर्णनीयताम्।।3।10।।"[3]

इस प्रकार कुन्तक की वक्रोक्ति अद्यान्त औचित्य से अनुशासित है। डॉ0 नगेन्द्र ने इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि प्रकरण तथा प्रबन्धवक्रता के प्रसंग में भी कुन्तक ने अनेक प्रकार से औचित्य का स्तवन किया। उनकी प्रकरणवक्रता का एक भेद हैः उत्पाद्य–लावण्य। इसके दो उपभेद हैंः (1) अविद्यमान की कल्पना, (2) विद्यमान का संशोधन। वस्तुतः इन दोनों उपभेदों की आधार शिला औचित्य की कल्पना ही है। स्वयं कुन्तक बतलाते हैं कि औचित्यरहित अर्थ का सहृदयों के हृदय के आह्लाद के लिए अन्य प्रकार से परिवर्तन कर दिया जाता है, जैसे उत्तरराघव में मारीचवध। उसी प्रकार प्रकरणवक्रता के तृतीय प्रकार, जिसमें प्रकरणों का प्रधान कार्य से सम्बद्ध उपकार्य–उपकारक भाव रहता है, भी औचित्य से मर्यादित है। प्रबन्धवक्रता के कई भेदों में भी औचित्य की प्रच्छन्न अवस्थिति है। उसके दूसरे भेद में कवि उत्तर भाग की नीरसता का परिहार करने के लिए त्रैलोक्य को चकित करने वाले, नामक–चरित्र के पोषक इतिहास–प्रसिद्ध कथा के प्रकरण विशेष पर ही

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति – 3/5
2. वही – 3/7
3. हिन्दी वक्रोक्ति – 3/10

कथा की परिसमाप्ति कर देता है (4।18–9)। इसके पंचम प्रकार में उन्होंने बतलाया है कि नामकरण की विचक्षणता से ही प्रधान कथा का द्योतन हो जाता है। प्रबन्धवक्रता के द्वितीय प्रकार में कथा के नीरस भाग का परिहार कवि औचित्य के अनुशासन से ही करता है और नामकरणवक्रता क्षेमेन्द्र का नामौचित्य ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वक्रोक्ति सिद्धान्त औचित्य से पूरी तरह अनुशासित है। वक्रता के लगभग सभी प्रकारों में औचित्य वस्तु अथवा रस के संबंध से उद्भासित हुआ है। वक्रोक्ति औचित्य का ही दूसरा नाम है। पदौचित्य को पदवक्रता के नाम से अभिहित करते हुए कुंतक स्वयं इसे स्वीकार करते हैं। वस्तुतः आनंदवर्धन की ध्वनि के अनेक उदाहरण, अभिनवगुप्त का वैचित्र्य, कुन्तक की वक्रता और क्षेमेन्द्र का औचित्य लगभग पर्याय ही हैं। कुन्तक के वक्रत्व के अनेक प्रकार अभिनव भारती में वैचित्र्य के भेद से मिलते–जुलते हैं। ध्वनि औचित्य और वक्रत्व का यह परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्ध आकस्मिक बात नहीं है। महिम भट्ट ने कुन्तक की कारिका 'शब्दार्थौ सहितौ' आदि को उद्धृत करते हुए कहा है कि यह जो शब्दार्थ की प्रचलित योजना से भिन्नता है, वह शब्द और अर्थ का औचित्य ही ठहरेगी, या अभिधावृत्ति से बतलाये गये सर्वानुभूत अर्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति होना। इस प्रकार वक्रोक्ति और औचित्य में कोई अति प्रगाढ़ सम्बन्ध है।"[1]

रीति

साहित्य के विभावन के ही समान रीति के क्षेत्र में भी वक्रोक्ति सिद्धान्त ने विलक्षण क्रान्ति उपस्थित की। डॉ० राघवन के अनुसार भारतीय काव्यशास्त्र में रीति के विकास के तीन सोपान है। पहला सोपान वह है जबरीति देश से सम्बद्ध मानी जाती थी। दूसरा सोपान वह है जब वह देश के आसंगों से मुक्त होकर वस्तु के साथ जोड़ दी गयी। तीसरा और

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 236

सबसे महत्वपूर्ण सोपान यह है कि कुन्तक ने अपनी प्रखर मेधा और साहित्यिक प्रतिभा का उपयोग करते हुए इसे कवि स्वभाव से सम्बद्ध बतलाया और पुरानी रीतियों के स्थान पर नयी रीतियों की स्वतन्त्र उद्‌भावना की । इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त ने रीति के क्षेत्र में भी पुराण रीति का व्यतिक्रम किया और भारतीय काव्यशास्त्र को इस क्षेत्र में जड़ चिन्तन से मुक्त करने में ठोस योगदान दिया।

रीति का सिद्धान्त अलंकारों के अति सूक्ष्म भेदों – उपभेदों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। इसकी उद्‌भावना के मूल में यह विचारणा थी कि काव्य शरीर का प्रभाव खंडशः नहीं प्रत्युत समग्रतः पड़ता है। अलंकारों के अतिवाद ने खंडप्रभाव को जन्म देकर काव्य का बड़ा ही अनिष्ट किया। रीतिवाद ने यह स्थापना दी कि कवि के प्रस्थान का मार्ग ही वह साँचा है जिससे ढलकर अलंकार स्वयं निःसृत होते हैं।

"रीति को पंथ और मार्ग भी कहते हैं। भारतीय साहित्य में रीति से काव्यपुरुष के गठन का बोध होता है। अतएच काव्य में रीति का सम्बद्ध उत्कृष्ट से संघटन से माना जाता है। यह तो स्पष्ट है कि जब लक्ष्य ग्रन्थों की रीति का स्पष्ट पार्थक्य दीखने लगा होगा, तब लक्षणग्रन्थों में इस पार्थक्य पर विवेचन शुरू हुआ होगा। जिस प्रकार देश–भेद से मनुष्य के व्यवहार की रीति में अन्तर आ जाता है, उसी प्रकार साहित्य में भी देश के आधार पर रीतियों का वर्गीकरण किया गया।[1] रीति की भौगोलिक उद्‌भावना का आधार भरत में ही मिल जाता है। उन्होंने स्पष्ट रूप से रीति का उल्लेख तो नहीं किया है, किन्तु वे भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं। भारत के पश्चिमी भाग की प्रवृत्ति आवन्ती दक्षिण भाग की प्रवृत्ति दक्षिणात्य, उड्र अर्थात् उड़ीसा तथा मगध उड्रमागधी और पांचाल की पांचाली है।

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 –170

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्य प्रयोक्तृभिः।
आवन्ती दक्षिणात्या चं पाञ्चाली चौड्रमागधी।।[1]

भरत के अनुसार प्रवृत्ति का सम्बन्ध नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार आदि से है। अतएव उनकी प्रवृत्ति का सम्बन्ध भाषा से अधिक जीवनचर्या से ही दीखता है। वाणभट्ट ने यह लक्ष्य किया था कि भारत के विभिन्न प्रदेशों के लोग काव्य की अलग–अलग विशेषताओं में रस लेते हैं। उत्तर भारत के लोग श्लेष, पश्चिम के लोग अर्थ–गौरव, दक्षिणात्य उत्प्रेक्षा और गौड़ लोग अक्षराडम्बर पर मुग्ध होते हैं।

श्लेषप्रायमुदीचेषु प्रतीच्येण्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दक्षिणात्येषु गौड़ेष्वक्षरडम्बरः।।[2]

किन्तु स्वयं वाण अपनी रचना में इन सभी गुणों के समाहार की कामना करते है।

रीति की पहली स्पष्ट चर्चा भामह में मिलती है। उन्होंने वैदर्भ और गौड़ की चर्चा रीति में नहीं की, बल्कि काव्यभेद के अर्न्तगत की है। उनके विवेचन से यह साफ झलकता है कि उस समय पंडितों का ऐसा सम्प्रदाय था जो वैदर्भ को ही श्रेष्ठ काव्य मानता था। भामह इस दृष्टि को निस्सार और आग्रह मानते हैं। वह पहली बार तात्विक ढंग से विचार करते हुए कहते हैं कि यह गौड़ है, यह वैदर्भ है, क्या ऐसा पार्थक्य संभव है? बुद्धिहीन लोग गतानुगतिकता के कारण ही ऐसा कहा करते हैं।

गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्।।[3]

"भामह की प्रतिभा ने प्रथम बार इस भौगोलिक धारणा की असारता पर चोंट की। उन्होंने बतलाया कि नाम प्रायः इच्छा प्रसूत

---

1. नाट्यशास्त्र – 13/17
2. हर्ष चरित – 1/7
3. काव्यलंकार – 1/32

होते हैं उनका अर्थ से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता है। इस तरह एक ओर वैदर्भ तथा दूसरी ओर गौड़ीय – वह दोनो मार्गों की सीमाओं का निर्देश करते हैं। उनके अनुसार अर्थगाम्भीर्य और वक्रोक्ति से रहित, स्पष्ट सरल, और कोमल वैदर्भ काव्य सच्चे काव्य से भिन्न, संगीत के समान केवल श्रुतिमधुर होता है। उसी प्रकार अलंकारयुक्त, ग्राम्यतारहित, अर्थवान्, न्यायसंगत, अनाकुल गौड़ीय मार्ग भी अच्छा है, अन्यथा इन गुणों से वंचित वैदर्भ भी श्रेयस्कर नहीं है। इस प्रकार भामह ने रीति की भौगोलिक सीमाओं को समझा था और संक्षेप में ही सही, किन्तु, उसकी असारता प्रमाणित की थी। उन्होंने निर्भान्त रूप से रीतियों की वस्तुपरक दृष्टि पर प्रहार किया और उसकी प्रादेशिकता को अस्वीकार किया। इस प्रकार रीति के क्षेत्र में नव्य चिंतन का सूत्रपात उन्हीं से होता है।"[1]

दण्डी ने भी बहुत दूर तक रीति की वस्तुपरक दृष्टि का तिरस्कार किया। उन्होंने स्वीकार किया है कि वाणी के मार्ग अनेक हैं, जिनमें परस्पर सूक्ष्म भेद हैं। वह वैदर्भ और गौड़ीय मार्गों के स्पष्ट पार्थक्य को लक्ष्य करते हैं। उन्होंने श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज कांति और समाधि – ये दस वैदर्भ मार्ग के गुण बतलाये हैं। गौड़ मार्ग में इनका प्राय:विपर्यय लक्षित होता है। किन्तु दण्डी का कहना है कि इसमें अवान्तर भेद कवि भेद से अनन्त हैं, उनका वर्णन असम्भव है। वे दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार ईख, दूध एवं गुड़ में वर्तमान माधुर्य में अन्तर है, वह अन्तर महान है परन्तु उसका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकती। उसी प्रकार गौड़ वैदर्भ सम्प्रदायान्तर्गत उपभेदों के बीच महान भेद का वर्णन अशक्य है। इस प्रकार दण्डी की स्थापना का यह निष्कर्ष तो है ही कि रीति आत्मगत तत्व है और प्रत्येक कवि की अपनी रीति होती है। चूँकि कवि अनेक हैं इसलिए रीतियों की वास्तविक संख्या भी नियत नहीं है।

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 – 171

लेकिन दण्डी वैदर्भ और गौड़ी के परम्पराभुक्त वर्गीकरण का अतिक्रमण नहीं कर सके। फिर वैदर्भ को श्रेष्ठ और गौड़ी को हीन मानने में वह भामह की उद्‌भावना से पीछे चले गये हैं। लेकिन भामह की ही तरह उनका भी योगदान यह है कि उन्होंने रीतियों की सापेक्षता पर बल दिया।

रीति को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले वामन ने भामह और दण्डी के वैदर्भ और गौड़ी के साथ पांचाली को जोड़ दिया। वामन में आकर रीतियाँ भौगोलिक आसंगों से मुक्त होने लगी और वे गुणों से स्पष्टतः अनुशासित बतलायी गयी। वामन ने विशिष्ट पद रचना को रीति कहा — "विशिष्ट पद रचना रीतिः।' विशेष से उनका तात्पर्य गुण से है। वामन के मन्तव्य को हम आधुनिक समीक्षा की दृष्टि से समझने का प्रयास करे। जॉन लिविंग्सटन लोवेस का कहना कि गद्य और काव्य की रीतियों का मुख्य अन्तर इन दो माध्यमों में शब्दों के व्यापार का अंतर है। गद्य में शब्दों का मुख्य काम कहना है, किन्तु काव्य में शब्दों का मुख्य काम ध्वनित करना है। गद्य के शब्द केवल उक्ति की स्पष्टता के लिएप्रयुक्त होते हैं। उसमें शब्द रेखागणित की भुजाओं की तरह ठण्ड होते हैं। ये शब्द किसी एक विचारसूत्र को व्यक्त कर देते हैं। किन्तु किसी आवेग को जन्म नहीं देते हैं। लेकिन काव्य में शब्द आयोग को सम्प्रेषित करते हैं। इसलिए उनका विन्यास विशेष ढंग से किया जाता है। इसी हेतु राजशेखर ने वचन—विन्यासक्रम को रीति कहा है— वचनविन्यासक्रमोरीतिः। यह विशेष विन्यास एक परिवेश का निर्माण करता है। इस विशेष विन्यास को हटा दीजिए, कविता का आकर्षण ओस कणों की तरह सूख जायेगा। जाबर्ट का कहना है कि काव्य की रीति में प्रत्येक शब्द सुनियोजित बीन की तरह प्रतिध्वनित होता हैऔर हमेशा प्रचुर स्पन्दों को छोड़ जाता है। कवि की सिद्धि इस बात में है कि वह शब्दों के नियत और अनियत अनुगूँजों का समवाय उपस्थित करे। वामन ने इसी अर्थ में विशिष्ट पदरचना को रीति कहा है। स्वयं वामन इस विशेष को

गुण से सम्बद्ध करते हैं। यह गुण भी वस्तुतः शब्द विन्यास का ही तो परिणाम है। वे ही शब्द जब कोश में पड़े रहते हैं, तब उनमें इन गुणों का अस्तित्व नहीं होता है। किन्तु ये गुण कवि कर्म से निःसृत होकर समाविष्ट हो जाते है। इस प्रकार इस भ्रान्त धारणा का स्वतः खण्डन हो जाता है कि काव्य के शब्द गद्य के शब्द से भिन्न होते हैं भिन्नता, शब्दकोश की नहीं, प्रत्युत–पद रचना की विशिष्टता की ही होती है। इसलिए वामन जब रीति को काव्य की आत्मा कहते हैं, तब वह सत्य के किसी न किसी पहलू को छूते नजर आते हैं। वामन के अनुसार वैदर्भी रीति में समस्त गुणों का सद्भाव रहता है। किन्तु गुणों को ही रीतियों का आधार मानने का एक परिणाम यह हुआ कि उनकी गौणी दण्डी की तरह निकृष्ट कोटि की गौड़ी रीति नहीं रह गयी, प्रत्युत वह वैधर्मी के ही समान सुन्दर तथा आह्लादक हो गयी। इसमें कान्ति तथा ओज गुणों की प्रधानता रहती है। इसमें इन दो गुणों का अभाव तथा माधुर्य और सौकुमार्य का सद्भाव रहता है। किन्तु भामह ने जहाँ किसी एक रीति को श्रेष्ठ घोषित नहीं कर बड़ी विचक्षणता का परिचय दिया था, वहाँ वामन फिर पुराण की रीति की ओर लौट आते हैं। वे रचयिता को परामर्श देते हैं कि वे वैदर्भी का ही आश्रय ग्रहण करें, क्योंकि इसी में गुणों की समग्रता रहती है। वे यह भी कहते हैं कि गौड़ी और पांचाली का ग्रहण न करें, क्योंकि इनमें गुणों की अल्पता रहती है। इस प्रकार वामन रीति की समस्या को फिर उलझा देते हैं।

"स्वयं वामन का उलझ जाना अच्छा नहीं हुआ। वे प्रतिभाशाली और मौलिक आचार्य है। अतएव उनकी भूल घातक सिद्ध हुई। इससे रुद्रट जैसे अपेक्षया कम प्रतिभासम्पन्न आचार्यो के लिए गलत चिन्तन का द्वार उन्मुक्त हो गया। रीति के विभावन को स्पष्ट करने में रुद्रट ने बुनियादी गलती की है। वे समस्या को समझ नहीं सके हैं। उन्होंने उद्भट के अनुसरण पर रीति को शब्दालंकार (अनुप्रास) के अन्तर्गत विवेचित किया है। रुद्रट ने रीति को मात्र समासाश्रित उनकी लटीया पाँच सात पदों वाली और गौड़ी सात या उससे अधिक पदों के समास से युक्त होती है वस्तुतः

रीति को काव्य की तात्विक संघटना से भिन्न शब्दालंकार मात्र समझना विषय का गलत विभावन है। किन्तु रुद्रट ने एक महत्वपूर्ण काम यह किया कि उन्होंने रीतियों को भौगोलिक आसंगों से पूरी तरह मुक्त कर उसे वस्तु से सम्बद्ध कर दिया। उन्होंने बतलाया कि प्रयान्, करुण, भयानक और अद्भुत इन चार रसों में वैदर्भी और पांचाली रीति का प्रयोग करना चाहिए और रौद्र रस में लाटीया तथा गौड़ी का। इस प्रकार रीति के पूर्वस्वीकृत तीन भेदों में रुद्रट ने अपनी लाटीया जोड़ दी।[1]

आनन्दवर्धन ने रीति को संघटना कहा है। सम्यक पद रचना ही संघटना या रीति है। वामन के लिए रीतिसिद्ध है, किन्तु आनन्दवर्धन के लिए वह साधनमात्र है। उनका कहना है कि संघटना गुणों के आश्रित होकर रसादि को अभिव्यक्त करती है। आनन्दवर्धन ने संघटना और गुणों को अन्योन्याश्रित माना है। उन्होंने संघटना के तीन प्रकार बतलाये हैं – असमासा, मध्यसमासा और दीर्घ समासा। इस प्रकार आनन्दवर्धन की रीति समासाश्रित है, गुणाश्रित है और वह रसाभिव्यक्ति का माध्यम है।

"एक प्रतिभशाली कवि अपनी शक्ति से किसी भी वस्तु को रमणीय बना देता है। वह वस्तु में, कभी कभी अवस्तु में भी, अपने व्यक्ति तत्व का कुछ न कुछ समावेश कर उसे जीवन्त बना देता है। प्रसिद्ध अमरीकी चिन्तक और आलोचक जॉन बौरो के अनुसार एक लेखक हमें मात्र उतना ही नही देता है, जितना वह सोचता अथवा जानता है, वरन् वह हमें अपने को देता है। उसके और पाठक के बीच कुछ भी गौण अथवा कृत्रिम नही रहता है। यह तो इसी कोटि की कृतियां होती हैं, जिन्हें मानव जाति नष्ट नहीं होने देती है। कुछ विचारक प्रज्ज्वलित अग्नि के समान होते हैं; उनके साथ हमारा प्रेषण कितना प्रत्यक्ष और त्वरित होता है, वे किस प्रकार हममें आकर्षण उत्पन्न करते हैं; हम उनके चैतन्य का साक्षात्कार करते हैं। वस्तुतः सभी अच्छा साहित्य – गद्य अथवा काव्य – अनावृत अग्नि के समान है– उसमें प्रत्यक्षता, यथार्थ और आकर्षण का योग रहता

---

1. वक्रोक्ति – सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 – 173

है– हम कुछ ऐसी चीज का अनुभव करते हैं, जो हमें ऊष्ण और उत्तेजित कर देती है। मधुमक्खी पुष्पों से मधु का संचय नहीं करती है। मधु स्वयं मधुमक्खी का उत्पादन है। मधुमक्खी तो पराग मात्र का संचय करती है और वह उसी से मधु बना लेती है। साहित्य में कवि के स्वभाव का योगदान लगभग ऐसा ही है। जैसा कि जॉन बौरो ने कहा है कि शक्तिमान लेखक शब्द को अपना बना लेते हैं। साहित्यिक गुण ऐसी चीज नहीं है, जो परिधान की तरह पहन ली जाए। यह गुण कलम का नहीं, मन का होता है; यह मन का भी नहीं, आत्मा का धर्म है। यह वह चीज है, जो लेखक में सबसे प्राणवन्त है और व्यवच्छेदक होता है। गुण ऐसी वस्तु है जिसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता और कला में यही एक चीज है, जिसका अनुसरण अशक्य है। एक व्यक्ति के आचरण का अनुकरण हो सकता है, लेकिन उसकी शैली उसके आकर्षण, उसके वास्तविक मूल्य की बिडम्बना ही की जा सकती है।"[1] यदि गौड़ कवि किसी बड़े कवि का चेतन या अचेतन रूप से अनुकरण करता है, तब हम उसमें केवल बड़े कवि की रीति का आभासपात्र है, उसके अपरिहार्य गुण की आवृत्ति नहीं की जा सकती है।

रीति कवि–स्वभाव के संस्पर्श से शैली बनती है। यह भाषा के साथ कवि के व्यक्तित्व के घात–प्रतिघात का परिणाम है। कवि शब्दों में अपने मन का ताप भर देता है। इस प्रकार शब्द उसके अपने बन जाते हैं और नयी प्राणवत्ता से भर जाते हैं। जो कवि अपने शब्दों का प्रयोग यंत्र की तरह करता है, उसे एक पुर्जा मात्र समझता है, उन्हें अपनी आत्मा का रस नहीं देता है, वह हमें अपने माध्यम के प्रति व्यर्थ ही सचेष्ट बना देता है। शब्दार्थ उसके विचारों का शरीर नहीं, प्रत्युत परिधान बनकर उपस्थित होते हैं। ऐसे लेखक की वस्तुतः शैली होती ही नहीं है। शोपेनहावर के अनुसारः शैली मन की आकृति सामुद्रिक है और चरित्र की पहचान

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 – 174

का चेहरे से अधिक विश्वसनीय आधार है।

"कुन्तक में आकर रीति, जो कि अपेक्षया व्यापक कवि स्वाभाव की देन है, शैली के समीप चली आयी है। शैली में रीति की अपेक्षा वैयक्तिक संस्पर्श अधिक होता है। कुन्तक ने रीति पर विचार करने में भामह की ही प्रौढ़ि का परिचय दिया है। उन्होंने पहली बार रीति की भौगोलिक संज्ञाओं का पूर्ण तिरस्कार किया। उन्होंने उसके सुकुमार और विचित्र दो मुख्य प्रकार बतलाये हैं। इन दोनों को मिलाकर एक उभयात्मक मार्ग भी बतलाया है। उनके अनुसार सुकुमार और विचित्र मार्ग क्रमशः वैदर्भी और गौड़ी के स्थानापन्न हैं। कुन्तक ने पहली बार यह स्थापित किया कि रीति का पार्थक्य कवि-स्वभाव के कारण उत्पन्न होता है, न कि देशभेद के कारण। भारतीय काव्यशास्त्र को उनकी यह अनन्य साधारण देन है।"[1]

कुन्तक जब रीतियों के भौगोलिक आधार का पूर्ण तिरस्कार करते हैं, तब वे सहज ही आधुनिक समीक्षा की मुख्य चिन्ताधारा के समीप पहुँच जाते हैं। आधुनिक समीक्षा भी स्वभावद्वैविध्य का आधार ग्रहण कर मुख्यता दो ही प्रकार की रीतियाँ मानती है। विञ्चेस्टर के अनुसारः यद्यपि कि वैयक्तिकता का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता है, तब भी यह कहा जा सकता है कि सामान्यतया अभिव्यंजना की दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ होती हैं : एक प्रकार की प्रवृत्ति स्पष्टता और संक्षिप्ति की ओर जाती है, तो दूसरी प्रकार की प्रवृत्ति विस्तार और प्राचुर्य की ओर झुकती है। इन दोनों का अंतर समझने के लिए मैथ्यू आर्नल्ड की कविता की तुलना टेनिसन की कविता से अथवा न्यू मैन के गद्य की तुलना जेरेमी टेलर के गद्य से की जा सकती है। प्रथम प्रकार के कवि-विचारों की

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद, पृ0 सं0 – 175

स्पष्टता, बिम्बों के संमूर्त्तन, विशेषणों की अनुरुपता और समतुलन पर विशेष आग्रह दिखलाते हैं। उनकी शैली को हम अभिजात कहते हैं। दूसरे प्रकार के कवियों के विचारों की राशि एकत्र रहती है, परन्तु स्वच्छता से परिष्कृति नहीं रहती, उत्साह अधिक, किन्तु भावना का संयम कम रहता है, प्रचुर और प्रत्यक्षवत् बिम्ब, साथ ही रंगों की की समृद्धि अधिक, किन्तु परिभाषा की प्रतिपन्नता कम रहती है। वे अलंकृति तथा बहुलता उत्पन्न करते हैं। उनका प्रभाव गहरा तथा विस्तृत होता है, परन्तु उनमें स्निग्धता तथा माधुर्य का अभाव रहता है। केवल साहित्य के ही क्षेत्र में यह रीतिभेद लक्षित नहीं होता, बल्कि ललितकला के क्षेत्र में भी यह पार्थक्य बना रहता है। एक तो अधिकतर सौकुमार्य और चमत्कार की भावना जागृत करता है और दूसरा अधिकतर वैषम्य एवं सामर्थ्य की धारणा प्रवृत्त करता है। विञ्चेस्टर कहता है कि दोनों में कौन अधिक श्लाघनीय और ग्राह्य है, यह राय देना आलोचक का काम नहीं है।

"विञ्चेस्टर की अन्तिम पंक्ति में स्पष्टतः भामह की ही अनुगूँज मिलती है। भामह ने भी वैदर्भी और गौड़ी में किसी एक को श्रेष्ठ नहीं बतलाया है। विञ्चेस्टर के वर्गीकरण से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि यद्यपि व्यक्तित्व–भेद से शैली के भी अनन्त प्रकार होते हैं, तथापि वे दो मोटे वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। शैली का नियतत्व ही रीति है। विञ्चेस्टर के वर्गीकरण में जैसा कि डॉ0 राघवन ने बतलाया है, ऐसा लगता है जैसे कालिदास की शैली की तुलना बाण और भवभूति से की गयी हो। यह तुलना वैदर्भी और गौड़ी की तुलना के ही समान है। यह द्विविध वर्गीकरण कुन्तक के सुकुमार और विचित्र मार्ग की तुरन्त याद दिला देता है। सुकुमार मार्ग की शोभा सहज शोभा है और विचित्र मार्ग आद्यर्य शोभा से मुक्त होता है। सुकुमार मार्ग के संचरण का क्षेत्र स्वभावोक्ति और रसोक्ति है, विचित्र मार्ग का क्षेत्र वक्रोक्ति है। हालाँकि सभी सत्कवि सुकुमार मार्ग पर ही संचरण करते हैं, तथापि विचित्र मार्ग में सफलता प्राप्त कर लेना खड्गधार

पर सुभटों के मनोरथों के संचरण के समान कठिन है।"[1]

सोऽतिदु:सञ्चरो येन विदग्धकवयो गता:

खड.गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथा:

विचित्र मार्ग की इस दु:संचरता के कारण आलोचक इसे पसन्द नही करते हैं। विचित्र मार्ग का ही भ्रष्ट रूप दण्डी की गौणी रीति मानी जा सकती है। साधारण कवि के हाथ पड़ने से विचित्र मार्ग निष्फल बागाडम्बर में रूपान्तरित हो जाया करता है। इसलिए वैदर्भी या सुकुमार मार्ग अधिक निरापद है। विञ्चेस्टर का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति की रुचि में पार्थक्य हो सकता है किन्तु श्रेयस्कर तो वही शैली मानी जायेगी जिसमें नैसर्गिक प्रवाह, सुभग रस तथा स्वत: सौन्दर्य से सम्पन्न रीति रहती है। यह शैली प्रतिपन्न होने पर भी सपाट नहीं होती है और न इसमें धूमिल विशेषणों का अरण्य ही मिलता है। कुन्तक इसी शैली को सुकुमार मार्ग कहते हैं।

हम संक्षेप में कुन्तक के तीनों मार्गों की विशेषताओं का एक द्रुतसर्वेक्षण उपस्थित करते हैं। उनका पहला मार्ग है सुकुमार मार्ग। उन्होंने दण्डी की वैदर्भी रीति के एक गुण की व्याख्या करने में भी वह सुकुमार का उल्लेख करते हैं। सुकुमार मार्ग नवनोन्मेषशालिनी प्रतिभा से उद्‌भिन्न नवीन शब्द और अर्थ से मनोहर रहता है। इसमें अलंकार प्रयत्न विरचित नहीं होते हैं। कवि यहाँ आहार्य कौशल की पूरी उपेक्षा करता है और इसमें पदार्थ के स्वभाव की प्रधानता होती है। विधाता के वैदग्ध्य से उत्पन्न सृष्टि के अलौकिक सौन्दर्य के अतिशय के समान अविभावित रूप से स्थित सौन्दर्य से आह्लादित करने वाला होता है। जो कुछ भी वैचित्र्य प्रतिभा से उत्पन्न हो सकता है, वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ इस मार्ग में शोभित होता है। इसकी संस्तुति करते हुए कुंतक कहते हैं कि यह वह मार्ग है जिस पर खिले हुए पुष्पों के वन में भ्रमरों के समान सभी सत्कवि जाते हैं (हि0 वक्रो0 1।।25-29।।)। वाल्मीकि और कालिदास

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद - पृ0 सं0 - 176

सुकुमार मार्ग के प्रतिनिधि कवि हैं। सरसता, रसावहता और स्वाभाविकता इस मार्ग की मुख्य विशेषताएँ हैं। इसमें कवि नाना रसों का सुन्दर समन्वय करता है, नैसर्गिक रूप से प्रकृति का वर्णन करता है, छोटे–छोटे पदों की योजना करता है और उनका अर्थ तुरन्त कौंध जाता है। सूरदास और जयशंकर प्रसाद सुकुमार मार्ग के कवि हैं। इस मार्ग की शोभा सहज होती है। विचित्र मार्ग के कवि की प्रतिभा के प्रथम विलास के समय ही शब्द और अर्थ के भीतर कुछ अपूर्व वक्रता स्फुरित हुई सी प्रतीत होने लगती है। इस मार्ग को कवि अलंकारों की पच्चीकारी और मीनाकारी करता है। एक अलंकार का प्रभाव अभी मन से हटा नहीं कि दूसरा अलंकार अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए आ बैठता है। एक अलंकार दूसरे अलंकार के उपनिबन्धन का कारण बनता है। इस मार्ग का कवि वस्तु की नवीन उद्भावना नहीं करता, प्रत्युत पुराने कवियों द्वारा वर्णित अनूतन वस्तु ही रचयिता के किंचित कौशल के स्पर्श से सौन्दर्य की काष्ठाप्राप्ति कर लेती ही है। कवि यहाँ नूतन अर्थ की योजना नहीं करता है। केवल उक्ति की विचित्रता ही अलंकार्य वस्तु को लोकोत्तर कोटि में पहुँचा देती है। इसमें कवि वाच्य–वाचक से भिन्न वाक्यार्थ की प्रतीयमानता की योजना करता है। वक्रोक्ति का वैचित्र्य ही इस मार्ग का जीवित है। कुन्तक इस मार्ग की दुरूहता से परिचित है। उनके शब्दों में सुभटों के मनोरथ जैसे खंड.धारा के मार्ग पर चलते हैं। उसी प्रकार चतुर कवि ही इस विचित्र मार्ग का अनुसरण करते हैं। (हि0 वक्रो0 1।।34–43।।)। वाण और भवभूति इस विचित्र मार्ग के कवि है। हिन्दी में निराला को विचित्र मार्ग से ही प्रेम था। यह मार्ग नाना रंग–बिरंगे रत्नों से बिजड़ित आभूषणों जैसा प्रभाव उत्पन्न करता है। अत्यधिक सजावट, प्रयत्न विरचित अलंकरण, बाह्य चाकचिक्य, उक्ति वैचित्र्य आदि इस मार्ग की विशेषताएँ हैं।

"कुन्तक का तीसरा मार्ग मध्यम मार्ग है। इस मार्ग में पूर्वोक्त दोनों मार्गों की विशेषताएँ परस्पर स्पर्धा करती हैं। यह मार्ग सुकुमार और विचित्र की

एकत्र स्थिति के कारण सहज आहार्य दोनो प्रकार की शोभाओं से युक्त होता है। यहाँ माधुर्यादि गुणसमूह मध्यमावृत्ति के आश्रित होते हैं। नाना रुचियों से मनोहर इस मध्यम मार्ग में छायावैचित्र्य की रंजकता रहती है (हि0 वक्रो0 1।।49–52।।)1 कुछ कवियों का यह स्वभाव होता है कि उन्हें न तो केवल स्वाभाविक सौन्दर्य से पूर्ण तृप्ति होती है और न केवल अलंकारों के अतिशय उपनिबन्धन से ही आत्मपद का लाभ होता है। इन दोनों के सन्तुलन में ही उन्हें सच्चा तोष मिलता है। कुन्तक ने इस मार्ग के कवियों में मातृगुप्त, मायूराज और मञ्जीर आदि का उल्लेख किया है। इन कवियों की रचनाएँ अब प्राप्य नहीं है। हालाँकि रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तन वामन ने किया है किन्तु रीति सिद्धान्त के सबसे बड़े पुरोधा स्वयं कुन्तक हैं। वह पुरानी भौगोलिक संज्ञाओं का पूर्ण तिरस्कार करते हैं और संस्कृत के महाकवियों के लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर अपने मार्गों का शीलनिरूपण करते हैं वे एक मात्र भारतीय आचार्य हैं, जिन्होंने रीति को स्पष्टतः कवि स्वभाव से जोड़ दिया और उसे कवि –व्यक्तित्व से सम्बद्ध बतलाया। स्वभाव के आधार पर रीतियों के वर्गीकरण करने के पहले कुन्तक रीतियों के भौगोलिक वर्गीकरण का उल्लेख करते हैं। उनका कहना है कि रीतियों को देश भेद के आधार पर मानने से तो देशों के अनन्त होने से रीतिभेदों को भी अनन्तता होगी। और देश विदेश के व्यवहार के आधार पर ममेरी बहन के विवाह के समान विशिष्ट रीति से युक्त रूप में काव्य रचना की व्यवस्था नहीं की जा सकती है। कुन्तक का कहना है कि चूँकि देश धर्म केवल वृद्धों की व्यवहार परम्परा आश्रित है, इसलिए उसका अनुष्ठान उस देश में आशक्य नहीं है। परन्तु उस प्रकार सहृदयाह्लादकारी काव्य–रचना शक्ति आदि कारण–समुदाय की पूर्णता अपेक्षा रखती है। अतएव देश धर्म की तरह जैसे–तैसे काव्य रचना नहीं की जा सकती है। कुंतक की विलक्षण प्रतिभा शक्ति आदि काव्य हेतु को देश धर्म के परिप्रेक्ष्य में परीक्षित करती है। वे स्पष्ट कहते हैं कि व्युत्पत्योदि कारण–सामग्री किसी देश–विशेष से सीमित नहीं की जा सकती है। इसलिए देश–विशेष के आधार पर वैदर्भी आदि रीतियों का मानना उचित नहीं है।

तत्पश्चात् कुन्तक रीतियों के उत्तम, मध्यम और अधम आदि भेदों का परीक्षण करते हैं। उनके अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम रूप से रीतियों का त्रैविध्य स्थापित करना भी अनुचित है। कारण यह है कि अन्य भेंदों से वैदर्भी के समान सौन्दर्य असम्भव होने से मध्यम और अधम का उपदेश व्यर्थ हो जाता है। कुन्तक कुकाव्य की रचना का पूर्ण तिरस्कार करते हैं। वे झुंझला कर लिखते हैं कि यह सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया जा सकता कि जितनी शक्ति हो उसके अनुसार दरिद्रों को दान करके समान यथा शक्ति कविता की रचना की जाये। इस प्रकार उनके अनुसार वामन आदि ने रीतियों के उत्तम, मध्यम और अधम आदि तीन भेद किये हैं, वे अनुचित हैं। वस्तुतः कुन्तक का वामन आदि से मतभेद मात्र नामगत नहीं, बल्कि स्वरूपगत है। इसलिए यह मतभेद बुनियादी है। यों देश–विशेष के आश्रय से नीतियों के नामकरण तक ही उनका विवाद सीमित नहीं है। वे देश भेद के आधार पर रीति का भेद मानने जैसी निःसार वस्तु की अधिक आलोचना भी व्यर्थ समझते हैं। इस प्रकार कुन्तक ने रीति के भौगोलिक आधार पर प्राख्यान कर उसे कवि स्वभाव से सम्बद्ध किया। जीवन में स्वभाव की महिमा तो स्पष्टतः है ही – 'स्वभाव मूर्हिर्न वर्तते।' स्वभाव ही मनुष्य का आपा है। यही उसका वास्तविक अस्तित्व है। कुन्तक का कहना है कि काव्य रचना की बात छोड़ दे, तब भी अन्य विषयों में अनादि वासना के अभ्यास से संस्कृत चित्त वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार व्युत्पत्ति और अभ्यास की प्राप्ति होती है। स्वभाव तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास उपकार्य – उपकारक भाव से स्थित होते हैं। इसलिए स्वभाव इन दोनों को उत्पन्न करता है और ये (व्युत्पत्ति और अभ्यास) स्वभाव को परिपुष्ट करते हैं। कवि तो चेतन प्राणी होता है। इसलिए स्वभाव का महत्व तो उसके जीवन में है ही। किन्तु कुन्तक की विलक्षण प्रतिभा यह उचित ही रहस्योद्घाटन करती है कि स्वभाव अचेतन पदार्थों में भी होता है। वे कहते हैं कि अचेतन पदार्थों का स्वभाव भी अपने स्वभाव के अनुरूप अन्य पदार्थों के सानिध्य के प्रभाव से अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है। वे उदाहरण देते हैं कि

चन्द्रकान्त मणियाँ चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श मात्र से जल को प्रवाहित करने लगती हैं। इस प्रकार कवि की शक्ति उसके स्वभाव के अनुरूप होती है, उसकी व्युत्पत्ति स्वभाव के अनुकूल ही प्राप्त होती है और उसका अभ्यास उसके स्वभाव के अनुसार चलता है। इसी अर्थ में शैली सचमुच ही मनुष्य होती है। अतएव कुन्तक की स्थापना है कि कवियों के स्वभाव–भेद के आधार पर ही किया गया काव्यमार्ग का भेद युक्तिसंगत हो सकता है। शक्ति और शक्तिमान दो नहीं प्रत्युत एक होते हैं। अतः सुकुमार स्वभाव के कवि में उसी प्रकार की सहज शक्ति उत्पन्न होती है। उस सहज सुकुमार शक्ति से वह उस प्रकार के सहज सौकुमार्य से रमणीय व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है और उसी के अनुरूप अभ्यास में वह तत्पर होता है। उसी प्रकार जिस कवि का वैचित्र्य से रमणीय स्वभाव होता है, उसको उसी प्रकार की शक्ति व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की प्राप्त होती है। मध्यम मार्ग के कवि की भी यही स्थिति है।

"कुंतक स्वभाव के आनंत्य से परिचित हैं, पर वे मानते हैं कि उनकी गणना असम्भव होने से साधारणतः त्रैविध्य ही युक्ति–संगत है। वे भामह की ही तरह किसी एक मार्ग को श्रेष्ठ नहीं बतलाते हैं। उत्तम अधम आदि की त्रुटियों से उनका विवेचन पूरी तरह मुक्त है। उनका कहना है कि इन तीनों में अलग – अलग ढंग से निर्दोष स्वभाव से तद्विदाहादकारित्व की पूर्णता होने से किसी की भी न्यूनता नहीं है। ये तीनों ही भेद उत्तम काव्य हो सकते हैं। कुन्तक के इस प्रश्न को देखकर अमरीकी विचारक जॉन बौरो का स्मरण हो जाना स्वाभाविक ही है। वह कहता हैः कौन बतला सकता है कि कौन सी शैली सबसे अच्छी है? अपने उद्देश्य के अनुरूप वेग से फेंके गये भाले की तरह सीधे और समतल वाक्यों से गठित हक्सले की शैली से अच्छी कौन सी शैली हो सकती है? अथवा विद्युत की चिनगारी से पूर्ण, आकस्मिक रूप से आने वाले विशेषणों और तनावयुक्त ढीठ शब्दावली से मन को प्रीतिकर आघात देने वाली इमर्सन की शैली अथवा इमारत के कटे–छँटे पत्थरों की तरह सुगठित वाक्य विधान वाली गिबन की शैली जैसा कि विषय में कारलाइल ने इमर्सन से कहा था उसकी रचना उस भव्य सेतु की तरह है जो पुरानी दुनिया को नई दुनिया से

जोड़ती है? अथवा डी क्विन्सी की चंचल, घुमावदार शैली – विचारों को हाँकती हुई जैसे कुत्ता भेड़ को हांकता है? अथवा आर्नल्ड की शैक्षणिक दृष्टि से काँच की तरह पारदर्शी शैली – कौन कह सकता है कि इनमें सबमें अच्छी कौन है? यही बात तो कुन्तक अधिक सुष्ठता से कहते हैं। इस प्रकार वे सभी रीतियों को समानक्षम मानते हैं।"[1]

कवि स्वभाव के रीति के सम्बन्ध को हम तनिक और स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में दस गुण और उतने ही दोषों का उल्लेख किया है। इसका बुनियादी आधार शब्द और अर्थ का अभियोजन रहा है। भामह ने देखा कि ये सभी गुण कवि के स्वभाव के साथ कोई तात्विक सम्बन्ध नहीं रखते हैं। जो गुण कवि के स्वभाव के साथ तात्विक सम्बन्ध नहीं रखते थे। भामह ने उसका परित्याग कर दिया। उसने उन्हीं तीन गुणों को स्वीकार किया जिनका कवि स्वभाव के साथ अपरिहार्य सम्बन्ध है। यह गुण, माधुर्य, ओज और प्रसाद है। ये ही तीन गुण रीतियों से सम्बद्ध बताये गये। ये तीन गुण केवल पद रचना से ही सम्बन्ध नही रखते हैं। प्रसाद केवल स्पष्ट वबोधगम्य पद–रचना नहीं है। इसका सम्बन्ध प्रसन्न मुद्रा से भी है। इसी स्पष्ट चिंतन के कारण भामह ने रीति के क्षेत्र में भी पुराण रीति का अतिक्रमण किया। उन्होंने वैदर्भी और गौड़ी की सीमाओं का निर्देश कर अपने प्रौढ़िप्रकर्ष का परिचय दिया है।

रीति शब्द शरीर के रूप में परीक्षित होती है, क्योंकि बुनियादी तौर पर यह शब्द संघटना है। गहराई में प्रवेश करने पर यह स्वभाव का रहस्य खोलती है। और भी गहरे उतरने पर यह निजी शैली बनकर उपस्थित होती है और व्यक्तित्व का सूक्ष्म उद्घाटन करती है। यदि दो कवि एक ही साथ वैदर्भी रीति का ही प्रयोग कर रहे हों, तब भी दोनों की वैदर्भी एक नहीं होगी। सूरदास और जयशंकर प्रसाद दोनों वैदर्भी रीति के ही कवि हैं तब भी दोनों की वैदर्भी स्पष्ट पार्थक्य है। निश्चय ही भारतीय काव्यशास्त्र ने इन सभी बारीकियों को समझा था। उसका रीति विवेचन किसी भी अर्थ में पुराना नहीं है.

---

1. वक्रोक्ति – सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 – 179

एक नाट्यकार कवि को कई प्रकार के भावों को चित्रित करना पड़ता है। अतएव हांलाकि उसकी रीति वृहतर भूमि पर ही रहती है, तब भी संदर्भ विशेष में भावों के चित्रण में उसकी रीति में सूक्ष्म परिवर्तन होना अत्यन्त ही स्वाभाविक है। कालिदास सुकुमार मार्ग के कवि हैं, किन्तु इन्दुमती के मृत्युशोक' में अज के विलाप का सुकुमार मार्ग वही नहीं है, जैसा 'कुमारसंभव' के तृतीय सर्ग में संचारिणी पल्लविनी लता के समान उमा की छविच्छटा के अंकन में है। इस समस्या की प्रच्छन्न गुत्थियाँ हैं। एम्पसन पर विचार करते हुए एल्डर ओलसन ने जो स्पष्टीकरण किया है उसे हम उद्धृत करना चाहेगें। ओलसन के अनुसार: एक नाट्यकार कवि के किसी भी अन्य कवि की भाँति भाषा के संबंध में सात गौण लक्ष्य होते हैं : इन्हें गौण कहते हैं, क्योंकि मैंने स्पष्ट कर दिया है कि ये प्रधान नहीं हो सकते हैं।

अनावरण, आंशिक अनावरण, प्रच्छन्नता, अवधान का दिशा निर्देशन, कौतूहल को जागृत रखना, आकस्मिक घटना की योजना और अलंकरण– ये ही सात उद्देश्य है। क्या अनावृत हो, क्या प्रच्छन्न रहे आदि काव्य शास्त्र के कथानक, पात्र और भाव भूमि आदि से सम्बद्ध है और उनका विश्लेषण यहाँ नहीं किया जा सकता। सम्प्रति हमारा सम्बन्ध इन लक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में भाषा के क्रियाकलापों की सार्थकता से है। कौतूहल, विस्मय और आवेग के बहुलांश मात्र रीति से नहीं प्रयुक्त कुछ और वस्तु से उद्भिन्न होते हैं, तथापि रीति द्वारा उनका उन्नयन हो सकता है और कभी–कभी सृजन भी होता है। काव्य भाषा के इसी पहलू की रीति के दो रूप में – मैं परीक्षा करना चाहती हूँ। इनकी समस्याएँ शटब्द चयन और शब्द–विन्यास की समस्याएँ हैं। पारम्परिक चिन्हों से विच्छन्न कर वे सुलझाये नहों जा सकते हैं। रीति की समस्या, उदाहरण के लिए, केवल यही नहीं है कि कैसे एक भयभीत आदमी बात करेगा, अथवा कैसे सामान्यतया भाषा स्वभाव, आवेग अथवा स्थिति को इंगित करती है, प्रत्युत यह है कि भाषा के इन सभी नियामकों के रहते हुए शब्द किस तरह सबसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध होगें। चूँकि कविता में शब्दों का सभी इतर तत्वों

से नियमन होता है, इसलिए जैसा कि मैने कहा है, एक अंश में यह काव्यशास्त्र का सबसे कम महत्वपूर्ण अंश है, क्योंकि हमारे मार्ग–दर्शक तो केवल शब्द हैं। एकमात्र वे ही कविता के रहस्य का उद्घाटन करते हैं।"[1]

गुण

कुन्तक के अनुसार गुण मार्ग की अपेक्षा काव्य का ज्यादा अंतरतम है। यानी गुण काव्य का अधिक बुनियादी तत्व है। वे स्पष्टतः कहते हैं कि गुणों के द्वारा मार्गों का अनुसरण युक्तिसंगत हो सकने से गुणों के बाद 'मार्ग' पद को रखा है। अतएव हम डॉ0 नगेन्द्र की इस स्थापना से सहमत नहीं है कि उनके (कुन्तक) मत में गुणों की स्वतन्त्र अथवा निरपेक्ष स्थिति नहीं है, उनका स्वरूप मार्ग के अनुसार बदल जाता है। कुन्तक स्वयं ठीक इसके विपरीत गुणों के अनुरूप मार्गों के अनुसरण का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं।

साधारण गुण : रीति के सिद्धान्त की ही तरह गुणों के विवेचन में भी वक्रोक्ति सिद्धान्त ने पर्याप्त मौलिकता दिखलाई है। बंध की परिभाषा देते हुए कुन्तक कहते हैं:

वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः
व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते।"[2]

इस प्रकार बंध को परिभाषित करने में वह सौभाग्य और लावण्य इन दो गुणों का उल्लेख करते हैं। ये गुण वाचक और वाच्य दोनों के हैं। सौभाग्य से उनका तात्पर्य प्रतिभा के प्रभाव फलरूप चेतन सहृदयचमत्कारित्व से है। लावण्य रचना का सौन्दर्य है– 'लावण्य सन्निवेश सौंदर्यम्।' कालिदास के अनुसार सौभाग्य वह गुण है, जिससे नारियाँ अपने प्रिय में आनन्द का संचार करती हैं।

---

1. वक्रोक्ति – सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 181
2. हिन्दी वक्रोक्ति – 1/22

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।"[1]

"सौभाग्य और लावण्य ये दो गुण शब्दार्थपरमार्थ्य अर्थात् साहित्य के विधायक हैं। ये सहृदय से रस का संचार उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार नारियाँ कान्त को आह्लाद देती हैं। कुन्तक इन दो गुणों पर पुनः प्रथम उन्मेष के अन्त में विचार करते हैं। किन्तु उसी जगह वे अपने तीनों मार्गों की भी चर्चा करते हैं। इसी के साथ इन तीनों मार्गों के गुणों का भी वे उल्लेख करते हैं। इन तीनों मार्गों के विशेष गुणों पर वह विचार कर अन्त में फिर दो साधारण गुण–औचित्य और सौभाग्य पर विचार करते हैं। किन्तु यहाँ पर वे सौभाग्य पर तो विचार करते हैं पर लावण्य को छोड़ देते हैं। कारण यह है कि लावण्य पर सुकुमार और विचित्र मार्ग में उन्होंने विशेष गुण के रूप में विचार कर लिया है।"[2]

कारिका 53 से आरम्भ कर प्रथम उन्मेष के अन्त तक वे सौभाग्य और औचित्य पर विचार करते हैं। वे दण्डी की ही तरह उसे 'साधारण गुण' कहते हैं, क्योंकि ये तीनों मार्गों के विशेष गुणों से पृथक अस्तित्व रखते हैं। कारण यह है कि दण्डी ने मार्ग विभाजक गुण को असाधारण अलंकार और सभी मार्गों में प्रयुक्त होने वाले अलंकार को साधारण अलंकार कहा है। उसी का अनुसरण करते हुए कुन्तक ने कहा कि इस प्रकार अलग–अलग गुण समुदाय से रमणीय तीनों मार्गों की व्याख्या करके साधारण गुण के स्वरूप का वे वर्णन करते हैं। कारिका 53 और 54 में कुंतक औचित्य का विवेचन करते हैं। वे औचित्य और सौभाग्य का प्रसार पद, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध सब में देखते हैं।

एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्जवलम्।
पदवाकयप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते।।"[3]

इसी कारिका की वृत्ति में वे पुनः कहते हैं कि दोनों गुण उज्ज्वल अर्थात् अत्यन्त स्पष्ट चमकते हुए पद, वाक्य,और प्रबन्ध तीनों में व्यापक

---

1. कुमार सम्भव – 5/11
2. वक्रोक्ति – सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 185
3. हिन्दी वक्रोक्ति – 1/57

रूप से विद्यमान रहते हैं। उनका कहना है कि पद, वाक्य प्रकरण तथा प्रबन्धकों का सौभाग्य भी उनमें से प्रत्येक की अनेक प्रकार की अलग-अलग सुन्दर कारण-सामग्री से रमणीयता को धारण करने वाले काव्य का एकमात्र प्राण स्वरूप अलौकिक चमत्कारी सहृदयसंवेद आए हुए अनेक रसों के आस्वाद से सुन्दर और सारे अवयवों में व्यापक रूप से काव्य का कुछ और ही गुण परिस्फुरित होता है।

औचित्य को परिभाषित करते हुए कुन्तक कहते हैं कि उचित वर्णन ही जिसका प्राण है, इस प्रकार के स्वभाव का महत्व, स्पष्ट रूप से जिसके द्वारा परिपुष्ट किया जाता हे वह औचित्य है। उसी प्रकार वक्ता और प्रमाता के शोभातिशायी अर्थात् रमणीयता के कारण मनोहर स्वभाव से वाच्य अर्थ आच्छादित कर दिया जाता है वह भी औचित्य गुण ही कहलाता है।

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण मदौचित्यमुपिताख्यान जीवितम्।।
यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्य शोभातिशायिना।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते।"[1]

स्वभावोल्लेख को उचिताख्यान से युक्त होना ही चाहिए। क्षेमेन्द्र भी 'औचित्यविचारचर्चा' में यही कहते हैं – उचितस्य च यों भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।' कुन्तक इसे ही काव्य का जीवित कहते हैं – उचिताभिधानं जीवित्वात् वाक्यस्य।' इस स्थल पर कुन्तक कालिदास की कविता से छह उदाहरण औचित्य का और चार उदाहरण अनौचित्य का देते हैं। वे कहते हैं कि उन्होंनें केवल महाकवि कालिदास को इतनी सूक्ष्म पर्यालोचना की है जिनमें व्युत्पत्ति के साथ शक्ति भी है। केवल आहार्य काव्य रचना के कौशल के लिए प्रसिद्ध अन्य कवियों के विषय में इतनी सूक्ष्म आलोचना नहीं की जा सकती है। उनका तात्पर्य यह है कि आहार्य कवियों की रचनाएँ तो अनौचित्य से युक्त रहती ही हैं। उसके बाद कुन्तक सौभाग्य पर विचार करते हैं। उनका कहना है कि इसी गुण की प्राप्ति के लिए कवि की प्रतिभा सभी उपादेय वर्गों की योजना में सावधानी से प्रयत्नशील होती है।

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति – पृ0 सं0 – 167

इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन् यदर्थ प्रतिभा कवेः।
सम्यक् संरभते तस्य गुणस्सौभाग्यमुच्यते।।"[1]

जिस प्रकार उन्होंने औचित्य को वाक्य का जीवित कहा, उसी प्रकार वह सौभाग्य को भी काव्य जीवित कहते हैं। यह सम्पूर्ण सामग्री से सम्पादित करने योग्य सहृदयों के लिए अलौकिक चमत्कारी और काव्य का प्राणस्वरूप है।

आसाधारण गुण : सुकुमार मार्ग : कुतंक ने केवल मार्गों के विवेचन में ही मौलिकता नहीं दिखलाई है, प्रत्युत उनके तीनों मार्गों के गुण भी अपेक्षया बहुत अधिक मौलिक हैं। वह पहले सुकुमार मार्ग और उसके गुणों पर विचार करते हैं। सुकुमार मार्ग वैदर्भी का ही नया नाम है। इसके गुण क्रमशः माधुर्य, प्रसाद और लावण्य और अभिजात्य है। इनमें प्रथम दो तो पुराने हैं और अन्तिम दो नए हैं।

असमस्तमनोहारि पदविन्यासजीवितम्।
माधुर्य सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमोगुणः।।"[2]

इस कारिका की पहली पंक्ति में माधुर्य के विधायक तीन तत्वों का उल्लेख हुआ है। इसमें पहला है असमस्ते । अर्थात् इसे समास रहित होना चाहिए – 'असमस्तानि समासवर्जितानि।' किन्तु इसे स्पष्ट करते हुए कुन्तक यह छूट देते हैं कि स्वल्प मात्रा में छोटे समास का भी माधुर्य गुण में प्रयुक्त हो सकते हैं। डॉ0 राघवन का कहना है कि माधुर्य का यह प्रकार वामन से गृहीत है। वामन माधुर्य को पृथक्पदत्व और दीर्घ समासों से मुक्त बतलाते हैं:

पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।
समासदैर्घ्यानिवृत्तिपरं चैतत्।।"[3]

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति – 1/55
2. वही – 1/30
3. हिन्दी काव्यालंकार – सूत्र वृत्ति – 3/1/20

माधुर्य गुणों से असमस्त पदों की महिमा को भामह ने ही सबसे पहले हृदयगंम किया था।

माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः।

समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते।।"[1]

महिमभट्ट ने यह लक्ष्य किया है कि अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए लेखक को अर्थ के उत्कर्ष तथा अपकर्ष को लक्षित करना पड़ता है और इस कार्य के लिए वाक्य के पदों का पृथक् अस्तित्व आवश्यक है। उनका कहना है कि विवक्षा समास में डूब जाती है।

विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित्।

तदर्थमेव कवयोऽलंकारान् पर्युपासते।।

तौ विधेयानुवाद्यत्वविवक्षैकनिबन्धनौ।

सा समासेऽस्तमायातीत्यसकृत् प्रतिपादितम्।।"[2]

समास का अपना सौन्दर्य होता है, किन्तु जैसा कि महिमभट्ट ने बतलाया है कि वह तो अर्थों का संबंध भर बतला सकता है न कि उनके उत्कर्ष और अपकर्ष को।

सम्बन्धमात्रमर्थानां समासो वबोधयेत्।

नोत्कर्षमपकर्ष वा ।।"[3]

महिमभट्ट के अनुसार वैदर्भी रीति में समास का स्पर्श भी नहीं रहता और इसीलिए वह रीति अच्छी मानी जाती है।

माधुर्य गुण का दूसरा विधायक तत्व 'मनोहारि' है। इसको स्पष्ट करते हुए कुन्तक कहते हैं कि यह सुबन्त और तिङ्न्त पदों का हृदयाह्लादक रमणीय विन्यास ही है। यह श्रुतिरम्यत्व श्रुतिकष्टदोष का विपर्यय है। भामह माधुर्य को परिभाषित करते हुए इसी श्रुति रम्यत्व की महिमा की ओर संकेत करते हैं। दण्डी का श्रुत्यनुप्रास माधुर्य यही चीज है। माधुर्य का तीसरा विधायक तत्व 'विन्यास' है।"[4]

---

1. काव्यलंकार – 2/1
2. हिनदी व्यक्ति विवेक – 2/14,–15
3. वही – 2/17
4. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 – 188

जिसका अर्थ कुन्तक ने वृत्ति में 'सान्निवेश वैचित्र्य' किया है। इस प्रकार कुन्तक का माधुर्य गुण निष्पन्न होता है। इसमें विन्यासवैचित्र्य का संबंध अर्थरमणीयत्व से है और असमस्त पद के साथ शब्द–रमणीयत्व शब्द के माधुर्य का उत्पादक है।

सुकुमार मार्ग का दूसरा गुण प्रसाद है। कुन्तक में इसके स्वरूप में कोई नयापन नहीं आया है। उनका कहना है कि रस और वक्रोक्ति के विषय में बिना किसी क्लेश के अभिप्राय को व्यक्त कर देने वाला, तुरन्त अर्थ का प्रतिपादन रूप जो गुण है, वह प्रसाद है।

अक्लेशव्यञ्जिताकूतं झागित्यर्थसमर्पणम्।
रसवक्रोक्तिविषयं यत् प्रसादः स कथ्यते।।[1]

यह प्रसाद अथवा स्फटिक आदि के धर्म रूप से प्रसिद्ध है। यही उपचार से काव्य में भी चलता है। कुन्तक के अनुसार इस प्रसाद के विधायक तत्व चार हैं। प्रसाद गुण में पदों का समासहीन होना, प्रसिद्ध अर्थ का प्रतिपादन होना, अर्थ के साथ बिना व्यवधान् के साक्षात् सम्बन्ध होना और समास होने पर भी स्पष्टार्थक समासयुक्तता होना इसके वास्तविक रहस्य है।

सुकुमार मार्ग का तीसरा गुण है लावण्य। कुन्तक के शब्दों में :

वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसन्धान सम्पदा।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्य लावण्यमभिधीयते्।।[2]

वर्णों के विन्यास का सौन्दर्य और पद–योजना का सौष्ठव, उसके दो विधायक तत्व है। ये दोनो तत्व नातिनिर्बन्ध निर्मित होने चाहिए। शरीर के ही लावण्य की तरह कुन्तक का तात्पर्य यहाँ रचना के बाह्य आकर्षण से है। यह वही गुण है, जिसके विषय में वे यह कहते हैं:

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा।
गीतवद् हृदयाह्लदं तद्विदां विदधाति यत्।।[3]

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति – 1/31
2. वही – 1/32
3. वही – 1/37

इस गुण के विषय में उनका कहना है कि यह सहृदय संवेद्य ही है, इसका वर्णन करना सम्भव नहीं है। उनका मत है कि पद और पदार्थों को न जानने वालो को भी श्रवणमात्र से ही हृदयकारी रचना–सौष्ठव ही वह लावण्य कहा जाता है।

सुकुमार मार्ग का चौथा गुण शब्दों का अभिजात्य है। कुन्तक के अनुसार इसकी परिभाषा यों है–

इस गुण के विधायक तत्व तीन हैं। पहला है श्रुतिपेशलत्व। दूसरा है सुखदस्पर्श के समान चित्त को छूने की शक्ति। इसकी व्याख्या कुंतक यों करते हैं– 'मनसा सुस्पर्शमिव' तीसरा है स्वभावमसृणच्छायता। इसकी व्याख्या करते हुए कुन्तक कहते हैं कि यह स्वाभाविक मृदुकान्त वाला है। यह गुण भी लावण्य की तरह, अनुभवसंवेद्य मात्र है।[1]

सुकुमार मार्ग के गुण अभिजात्य पर विचार करते हुए डॉ० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि "यह लावण्य की कोटि का ही गुण है। इसमें वर्ण श्रवेणन्द्रिय को अतिशय सुख पहुँचाने वाले होते है। प्रतीत होता है कि चित्त उसे स्पर्श कर रहा है, परन्तु शब्दों के द्वारा उसका ठीक–ठाक वर्णन नहीं कर सकता। "डॉ0 नगेन्द्र लावण्य और अभिजात्य के पार्थक्य पर इन शब्दों में प्रकाश डालते हैं। दोनों में यह अन्तर प्रतीत होता है कि लावण्य से वर्णों की झंकार अभिप्रेत है और अभिजात्य से कदाचित् उनकी स्निग्धता या मसृणता। एक में वर्ण परस्पर झनक कर क्वणन सा करते हैं, दूसरे में वे परस्पर घुलते–ढुलकते चले जाते हैं।[2] नगेन्द्र ने उदाहरण देकर स्पष्ट किया है हिन्दी रीतिकाव्य में देव की या आधुनिक काव्य में पंत की झंकारमयी भाषा लावण्य से और रीति–युग में मतिराम की अथवा वर्तमान युग में महादेवी की कोमल कान्त पदावली अभिजात्य गुण से सम्बद्ध है।

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित – 1/33
2. वही – पृ0 सं0 121
3. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका पृ0 सं0 363

सुकुमार मार्ग के इन चार गुणों में लावण्य और अभिजात्य माधुर्य से मिलते—जुलते है और इनका समग्र प्रभाव ऐन्द्रिक है स्वयं कुन्तक स्वीकारते हैं कि ये दोनो तो लोकोत्तर तरुणी सौन्दर्य रूप वस्तु धर्म से प्रसिद्ध हैं। काव्य में ये ही गुण उपचार से प्रयुक्त होते है।

विचित्र मार्ग के गुण :— विचित्र मार्ग के भी चार गुण हैं। किन्तु उनकी प्रकृति सुकुमार मार्ग में वर्णित गुणों से भिन्न है। विचित्र मार्ग का माधुर्य वैचित्र्य से युक्त होता है। अर्थात् अर्थ—रमणीयत्व के लिए उक्तिवैचित्र्य चाहिए। शब्दों में इससे तात्पर्य विचित्र मार्ग में अधिक प्रणवत्ता से है। सुकुमार मार्ग में बन्ध सर्वकोमल होता है और शैथिल्य दोष से युक्त होने की सम्भावना रहती है। यह शैथिल्य विचित्र मार्ग से तिरोहित हो जाता है । बन्ध अधिक बन्धुर हो उठता है।

वैदग्ध्यस्यान्दिमाण्धुर्य पदनामत्र बध्यते।
याति यत्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताङ्गताम्।।[1]

कुन्तक ने 'वैदग्ध्यस्यान्दि' को 'वैचित्र्यसमर्पक' 'व्यक्तशैथिल्य' को 'उज्झित कोमलभाव' (कोमल भाव का परित्याग) और 'बन्धबन्धुरता' को 'सन्निवेश सौन्दर्य' के रूप में व्याख्यायित किया है।

विचित्र मार्ग का दूसरा गुण प्रसाद है, यह किंचित ओज—युक्त असमस्त पदत्व ही है। यहाँ कुन्तक वामन से प्रभावित है। वामन ने 'ओजः प्रसादसंप्लव' कहा है।

असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि।
किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्रदृश्यते।।[2]

इसी में प्रसाद के अन्य प्रकार का उल्लेख करते हुए बतलाते हैं कि एक शब्द का विचार दूसरे शब्द द्वारा और एक वाक्य का विचार दूसरे वाक्य द्वारा स्पष्ट होता है।

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति — 1/44
2. वही — 1/45

गमकानि निबन्ध्यन्ते वाक्ये वाक्यान्तराण्यपि।

पदानीवात्र कोऽप्येष प्रसादस्यापरः क्रमः।।[1]

कुन्तक का यह प्रसाद वस्तुतः सुस्पष्ट अर्थाल्लेख का एक साधन है। विचित्र मार्ग का तीसरा गुण लावण्य है। यह सुकुमार मार्ग के इसी गुण से भिन्न रूप में विवेचित हुआ है।

अत्रालुतविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम्।

ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते।।[2]

कुन्तक का कहना है कि सुकुमार मार्ग की अपेक्षा इस मार्ग के लावण्य में सौन्दर्य बढ़ जाता है। राघवन ने बतलाया है कि 'पदैः प्रोतैः परस्परम्' पुराना श्लेष ही है। वामन कहते हैं कि इसमें बहुत से पद एक पद के समान प्रतीत होते हैं। यह शब्दनिष्ठमसृणत्व है। कुन्तक ने वृत्ति में लिखा है 'परस्परमन्योन्यं प्रोतैः संश्लेषं नीतैः।' लावण्य के अन्य तत्व अलुप्त विसर्गान्तत्व, ह्रस्वपदत्व और संयोगपूर्णत्व है। श्लेष के अतिरिक्त ये तीन तत्व ओज के बर्धक है। इसलिए राघवन का कहना है कि हम विचित्र मार्ग के लावण्य को श्लेष और ओज से उत्पादित मान सकते हैं। विचित्र मार्ग का चौथा गुण अभिजात्य, अतिकोमल और अतिकठिन शब्दों से रचना की मुक्ति है।

यन्नातिकोमलच्छायं नातिकाठिन्यमुद्वहत्।

अभिजात्यं मनोहारि तदत्र प्रौढ़िनिर्मितम्।।[3]

वे 'नातिकोमलच्छायं' को 'नात्यन्तसृणकान्ति' और 'नातिकाठिन्य' को 'नातिकठोरता' के रूप में स्पष्ट करते हैं। 'प्रौढ़निर्मित' से उनका तात्पर्य कविकौशल के सम्पादन है।

मध्यम मार्ग के गुण :– कुन्तक का तीसरा मार्ग है मध्यम मार्ग। इसमें भी उपयुक्त चारों गुणों के पृथक् अस्तित्व को कुन्तक ने स्वीकार किया है। कुतंक ने इन्हें परिभाषित न कर केवल उदाहृत किया है। फिर भी ऐसे संकेत प्राप्त हैं, जिनसे उनके स्वरूप का बोध हो जाता है। यथा–

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति – 1/46
2. वही – 1/47
3. वही – 1/48

माधुर्यादिगुणगामों वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम्।

यत्र कामापि पुष्णति बन्धच्छायातिरिक्तताम्।।[1]

अर्थात् ये चारो गुण मध्यमा वृत्ति का आश्रय लेकर सौन्दर्यातिशय को परिपुष्ट करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मध्यम मार्ग के गुणों का समन्वय या सन्तुलन रहता है।

सुकुमार मार्ग का सौन्दर्य सहज और अक्लान प्रतिभा से उद्भिन्न होता है। विचित्र मार्ग प्रतिभा से अधिक कवि की व्युत्पत्ति के आश्रित होता है और उसका सौन्दर्य आहार्य होता है। विचित्र मार्ग में अलंकारों का पर्याप्त उपनिबन्ध होता है और उसी से वैचित्र्य की सिद्धि होती है। वस्तुतः विचित्र मार्ग की की विशिषताएँ सुकुमार मार्ग की ही होती है। केवल इनमें सुकुमार मार्ग की अपेक्षा वैचित्र्य अधिक अधिक होता है। अतिरिक्त ओज और उक्तिवैचित्र्य के योग से यह सिद्ध हो पाती है। विचित्र मार्ग का उपन्यास करते हुए स्वयं कुन्तक कहते हैं कि सुकुमार मार्ग में कहे हुए गुण ही विचित्र मार्ग में आहार्य कौशल से युक्त होने पर अतिशय को प्राप्त हो जाते हैं।

कुन्तक ने इन चारो गुणों में माधुर्य और प्रसाद तो पुराने हैं और कुन्तक इनके स्वरूप निरूपण में दण्डी और वामन से प्रभावित हैं। कुन्तक अपने पहले मार्ग (सुकुमार) के अतिरिक्त लावण्य गुण की व्याख्या में भी 'सुकुमार' शब्द का प्रयोग करते हैं – शब्दार्थ सौकुमार्यसुभगः सान्निवेशमहिमालावण्याख्यो गुणः कथ्यते'। वे सुकुमार मार्ग के आभिजात्य के प्रसंग में मसृणत्व का उल्लेख करते हैं किन्तु उसे वामन के श्लेष (मसृणत्व श्लेषं) से कुछ लेना–देना नहीं है। विचित्र मार्ग के माधुर्य पर विचार करते हुए वह प्राचीनों द्वारा उल्लिखित उस ओज का ही विवेचन करते हैं जो समासाश्रित है। वामन का अनुसरण करते हुए वह प्रसाद और ओज से युक्त एक शैली का निर्देश करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कुन्तक जो पुराने मार्गों का पूर्ण परित्याग कर देते हैं, पुराने गुणों को छोड़ते नहीं हैं। इस प्रकार कुन्तक दो प्रकार के गुणों को स्वीकारते हैं, साधारण और

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति – 1/50

असाधारण। प्रथम प्रकार के गुण सभी काव्यों में होते हैं और दूसरे मार्ग विशेषों में ही। सौभाग्य लावण्य और औचित्य उनके साधारण गुण हैं और माधुर्य, लावण्य और अभिजात्य मार्गनुवर्ती असाधारण गुण हैं।" अलंकार सम्प्रदाय में दीक्षित कुन्तक ने गुण को भी अलंकार ही माना है। उन्होंने अपने गुणों को वक्रत्व के कई भेदों में अन्तर्हित कर दिया है। उन्होंने स्वयं, औचित्य गुण को, वक्रत्व के एक भेद में अन्तर्हित कर दिया है। सौभाग्य नामक गुण को उदाहृत करने में उन्होंने उपचारवक्रता, प्रत्यय वक्रता, संवृत्ति – वक्रता और कारक वक्रता आदि को दिखलाया है। माधुर्य वर्ण – विन्यास वक्रता से निष्पन्न होता है। एक जगह वे स्पष्टतः गुण को अलंकार बतलाते हैं और अलंकार तो वक्रोक्ति का ही शोभाकारक धर्म है – "अलंकार शब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वान्मुख्यतया कटकादिषु वर्तते, तत्कारित्वसामान्यादुपचारा दुपमादिषु तद्वदेव तत्सदृशेषु गुणादिषु। इस प्रकार कुन्तक के काव्य शास्त्र में गुण भी वस्तुतः अलंकार ही सिद्ध होते हैं।"[1]

---

1. वक्रोक्ति – सिद्धान्त और छायावाद, पृ0 सं0 – 193

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का, काव्य सम्प्रदाय अथवा आत्मभूत काव्य सिद्धानत के रूप में, विवेचन तो नहीं हुआ, परन्तु वक्रता के मौलिक तत्व की मान्यता वहाँ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सदा रही है। वास्तव में तथ्य और कल्पना का प्रतिद्वन्द्व किसी न किसी रूप में प्रत्येक युग और प्रत्येक देश की चिन्ताधारा में उपस्थित होता आया है। इसका जन्म एक प्रकार से काव्य की सृष्टि के साथ हो जाता है – काव्य के सम्बन्ध में यही पहला विचार है और यही कारण है कि पाश्चात्य सभ्यता के आदिम युग में ही उसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगी थी। प्लेटो – पूर्व युग में काव्यशास्त्र का कोई स्वतंत्र ग्रंथ तो उपलब्ध नहीं होता, परन्तु काव्य तथा दर्शन ग्रंथों में इस बात के संकेत निश्चय ही मिल जाते हैं कि उस युग में काव्यशास्त्र का अस्तित्व अवश्य था, चाहे उसका स्वतंत्र नाम रहा हो या न रहा हो।

प्लेटो के पूर्ववर्ती विचारक और प्लेटो :–

पश्चिम का आदि कवि है होमर। यों तो होमर के काव्य में भी एक ऐसा उद्धरण है (जिसे बोसांके ने पाश्चात्य कला–चेतना का प्रथम सूत्र माना है और जिसे एटकिन्स ने "कला की माया" का प्राथमिक अभिज्ञान कहा है) जिसमें काव्यगत वक्रता की प्रच्छन्न स्वीकृति मिलती है, परन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण वह विवाद है जो होमर के काव्य को लेकर प्लेटो से पहले दो–तीन शताब्दियों तक चलता रहा। इस विवाद में निश्चय रूप से तथ्य और कल्पना अथवा भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में वार्ता और वक्रता का प्रश्न ही प्रकारान्तर से उठाया गया है। दार्शनिकों ने होमर की इस आधार पर भर्त्सना की कि उसके वर्णन प्राकृतिक तथ्यों की विपरीत है अतः मिथ्या है, और काव्य–प्रेमियों ने तथ्य और कल्पना के भेद को पहचानते हुए उनकी काव्यगत वक्रता का अनुमोदन किया। इस युग में एक प्रसिद्ध आचार्य हुए

जार्जिआस (पाँचवी शताब्दी ई0 पू0)। उनका ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं है, परन्तु दो अभिभाषण अवश्य प्राप्त है जिनसे उनके काव्य संबंधी विचारों का परिचय मिल जाता है।"[1] अन्य काव्यतत्वों के साथ–साथ जार्जिआस ने भाषा के सौन्दर्य पर भी विशेष बल दिया है : "उन्होंने ही सबसे पहले यह निर्देश किया कि (गद्य में) अलंकारों का प्रयोग करना चाहिए, इतिवृत्त – वर्णन के स्थान पर रूपकादि का उपयोग करना चाहिए – अर्थात् सामान्य रूप से गद्य में भी कविता के रंग और वैचित्र्य का समावेश करना चाहिए। इन शब्दों में वक्रता की स्पष्ट स्वीकृति है क्योंकि रंग और वैचित्र्य वक्रता के ही पर्याय हैं।

प्लेटो पूर्व युग का काव्यशास्त्र की दृष्टि से, सर्वप्रमुख ग्रंथ है, **एरिस्टो फेनीज** (रचना काल 425–388 ई0 पू0) का हास्य – नाटक फ्रॉग्स (मेढक) इसमें यूनानी भाषा के दो वरिष्ठ नाटककारों – ऐस्काइलस तथा यूरिपाइडीज के आलोचनात्मक विवाद का अत्यंत सजीव हास्यमय वर्णन है। इस विवाद के अन्तर्गत दोनों कलाकारों की वैयक्तिक आलोचना के अतिरिक्त, काव्य के अनेक सामान्य सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है। अतएव इसमें ऋजु और वक्र अभिव्यंजनाओं अथवा काव्य–मार्गों की भी थोड़ी – सी समीक्षा स्वभावतः मिल जाती है। एस्काइलस (मानों कुन्तक के विचित्र मार्ग का अनुयायी होने के कारण) काव्य में वक्रता – वैचित्र्य का पक्षपाती है :

"नहीं, उनकी बाह्य वसन – सज्जा भी देखने में रंगोज्जवल तथा वैभवपूर्ण होनी चाहिए – हमारे जैसी नहीं।" यूरिपाइडीज की निन्दा करते हुए वह कहता है : – "तुमने उन उदात्त चरित्रों को (उनके भावों को) गुदड़ी से परिवृत्त कर दिया।" आप देंखे कि उपयुक्त उद्धरणों में से पहले में वक्रता का स्तवन और दूसरे में वार्ता (ग्राम्य उक्ति) का ही प्रकारान्तर से तिरस्कार किया गया है।

---

1. हिन्दी – वक्रोक्ति जीवित, पृ0 सं0 – 215

इसके उपरान्त प्लेटो (427–347 ई0 पू0) का समय आ जाता है– प्लेटो में भी अपने पूववर्ती यवन दार्शनिकों का ही साथ दिया और की वक्रता को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने प्राकृत तथ्य की अपूर्ण अथवा–मिथ्या अनुकृति मानकर काव्य की निन्दा की। उनके मतानुसार एक तो स्वयं प्राकृत तथ्य ही विचार के तथ्य (सत्य) की अनुकृति है, और फिर काव्य तो उसकी भी अपूर्ण या मिथ्या अनुकृति है, अतएव, वह सत्य से और भी दूर है। इसका अभिप्राय यही है कि प्लेटो भी विचार के सत्य और कल्पना के सत्य का भेद नहीं पहचान पाये। – कुन्तक ने वस्तु–वक्रता के प्रसंग में इस रहस्य का उद्घाटन किया है : उनका तर्क है कि किसी प्राकृत पदार्थ के सभी अंग उपांगों का इतिवृत्त वर्णन (प्लेटो के शब्दों में पूर्ण अनुकृति) प्रस्तुत कर देने में कोई चमत्कार नहीं है, कवि की दृष्टि तो उसके केवल उन्हीं अंगों तथा रूपों को ग्रहण करती है जो आकर्षक है अर्थात् वह समग्र पदार्थ का स्थूल वर्णन न कर केवल उसके मर्म को ही ग्रहण करती है। यह मर्म–ग्रहण ही वस्तु–वक्रता के रहस्य को–सामान्य रूप में वार्ता तथा वक्रता के भेद को – नहीं समझा है, इसीलिए उन्होंने काव्य का तिरस्कार किया है।

होमर से प्लेटो के समय तक पाश्चात्य काव्य–चिंता के अन्तर्गत वक्रता के विषय में इसी प्रकार के प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष संकेत प्राप्त होते हैं। उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य का यह मौलिक प्रश्न उस आदिम युग में भी उठ खड़ा हुआ था और मनीषी उसकी ओर आकृष्ट होने लगे थे।

<u>अरस्तू (ईसा – पूर्व 384 – 321)</u> :– "अरस्तू ने तथ्य और कल्पना के भेद को स्पष्ट करते हुए काव्यगत वक्रता के रहस्य को पहचाना है। उन्होंने प्लेटो की भ्रान्ति का संशोधन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि काव्यगत अनुकृति स्थूल रूप में पदार्थ का अनुकरण न होकर उसका कल्पनात्मक पुनः सृजन ही है– अतः न वह अपूर्ण है और न मिथ्या, उसमें तथ्य की विकृति नहीं संस्कार मिलता है, क्योंकि वह तथ्य के मर्म को शब्दबद्ध करती है। इस दृष्टि से काव्य का सत्य भौतिक सत्य की अपेक्षा अधिक मार्मिक होता है। अर्थात् काव्य की जिस वक्रता को प्लेटो ने मिथ्या कल्पना मानकर तिरस्कृत किया है, अरस्तू ने उसे

काव्य का प्राणभूत सौन्दर्य माना है। अरस्तू का वह प्रसिद्ध वाक्य इस प्रकार है: "उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि का कर्तव्य कर्म जो हुआ है उसका वर्णन करना नहीं है वरन् जो हो सकता है उसका वर्णन करता है– अर्थात् जो सम्भावना और आवश्यकता के अनुसार हो सकता है उसका वर्णन करना है।"[1] पोयटिक्स : कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी (पृ0 सं0 29) जो हो सकता है–– अर्थात् जो 'सम्भावना अथवा आवश्यकता के अनुरूप है; वास्तव में, यह भावना का वही सत्य है जो द्रष्टा, वक्ता अथवा श्रोता को ग्राह्य है। कुन्तक ने इसी को वस्तु का 'सहृदयाह्लादकारीस्वस्पन्द' अर्थात् सहृदयों को आह्लाद देने वाला धर्म कहा है। प्रथम उन्मेष में नवमी कारिका के वृत्ति के अन्तर्गत कुन्तक ने लिखा है : यद्यपि पदार्थ नानाविध धर्म से युक्त हो सकता है फिर भी (काव्य मे) ऐसे धर्म से उसका सम्बन्ध वर्णन किया जाता है जो सहृदयों के हृदय में आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ हो सकता है। और उस (धर्म) में ऐसी सामर्थ्य सम्भव होती है जिसमें कोई अपूर्व स्वभाव की महत्ता अथवा रस को परिपुष्ट करने की अंगता अभिव्यक्ति को प्राप्त होती है।" उपर्युक्त दोनों उद्धहरणों का आशय एक एक ही है: भेद शब्दावली का है, पहले उद्धहरण में दार्शनिक की सांकेतिक शब्दावली है, और दूसरे में काव्य में काव्यरसिक की वाक्छटा।

इस प्रकार अरस्तू ने अपने ढंग से वस्तु वक्रता का प्रतिपादन किया है।

शैली के प्रसंग में तो अरस्तू ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वक्रता की महत्ता स्वीकार की है। उनके दोनों ग्रन्थों के काव्यशास्त्र (पोयटिक्स) तथा रीतिशास्त्र (रहै टरिक्स) के – अनेक उद्धरण वक्रता का पोषण करते हैं :–

1. प्रचलित प्रयोग से वैचित्र्य भाषा को एक प्रकार की गरिमा प्रदान करता है। + + + इसलिए भाषा में वैचित्र्य का रंग देना चाहिए क्योंकि मनुष्य आसाधारण की प्रशंसा करता है, और जो प्रशंसा का विषय है वह आह्लाद का भी विषय होता है।"

---

1. वक्रोक्ति जीवित – पृ0 सं0 –217

2. भाषा का वह गुण यह है कि वह स्पष्ट तो हो किन्तु उसका स्तर नीचा न हो। प्रचलित (रूढ़) शब्दों पर आश्रित पदावली सबसे स्पष्ट होती है, परन्तु उसका स्तर नीचा होता है। + + + असाधारण शब्दावली से मेरा अभिप्राय है: दूसरी भाषाओं से रहित शब्द, लाक्षणिक प्रयोग, विस्तारित पद तथा प्रचलित शब्दावली से भिन्न अन्य सभी प्रकार का वैचित्र्य।"

3. "इन साधनों का प्रयोग केवल भाषा में लावण्य का समावेश करने के लिए ही करना चाहिए। ऐसा करने से अन्य भाषाओं के शब्द लाक्षणिक प्रयोग और कल्पित तथा अन्य सभी प्रकार के शब्द जिनका मैने उल्लेख किया है भाषा शैली को साधारण तथा निम्न स्तर पर नहीं आने देंगे, और प्रचलित शब्द अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक होगें।"

रोमी आचार्य : सिसरो और होरेस (ईसा – पूर्व प्रथम शती)

"यूनान के पश्चात् रोम संस्कृति और साहित्य का केन्द्र बना। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अरस्तू की परम्परा सिसरो, होरेस आदि रोमी तथा डायोनीसियस और डेमैट्रियस प्रभृति यूनानी आचार्यो के ग्रन्थों में आगे बढ़ी। रोमी संस्कृति और साहित्य के मूल आधार थे गरिमा और औचित्य – अथवा औचित्यमूलक गरिमा। सिसरो तथा होरेस ने स्वभावत: अपने विवेचन में इन्हीं दो तत्वों को महत्व दिया है और इनके आधार पर अभिव्यंजना में भी संयम, स्पष्टता, अग्राम्यता, गम्भीर पद–रचना आदि गुणों पर ही अधिक बल दिया है। यों तो कुन्तक ने भी औचित्य को ही वक्रता का आधार माना है, परन्तु जैसा कि हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है वक्रता और औचित्य का व्यावर्तक धर्म भिन्न है: वक्रोक्तिवाद जहाँ रोमानी काव्य रूप की प्रतिष्ठा करता है वहाँ औचित्य विचारगत सौष्ठव की। अतएव इन दोनों में प्रकृति का भेद है और निसर्गत: रोमी प्रकृति के साथ कुन्तक की वक्रता की विशेष संगति नहीं बैठती, यद्यपि न रोमी काव्यशास्त्र वक्रता का पूर्ण बहिष्कार कर सकता है और न कुन्तक औचित्य का: कुन्तक ने तो उसे अनिवार्य तत्व ही माना है। सिसरो स्वतंत्रचेता तथा तेजस्वी पुरुष थे। उन्होंने भव्य औचित्य (डेकोरम) को जीवन और साहित्य का प्राण तत्व माना है। भव्यता में असामान्यता का भी अर्न्तभाव है, अतएव उसके साथ वक्रता की स्वीकृति

भी उसी मात्रा में स्वतः हो जाती है। सिसरो उद्देश्य के अनुरूप तीन प्रकार की शैलियों की स्थिति मानते हैं : ऋजु–सरल अनलंकृत शैली उपदेश के लिए मध्यम शैली – जिसमें रंग की छटा हो किन्तु साथ ही संयम भी हो – प्रसादन के लिए, और उदात्त शैली जो भव्य तथा सप्राण हो – संप्रेरित करने के लिए। इनमें से रंग की छटा वक्रता की द्योतक है : प्रसादन के लिए सिसरो संयत वक्रता के पक्षपाती हैं। एक साधन पर वे कहते हैं कि सामान्य व्यवहार की भाषा से भिन्न भाषा का प्रयोग गुरुतम अपराध है। परन्तु अन्यत्र अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है : सुष्ठु शैली उपयुक्त शब्द चयन पर आश्रित है।"[1] उपयुक्त का अर्थ है जनता के वास्तविक व्यवहार की शब्दावली जो स्वतन्त्र शब्द जाल मात्र न हो– ऐसी शब्दावली जो जनपदीय घिसे–पिटे तथा ग्राम्य तत्वों से मुक्त हो और गरिमा एवं छटा प्रदान करने वाले असाधारण रूपों तथा लाक्षणिक प्रयोगों से सम्पन्न हो। इस प्रकार सिसरो की दृष्टि में भेद है: कुन्तक के लिए साहित्य का प्राण है वक्रता–औचित्य उसका सामान्य उपबन्ध है, किन्तु सिसरो के अनुसार प्राणतत्व है औचित्य पर वक्रता की छटा भी विद्यमान होने से उसका आकर्षण और बढ़ जाता है। होरेस ने वक्रता को इतनी भी मान्यता नहीं दी है: उनकी शास्त्रवादी संगीत, अनुपात तथा अनुक्रम आदि पर ही केन्द्रित रही है। ये तत्व यद्यपि वक्रता के विरोधी नहीं है, फिर भी मूलतः कदाचित् ऋजुता के साथ ही इनका घनिष्ठतर संबंध है।

<u>लांजाइनस (ईसा की तीसरी शती)</u> :– यूनानी रोमी आचार्यों में वक्रता का सबसे प्रबल समर्थन लांजाइनस ने किया है, परन्तु यह समर्थन अप्रत्यक्ष रूप में ही किया गया है। लांजाइनस के प्रसिद्ध निबन्ध का प्रतिपाद्य है 'उदात्त भावना'। यह 'उदात्त भावना' निश्चय ही जीवन और काव्य के असाधारण तत्वों पर आधृत रहती है। इस प्रकार उदात्त की परिकल्पना में वक्रता का परिवेश अनिवार्य रूप से हो जाता है। लांजाइनस ने अनेक स्थलों पर वक्रता के महत्व पर प्रकाश डाला है।

---

1. वक्रोक्ति – जीवित – पृ0 सं0 –220

1. + + + उदात्त भावना एक प्रकार का अभिव्यंजनागत चमत्कार अथवा विशिष्ट गुण है और महान कवियों तथा लेखकों ने इसी के द्वारा अमर ख्याति का अर्जन किया है। क्योंकि जो असाधारण है अथवा सामान्य से विलक्षण है, वह श्रोता के मन में प्रवृत्ति मात्र जगाकर नहीं रह जाता है, वह तो आह्लाद का उद्रेक करता है।"

2. उदात्त शैली के पाँच मुख्य आधार हैं। प्रथम और सबसे प्रमुख है महान परिकल्पना शक्ति + + + दूसरा है प्रबल और अन्तः प्रेरित आवेग। अलंकार विधान के अन्तर्गत दो प्रकार के अलंकार आते हैं– विचार से सम्बद्ध और अभिव्यंजना से सम्बद्ध। इसके उपरान्त है भाषागत अभिजात्य जिसके अन्तर्गत शब्दचयन, लाक्षणिक प्रयोग और भाषा का अलंकरण आदि प्रसाधन आते है। पाँचवा आधार है + + + रचना की गरिमा और औदार्य।"

   इन आधार तत्वो में से प्रायः सभी वक्रतामूलक हैं। पहला वस्तु वक्रता प्रकरण वक्रता के अन्तर्गत आता है। दूसरा भी रस के आश्रय से उसी के अन्तर्गत माना जा सकता है। शेष का सम्बन्ध वाक्य – वक्रता से है।

3. इस प्रकार हम सभी प्रसंगों में कह सकते हैं कि जो उपयोगी अथवा आवश्यक है उसे तो मनुष्य साधारण समझता है, किन्तु जो चमत्कारपूर्ण और विस्मयकारी है वह उसकी प्रशंसा तथा आदर का पात्र है।"

"मैं तो यह अच्छी तरह समझता हूँ कि उदात्त प्रतिभा निर्दोषता से दूर ही होती है क्योंकि अनिवार्य शुद्धता में क्षुद्रता की आशंका रहती है और उदात्त में कुछ न कुछ त्रुटि रह जाती है।"

इस प्रकार वक्रता लांजाइनस की उदात्त विषयक परिकल्पना का एक मूल तत्व है; जो उदात्त है वह अनिवार्यतः सामान्य से विलक्षण अथवा वक्र होगा। यहीं कुन्तक और उनके दृष्टिकोण का भेद भी स्पष्ट हो जाता है। कुन्तक के अनुसार काव्य का प्राणतत्व है वक्रता, उदात्त या भव्य उसका एक प्रकार हैं जो वीर रस तथा ऊर्जस्वी भावना से पुष्ट होता है: इसके अतिरिक्त

कोमल, मधुर, विचित्र आदि उसके अन्य रूप भी होते हैं। उधर लांजाइनस के मत से काव्य की आत्मा है भव्यता। यह भव्यता अनिवार्य रूप से वक्रता–विशिष्ट होगी, परन्तु सभी प्रकार की वक्रता भव्य नहीं हो सकती– अर्थात् वक्रता भव्यता की अभिव्यंजना का प्रकार मात्र है, पर्याय नहीं है।

लांजाइनस के अतिरिक्त अन्य यूनानी रोमी आचार्यों ने वक्रता पर कोई विशेष बल नहीं दिया। लांजाइनस के पूर्ववर्ती डायोनीसियस और परवर्ती डिमेट्रियस आदि यूनानी आचार्य तथा क्विन्टीलियन आदि रोमी विद्वान वास्तव में रीतिकार ही थे जिनका ध्यान अनुक्रम, अनुपात संगति आदि रचना–तत्वों पर ही प्रायः केन्द्रित रहा, उनके रीतिनिष्ठ दृष्टिकोण में वक्रता जैसे रोमानी तत्व के लिए विशेष स्थान नही था।"[1]

<u>दान्ते (तेरहवीं शती)</u> :– यूरोप के अंधकारमय मध्ययुग के सबसे उज्ज्वल नक्षत्र दान्ते हैं, उन्होने केवल सर्जन के क्षेत्र में ही नहीं विवेचन के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इस दिशा में उनकी सबसे बड़ी सिद्धि थी युग की आवश्यकता के अनुसार रीतिबद्ध लैटिन के विरुद्ध 'उज्ज्वल जनवाणी' इटालियन की गौरव प्रतिष्ठा। उज्ज्वल जनवाणी से अभिप्राय उनका भाषा से था जो काव्य रूढ़ एवं रीतिबद्ध नहीं हो गई थी वरन् जीवन की विचित्रता और प्रफुल्लता से सम्पन्न थी। इस प्रकार दान्ते ने उज्ज्वल जन वाणी की प्रतिष्ठा द्वारा अभिव्यक्ति के क्षेत्र में रोमानी वक्रता की प्रतिष्ठा की है। इस स्थापना की पुष्टि में उनके शब्द विवेचन तथा शैली सम्बन्धी वक्तव्य भी उद्धृत किये जा सकते हैं। दान्ते के अनुसार शब्द मूलतः तीन प्रकार के होते हैं : कुछ शब्द बच्चों की तरह तुतलाते हैं, कुछ में स्त्रियोचित पेलवता होती है और कुछ शब्दों में पौरुष होता है। अन्तिम वर्ग के शब्दों में कुछ ग्राम्य होते हैं और कुछ नागर; नागर शब्दों में कुछ मसृण और चिक्ककरण होते हैं, कुछ प्रकृत तथा अनगढ़।

"इन शब्दों में से मसृण और प्रकृत को ही हम उदात्त शब्दावली कहते हैं, चिक्करण और अनगढ़ शब्दों में आडम्बर मात्र रहता है। + + उदात्त शैली

---

1. वक्रोक्ति –जीवित – पृ0 सं0 –222

में तुतले शब्दों के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि वे अतिपरिचित शब्द होते हैं, स्त्रैण शब्द अपनी स्त्रैणता के कारण और ग्राम्य शब्द अपनी परुषता के कारण त्याज्य है। नागर शब्दावली के चिक्करण और अनगढ़ शब्द भी ग्राह्य नहीं है। इस प्रकार केवल मसृण और प्रकृत शब्द रह जाते हैं, और ये शब्द भव्य हैं।"

उपयुक्त शब्द विवेचन में दान्ते ने अपने ढंग से – अशास्त्रीय शैली में–– मुख्य रूप से वर्ण विन्यास वक्रता और सामान्य रूप से पर्याय वक्रता आदि वक्रोक्ति–भेदों का विवचेन किया है। परिचित शब्दों का बहिष्कार ग्राम्य तथा अनगढ़ का त्याग वर्ण विन्यास के आधार पर शब्द की वक्रता का ही प्रतिपादन है। इसी प्रकार शैली के चार भेदों में से निर्जीव एवं रुचिविहीन तथा केवल सुरुचिपूर्ण आदि का अस्वीकार भी 'वक्रताविचित्रगुणालंकारसम्पदा' की ही प्रतिष्ठा है। इस प्रकार दान्ते काव्य रचना के क्षेत्र में अपनी कल्पना के मुक्त प्रवाह द्वारा और काव्य विवचेन के क्षेत्र में स्वतंत्र चिन्तना द्वारा अर्थ तथा वाणी की वक्रताओं के लिए द्वार खोल देते हैं।

दान्ते को यूरोप के मनीषियों ने 'प्राचीनों में अन्तिम और आधुनिकों में प्रथम माना है। उनका समय वास्तव में यूरोप के इतिहास में अंधकारयुग था – दान्ते ने कुछ समय के लिए उसे अपनी प्रखर प्रतिभा आलोकित तो अवश्यय कर दिया किन्तु फिर भी अन्धकार दूर होते होते लगभग दो शताब्दियाँ बीत गईं और सोलहवीं शताब्दी में जाकर पुर्नजागरण का प्रभात हुआ। यह युग वास्तव में स्वर्ण युग है। जिसमें यूरोप की अवरुद्ध प्रतिभा सहस्रमुखी होकर तरंगायित हो उठी। इटली, स्पेन, इंग्लैण्ड आदि सभी देशों में यह अदम्य सर्जना का युग था: एक ओर प्राचीन अमर वाड्.मय का पुनरुद्धार हुआ और दूसरी ओर नवीन उत्कृष्ट साहित्य का सृजन। जीवन और साहित्य में शास्त्रीय मूल्यों के स्थान पर रोमानी मूल्यों की प्रतिष्ठा होने लगी और रीति के स्थान पर वक्रता–वैचित्र्य का आकर्षण बढ़ने लगा। सोलहवीं शती में इटालियन भाषा के आलोचकों तथा रीतिकारों के लेखों में वक्रता–वैचित्र्य का स्वर स्पष्ट सुनाई देता है।

1. मैं सत्य और कल्पना के मिश्रण की बात इसलिए करता हूँ क्योंकि इतिहासकार की भाँति कवि वस्तुओं या घटनाओं का यथावत् वर्णन करने के लिए बाध्य नहीं होता उसका काम तो यह दिखाना है कि वे कैसी होनी चाहिए थीं।

2. अब हम एक सर्वमान्य और शाश्वत निर्णय पर पहुँच सकते हैं – और वह यह कि विज्ञान, कला, इतिहास – कोई भी विषय काव्य का प्रतिपाद्य हो सकता है। किन्तु शर्त यह है कि उसका प्रतिपादन काव्यमय रीति से हो।"[1]

इन उद्धरणों में 'कल्पना का मिश्रण', 'यथावत वर्णन का त्याग' और 'काव्यमयरीति' ये तीनों ही वक्रता के प्रकार हैं।

इंग्लैण्ड में प्रतिभा का विस्फोट और भी वेग से हुआ – शेक्सपियर ने शास्त्र रीति का तिरस्कार कर विषय – वस्तु में विक्षेप और तदनुकूल शैली में वैचित्र्य का ही युग था, इसमें एक ओर परम्परा की पुन: प्रतिष्ठा ओर दूसरी ओर नवीन प्रयोग की आतुरता थी। अंगरेज आलोचक सी फिलिप सिडनी की आलोचना में श्रद्धा और विद्रोह दोनों के ही तत्व लिम जाते हैं – उन्होंने परम्परावादी होरेस आदि का अनुसरण न कर लांजाइनस का अनुकरण किया, शिक्षण तथा मनोरंजन की अपेक्षा संप्रेरणा को काव्य की सिद्धि माना और इस प्रकार रोमानी मूल्यों के प्रति अपना अनुराग व्यक्त किया। वैन जानसन जैसे शास्त्रनिष्ठ आलोचक ने भी साहसपूर्ण यह उद्‌घोषणा की। अरस्तू और अन्य आचार्यों को उनका देय मिलना चाहिए किन्तु हम उनसे आगे सत्य तथा औचित्य–विषयक अन्वेषणाएँ करे तो हमारे प्रति यह विद्वेष क्यों?" फिर भी समग्र रूप में परम्परा में ही जानसन की निष्ठा अचल रही और उन्होनें उद्‌भावना की अपेक्षा रीति तथा अनुशासन पर और इधर वैचित्र्य–वक्रता की अपेक्षा स्पष्टता, समास–गुण, औचित्य विवेक आदि पर ही अधिक बल दिया।

---

1. वक्रोक्ति – जीवित – पृ0 सं0 – 224

नव्यशास्त्रवाद (सत्रहवीं – अठारहवीं शताब्दी)

पुनर्जागरण के युग के उपरान्त सत्रहवी शती में यूरोपीय आलोचना में क्रमशः नव्यशास्त्रवाद का आरम्भ होता है। नव्यशास्त्रवाद का जन्म फ्रांस में हुआ – फ्रांस के कोरनेई तथा बोइलो की आलोचनाओं में वह पुष्पित हुआ और इंग्लैण्ड के पोप के साहित्य में उसका पूर्ण विकास हुआ। नव्यशास्त्र का मूल सिद्धान्त यह है कि प्राचीन अमर साहित्य का अनुकरण ही साहित्य सृजन की सफलता का रहस्य है। उनके अनुकरण से विवेक और सुरुचि प्राप्त होती है और विवेक अथवा सुरुचि का नाम ही प्रकृति है। इस प्रकार नव्यशास्त्रवाद में रीति की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई और वक्रता वैचित्र्य की, आडम्बर मात्र मानकर, भर्त्सना की गई। बोइलो ने इटली के काव्य के वक्रता–वैचित्र्य की नकली हीरों से तुलना की और सत्कवियों को उनका बहिष्कार करने की चेतावनी दी। इंग्लैण्ड में ड्राइडन का दृष्टिकोण अधिक सरल तथा संतुलित था, उन्होंने निष्ठा के साथ – साथ आवश्यक उद्भावना पर बल दिया। उन्होंने अभिव्यंजना के क्षेत्र में गरिमा और भव्यता का स्वागत किया किन्तु औचित्य को प्रमाण माना। कहने का अभिप्राय यह है कि ड्राइडन की दृष्टि रीतिबद्ध नहीं थी– प्राचीन रीति का उन्होंने तिरस्कार नहीं किया, परन्तु वैचित्र्य भी उन्हें इतना ही मान्य था जितना कुन्तक को। पोप ने उनका अनुसरण न कर बोइलो के ही प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की है।" पोप में वक्रता की स्वीकृति केवल उसी अनुपात से मिलती है जिस अनुपात से रीति–सिद्धान्त में वक्रोक्ति सिद्धान्त की। अर्थात् पोप का दृष्टिकोण शुद्ध रीतिवादी है परन्तु कुन्तक की वक्रता का क्षेत्र तो सर्वव्यापी है ओर रीति अर्थात् पदरचना का सौन्दर्य भी वक्रता का एक प्रकार है। पद लालित्य रसिक पोप ने अपनी रचनाओं में इसी सीमित अर्थ में वक्रता को स्वीकृति दी है। अन्यथा बोइलो की भाँति उन्होंने भी शैलीगत वैचित्र्य वक्रता को स्वीकृति दी है।"[1] अन्यथा बोइलो की भाँति उन्होने भी शैलीगत वैचित्र्य–वक्रता का तिरस्कार ही किया है, "मिथ्या

---

1. वक्रोक्ति – जीवित – पृ0 सं0 – 226

वाग्मिता ही अशुद्ध शैली है। उसकी स्थिति एक ऐसे शीशे के समान है जो चारो ओर अपने भड़कीले रंगों को बिखेर देता है जिनके कारण हम पदार्थों के सहज रूपों को नहीं देख पाते। सभी में एक जैसी चमक–दमक उत्पन्न हो जाती है किसी में कोई भेद नहीं रहता।" (ऐसे ऑन क्रिटिसिज्म)। उपयुक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि पोप शैलीगत वक्रताओं के विरुद्ध है और इस प्रकार की शैली को अशुद्ध शैली और मिथ्या वाग्मिता का पर्याय मात्र मानते हैं। मिथ्या अलंकरण तथा शब्दाडम्बर का तिरस्कार कुन्तक ने भी किया है। परन्तु दोनों में दृष्टि का भेद है: पोप तो स्वच्छ शुद्ध शैली के पक्षपातवश वैचित्र्य मात्र का विरोध करते हैं।"[1]

एडिसन (अठारहवीं शती)

ऐडिसन पोप के ही समसामयिक थे, परन्तु उनकी दृष्टि कहीं अधिक उदार और मुक्त थी, उन्होंने काव्य में कल्पना के महत्व की पुनः प्रतिष्ठा की। लांजाइनस के उपरान्त पहली बार कल्पना के इतने स्पष्ट शब्दों में स्थापना करने के कारण ही एडिसन को आज यूरोपीय काव्यशास्त्र के इतिहास में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। कल्पना की यह स्वीकृति प्रकारान्तर से वक्रता की भी स्वीकृति है, और एडिसिन के प्रतिपादन द्वारा दान्ते के पश्चात् शताब्दियों बाद यूरोप के काव्यशास्त्र में वक्रता के प्रति सम्मान की भावना का उदय होता है। एडिसन ने वक्रता के अनेक रूपों को अपने ढंग से स्वीकार किया है:

1. "मैं स्पष्टीकरण के लिए केवल ये शब्द और जोड़ देना चाहता हूँ कि प्रत्येक प्रकार के भाव–साम्य में चमत्कार नहीं है केवल वही साम्य इसके अन्तर्गत आता है जिसमें आह्लाद और विस्मय उत्पन्न करने की क्षमता हो: चमत्कार के लिए ये दो गुण अनिवार्य हैं – विशेषकर विस्मय। कोई भी सादृश्य अथवा साम्य वर्णन तभी चमत्कार के अन्तर्गत आ सकता है जब समान तथ्य अपने प्रकृत रूप में एक दूसरे के बहुत अधिक निकट न हों क्योंकि जहाँ साम्य सर्वथा स्पष्ट है वहाँ विस्मय की उद्बुद्धि नहीं होती। एक व्यक्ति के संगीत की दूसरे के संगीत से

---

1. वक्रोक्ति–जीवित – पृ0 सं0 227

उपमा देने अथवा किसी पदार्थ की शुभ्रता की दूध या बर्फ से तुलना करने या या उसके रंगों को इन्द्रधनुष के रंगों के समान कहने में तब तक कोई चमत्कार नहीं है जब तक इस स्पष्ट साम्य के अतिरिक्त लेखक किसी ऐसी संगति की अन्वेषणा नहीं कर लेता जो पाठक के मन में विस्मय की उद्बुद्धि कर सके। उपयुक्त उद्धरण में एडिसन वार्ता और वक्रता के भेद की व्याख्या कर रहे हैं : साधारण साम्य स्थापना वार्ता मात्र है, जब कवि उसमें किसी वैचित्र्य की उद्भावना करता है तभी उसमें चमत्कार का समावेश होता है। आह्लाद और विस्मय पर आश्रित यही चमत्कार कुन्तक की वक्रता है।

कुन्तक के समान एडिसन भी 'कोरे चमत्कार' की निन्दा करते हैं : जिस प्रकार वास्तविक चमत्कार इस तरह के भाव या तथ्य–साम्य तथा संगति में निहित है, इसी प्रकार मिथ्या चमत्कार का आधार होता है पृथक् वर्णों का साम्य तथा संगति जैसे कतिपय अनुप्रास भेदों या एकाक्षर आदि में, या शब्दों का साम्य तथा संगति जैसे यमकादि में, अथवा समग्र वाक्य या रचनागत साम्य और संगति जैसे खड्ग–बंध आदि में ।"[1]

अठारहवीं शती का उत्तरार्द्ध

अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रीति–बद्ध प्रकृति तथा रूढ़िबद्ध काव्य–शिल्प के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई। इंग्लैण्ड में यंग आदि और जर्मनी में लैसिंग शिलर, गेअटे आदि ने कवि–प्रतिभा के स्वातन्त्र्य और कला की स्वच्छन्दता की प्रबल शब्दों में पुनः प्रतिष्ठा की। यंग ने प्राचीन के अनुकरण की अपेक्षा मौलिक–सृजन का स्तवन किया और नव्यशास्त्रवादियों द्वारा प्रतिपादित रीतिवाद की निन्दा की। उन्होने रूढ़ और सामान्य मार्ग के त्याग तथा वैचित्र्य–वक्रता के ग्रहण का अनुमोदन किया :

"रूढ़ मार्ग को त्याग कर ही कवि कीर्ति प्राप्त कर सकता है, उसके लिए लीक को छोड़ना आवश्यक है. सामान्य मार्ग से जितनी दूर तुम्हारा पथ होगा उतना ही यश तुम्हें मिलेगा।× × × × ×

कविता में गद्य के विवेक की अपेक्षा कुछ अधिक रहता है, उसमें

---

1. वक्रोक्ति – जीवित – पृ0 – 227

कुछ ऐसे रहस्य विद्यमान रहते हैं जिनकी व्याख्या नहीं केवल प्रशंसा ही की जा सकती है – जिससे केवल गद्यमय व्यक्ति उनके दिव्य–चमत्कार के प्रति नास्तिक हो जाते हैं।"

प्रसिद्ध जर्मन आलोचक लैसिंग ने भी अत्यन्त सूक्ष्म–गहन रीति से काव्य के भावात्मक रूप की स्थापना की और अपने परवर्ती स्वच्छन्दतावादी कवि–कलाकारों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। काव्य और चित्र के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए उन्होंने अपने अमर ग्रन्थ 'लेओकोअन' में एक स्थान पर वस्तु–वक्रता का अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है–

इसी प्रकार कवि भी काव्य रचना के समय अपनी अविरल अनुक्रिया में वस्तु के केवल एक ही गुण का ग्रहण कर सकता है, इसलिए उसे ऐसे ही गुण का चयन करना चाहिए जो वस्तु का सबसे सजीव चित्र मन में जगा सके। + + +

"कवि का अभीष्ट केवल अर्थ–बोध कराना नहीं होता उसका वर्णन केवल स्पष्ट सरल को यही पर्याप्त नहीं है, यद्यपि गद्य लेखक का इतने से ही परितोष हो सकता है। वह तो अपनी कविता द्वारा पाठक के मन में उद्बुद्ध विचारों को जीवन्त रूप देना चाहता है जिससे कि हम उस समय वर्णनीय पदार्थ के वास्तविक ऐन्द्रिय प्रभाव की अनुभूति कर सके और माया के इन क्षणों में हमें उसके साधनों का अर्थात् शब्दों का ज्ञान ही न रहे।"

साधारण गुणों का यह त्याग और विशेष प्रभावक गुणों का ग्रहण वस्तु वक्रता का मूल सिद्धान्त है– कुन्तक ने भी लगभग समान शब्दों में उसका विवेचन किया है, "इसका अभिप्राय यह हुआ कि यद्यपि पदार्थ नानाविध धर्म से युक्त हो सकता है, फिर भी उस प्रकार के धर्म से उसका धर्म (काव्य में) वर्णित किया जाता है जो सहृदयों के हृदय में आनन्द उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है, और उसमें ऐसी सामर्थ्य सम्भव होती है जिससे कोई अपूर्व स्वभाव की महत्ता अथवा रस को परिपुष्ट करने की अंगता अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है। शिलर और गेअटे लैसिंग के ही समसामयिक थे।– शिलर ने जर्मनी में स्वच्छन्दतावाद का

प्रबल समर्थन किया। अपनी प्रसिद्ध रचना 'सरल और भावप्रधान काव्य' में उन्होंने वास्तव में प्राचीन अमर काव्य तथा नवीन स्वच्छन्दतावादी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए स्वच्छन्दतावादी मूल्यों की स्थापना की है— और वस्तुनिष्ठ सरलता के स्थान पर भावपरक वैचित्र्य—वक्रता का अनुमोदन किया है। गेअटे प्रकृति से स्वच्छन्दतावादी कलाकार थे, उनकी रचनाओं में रम्य और अद्भूत के प्रति प्रबल आकर्षण मिलता है। वैसे सिद्धान्त में गेअटे ने प्राचीनों की शास्त्रीय परम्परा की स्थान—स्थान पर दुहाई दी हैं, परन्तु जैसा कि शिलर ने एक बार लिखा था, उनके काव्य की आत्मा और तदनुसार उनके कलात्मक दृष्टिकोण का निर्माण, उनकी इच्छा के विरुद्ध, निश्चय ही रोमानी तत्वों से हुआ है।"[1]

<u>स्वच्छन्दतावाद</u> :— मान्य आलोचकों के अनुसार स्वच्छन्दतावादी कला के आधार तत्व है रम्य और अद्भुत और उसकी प्रेरक शक्ति है अदम्य आवेग। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार इस युग का दृष्टिकोण आवेग की प्रधानता के कारण निश्चय ही रसवादी है— परन्तु अभिव्यंजना में रम्य और अद्भुत का वैभव—विलास होने के कारण वक्रता की वांछा भी उसमें कम नहीं है, उसका विरोध वास्तव में रीतिवाद से है जो यूरोप में नव्यशास्त्रवाद का आश्रय लेकर प्रकट हुआ था। भारतीय काव्यशास्त्र में भी रसवाद और वक्रोक्तिवाद में कोई मौलिक विरोध नही है — वक्रता वस्तुतः रमणीयता का दूसरा नाम है और कुन्तक ने स्थान पर उसे रस—निर्भर अथवा रस परिपुष्ट माना है। इस प्रकार रस और वक्रता एक दूसरे के पूरक हैं विरोधी नहीं। यूरोप के रोमानी काव्य में रम्य के साथ—साथ अद्भुत के प्रति भी प्रबल आग्रह विद्यमान है, अतएव उसमें तो रस के साथ वक्रता—वैचित्र्य का समावेश भी उसी अनुपात से हुआ है।

"अंगरेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तन वर्डसवर्थ द्वारा लिखित 'लिरिकल बैलड्स की भूमिका' के साथ होता है : वह मानो युग—परिवर्तन की उद्घोषणा थी। वर्ड—सर्वथ की प्रकृति सरल और गम्भीर थी, उनकी भावुकता वैचित्र्य—विलास की अपेक्षा जीवन और जगत के सरल गम्भीर रूपों में अधिक

---

1. वक्रोक्ति — जीवित — पृ0 सं0 — 231

रमती थी। उधर अपने समसामयिक काव्य की कृत्रिम समृद्धि के प्रति उनके मन में घोर वितृष्णा की भावना जगी हुई थी। अतएव उन्होंने मूल मानव–मनोवृत्तियों पर आश्रित शुद्ध रसवाद की अत्यधिक आग्रह के साथ प्रतिष्ठा की। कविता उनके मत से प्रबल मनोवेगों का सहज उच्छलन है– वह शान्ति के क्षणों में भाव–स्मरण है। मानव की सहज शुद्ध रागात्मक प्रवृत्तियों का परितोष उसका उद्‌देश्य है। शुद्धता के प्रति इस प्रबल आग्रह के कारण बर्ड्सवर्थ अपने सिद्धान्त निरूपण में स्थान–स्थान पर वक्रता वैचित्र्य का तिरस्कार करते प्रतीत होते हैं।"[1]

1. "इन कविताओं में मेरा उद्‌देश्य रहा है जन –साधारण के जीवन से घटनाओं तथा स्थितियों का चयन करना तथा उन्हें जनता के वास्तविक व्यवहार की भाषा से चुनी हुई शब्दावली में अभिव्यक्त करना।"

2. सामान्यत: मैने ग्रामीण तथा निम्न वर्ग के जन जीवन को अपना विषय बनाया है + + + क्योंकि ये लोग अपनी सामाजिक स्थिति तथा संकुचित एवं परिवर्तनहीन कार्यक्षेत्र के कारण सामाजिक दम्भ से अपेक्षाकृत मुक्त रहते हैं और अपनी भावनाओं तथा धारणाओं को सरल तथा अलंकारहीन भाषा में व्यक्त करते हैं।"

3. वर्ड्सवर्थ ने उन कवियों की निन्दा की है " जो यह समझते हैं कि अपने को जन–साधारण की अनुभूतियों से पृथक् रख तथा अपने कल्पना–प्रसूत रुचि चापल्य के लिए खाद्य प्रस्तुत कर वे अपनी कला की मान–वृद्धि कर रहे हैं।"[2]

<u>स्वच्छन्दतावाद के उपरान्त</u> :– स्वछन्छतावाद के आवेगमय विस्फोटों के उपरान्त यूरोप की चिन्तनधारा में विज्ञान के वर्धमान प्रभाव के कारण फिर विचार–विवेक की प्रतिष्ठा होने लगी। फ्रांस में सेन्ट –व्युव (सॉं बुव) ने काव्य–तत्व पर बल देते हुए भी प्राचीनों के संयम–संस्कार का स्तवन किया और व्यापक आधार पर

---

1. वक्रोक्ति – जीवित – पृ0 सं0 – 231
2. वक्रोक्ति – जीवित – पृ0 सं0 – 231

पर शास्त्रीय मूल्यों की फिर से स्थापना की। टेन ने साहित्य पर जाति, देश काल आदि के नियामक प्रभाव को महत्व देते हुए ऐतिहासिक आलोचना का व्यवस्थापन किया। इन आलोचकों की विचार – पद्धति ही सर्वथा भिन्न थी – उसमें वक्रता ऋजुता आदि कला– दृष्टियों के लिए स्थान नहीं था : यद्यपि यह भी सत्य है कि वक्रता से इनका कोई विरोध नहीं था। इंग्लैण्ड में विक्टोरिया का युग संयम और सुरुचि का प्रतीक था। मैथ्यू आर्नल्ड ने काव्य में 'उदात्त गम्भीरता' को प्रमाण माना और काव्य वस्तु की प्रधानता दी: उन्होंने काव्यशैली को भी उचित मान दिया, परन्तु उसे 'वस्तु के अधीन' ही माना। सामान्यत: कला–विलास का आर्नल्ड की दृष्टि में विशेष मूल्य नहीं था उन्होंने वक्रता–वैचित्र्य तथा अलंकरण आदि के प्राचुर्य का विशेष आदर नहीं किया। क्गि लीअर की आलोचना करते हुए आर्नल्ड ने लिखा है : अभिव्यंजना की यह अतिवक्रता वास्तव में एक अद्‌भुत गुण विशेष का आवश्यकता से अधिक उपयोग है : वह गुण है– दूसरों की अपेक्षा सुन्दर रीति से कथन करने की क्षमता। किन्तु फिर भी इस गुण का इतना अधिक इतनी दूर तक प्रयोग किया गया है कि मसियो गिजो की इस आलोचना का आशय सहज ही हृदगत हो जाता है – शेक्सपियर ने अपनी भाषा में केवल एक को छोड़ सभी शैलियों का प्रयोग किया है और वह एक शैली है सरल शैली।"

कीट्स की प्रसिद्ध कविता इजावेला के विरुद्ध भी अर्नाल्ड का यही निर्णय है: इजावेला कविता सुन्दर तथा रमणीय शब्दों और चित्रों का परिपूर्ण भांडार है: प्राय: प्रत्येक पद में एक न एक ऐसी सजीव और चित्रमय अभिव्यंजना है जिसके द्वारा वर्ण्य वस्तु मन: चक्षु के सम्मुख चमक उठती है और पाठक का चित्त सहसा आनन्द से तरंगित हो उठता है। + + + किन्तु कार्य – व्यापार और कथा–वस्तु? कार्य–व्यापार अपने आप में सुन्दर है, परन्तु कवि में उसका भावन इतने निर्जीव रूप में तथा विधान इतनी शिथिलता से किया है कि उसका प्रभाव कुछ नहीं रह जाता। कीट्स की कविता पढ़ने के उपरान्त पाठक यदि उसी कहानी को डेकारेमन में पढ़े तो उसे यह अनुभव होगा कि वही

कार्यव्यापार एक ऐसे महान कलाकार के हाथों में पड़कर कितना सार्थक और रोचक बन जाता है जो सबसे अधिक ध्यान अपने 'उद्देश्य' को देता है और अभिव्यंजना को अभीष्ट अर्थ के अधीन रखता है।"[1]

अभिव्यंजनावादी और वक्रोक्तिवाद :– (इन्दौर के भाषण में) शुक्ल जी के इस वक्तव्य के उपरान्त कि कोचे का अभिव्यंजनावाद भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान है, इन दोनों का तुलनात्कम अध्ययन हिन्दी काव्यशास्त्र का एक रोचक विषय बन गया है। शुक्ल जी का यह निर्णय अधिक सुविचरित नहीं है, क्रोचे की इस धारणा से चिढ़कर कि 'कला में विषय वस्तु की कोई सत्ता नहीं है– अभिव्यंजना ही कला है 'शुक्ल जी ने आवेश में आकर अभिव्यंजनावाद का द्विगुण तिरस्कार करने के लिए ही कदाचित् ऐसा कह दिया है। वास्तव में शुक्ल जी का यह वक्तव्य है तो क्रोचे और कुन्तक दोनों के साथ ही अन्याय फिर भी आधुनिक आलोचनाशास्त्र के प्रकाश में कुन्तक के सिद्धान्त को और भी स्पष्ट करने के लिए दोनों का सापेक्षिक विवेचन अनुपयोगी नहीं है।

क्रोचे की मूल धारणाएँ :–"क्रोचे मूलत: आत्मवादी दार्शनिक है जिन्होंने अपने ढंग से आत्मा की अन्त: सत्ता की प्रतिष्ठा की है। उनके अनुसार आत्मा की दो क्रि याएँ हैं (1) विचारात्मक (2) व्यवहारात्मक। "विचारात्मक क्रिया अथवा ज्ञान के दो रूप हैं : ज्ञान स्वयंकाश्य होता है अथवा प्रमेय, कल्पना द्वारा प्राप्त ज्ञान अथवा प्रमा (बुद्धि) द्वारा प्राप्त ज्ञान, व्यष्टि (विशेष) का ज्ञान अथवा समष्टि(सामान्य) का ज्ञान, विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान अथवा उनके परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान: वास्तव में ज्ञान या तो बिम्ब का उत्पादक होता है या धारण का।"[2]

व्यवहारात्मक क्रिया का आधार है संकल्प जिसका फल ज्ञान में नहीं वरन् कर्म में प्रकट होता है। व्यवहारात्मक क्रिया के भी दो भेद हैं: (1) आर्थिक अर्थात् सांसारिक योगक्षेम से सम्बद्ध और (2) नैतिक अर्थात् सत–असत् से सम्बद्ध। विचार और व्यवहार में संगीत की स्थापना करते हुए क्रोचे ने आर्थिक क्रिया को व्यवहार का सौन्दर्यशास्त्र और नैकित क्रिया को उसका

1. वक्रोक्ति–जीवित – पृ0 सं0 237

2. वक्रोक्ति – जीवित – पृ0 सं0 239

तर्कशास्त्र कहा है।

"कला का सम्बन्ध ज्ञान के प्रथम भेद अर्थात् स्वयं प्रकाश ज्ञान से है इसी का नाम सहजानुभूति भी है। कला, क्रोचे के मत से सहजानुभूति ही है। सहजानुभूति पदार्थ–बोध से भिन्न है: पदार्थ बोध के लिए पदार्थ की स्थिति अनिवार्य है किन्तु सहजानुभूति उसके अभाव में भी होती है – उसके लिए वास्तविक और संभाव्य में भेद नहीं है। सहजानुभूति संवेदन से भी भिन्न है: संवेदन एक प्रकार का अरुप स्पन्दन है: आत्मा इसका अनुभव तो करती है, पर इसे अभिव्यक्त नहीं कर सकती। यह एक प्रकार का अमूर्त विषय है जो जड़ है – निष्क्रिय है, इसका केवल इतना ही महत्व है कि इसके आधार पर सहजानुभूतियों में परस्पर भेद हो जाता है। किन्तु सहजानुभूति अनिवार्यत: अभिव्यंजना रूप ही होती है – अतएव वह अभिव्यंजा से अभिन्न है – प्रत्येक सच्ची सहजानुभूति अभिव्यंजना भी होती है। जो अभिव्यंजना में मूर्त नहीं होती, वह सहजानुभूति न होकर संवेदन मात्र है। आत्मा निर्माण, सृजन तथा अभिव्यक्ति के रूप में ही सहजानुभूति करती है।

सारांश यह है कि सहजानुभूतिमय ज्ञान अभिव्यंजनात्मक होता है। बौद्धिक क्रिया से स्वतन्त्र, वास्तव, अवास्तव तथा देशकाल के बोध से निरपेक्ष। सहजानुभूति प्रकृत अनुभूति से–संवेदन की तरंगों से अथवा चेतना के विषय से अपने 'रूप' के कारण भिन्न है। और यह रूप भी अभिव्यंजना है। अतएव सहजानुभूति का अर्थ है अभिव्यक्ति: केवल अभिव्यक्त न कम न अधिक। यही कला है।

2. इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति स्वभावत: कलाकार है क्योंकि प्राय: सभी में सहजानुभूति की क्षमता रहती है। जो सहजानुभूति कर सकता है, वह अभिव्यंजना में भी समर्थ है और इसीलिए कलाकार भी है। फिर भी मान्य कलाकार तथा सामान्य व्यक्ति में क्या भेद है? यह भेद सहजानुभूति के प्रकार का नहीं है तीव्रता का नहीं है–केवल व्यापकता है। अर्थात् सामान्य व्यक्ति की सहजानुभूति से कलाकार की सहजानुभूति न तो प्रकार में भिन्न है और न तो तीव्रता की दशा में। कुछ व्यक्तियों में आत्मा की जटिल स्थितियों को अभिव्यक्त करने

की शक्ति तथा प्रवृत्ति औरों की अपेक्षा अधिक होती है, इनको ही विशेष अर्थ में कलाकार कहते हैं। इस प्रकार यह अन्तर मात्रा का नहीं है, विस्तार का है, 'कवि प्रतिभा जन्मजात होती है' कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक संगत है कि 'मनुष्य जन्मजात कवि होता है।

3. तत्व और रूप अथवा वस्तु और अभिव्यंजना के विषय में क्रोचे का मत काव्यशास्त्र की परम्परा से भिन्न है। सौन्दर्य वस्तु में निहित है, अथवा अभिव्यंजना में, अथवा दोनों में? यदि वस्तु से अभिप्राय अनिभिव्यक्त भावतत्व अथवा अन्तः संस्कारों का और अभिव्यंजना से तात्पर्य व्यक्तीकरकरण की क्रिया का है तो न सौन्दर्य वस्तु में निहित है और न वस्तु तथा अभिव्यंजना के योग में। सौन्दर्य के सृजन में अभिव्यक्ति का भाव–तत्व में योग नहीं किया जाता, वरन् भाव तत्व ही अभिव्यक्ति के द्वारा मूर्त रूप धारण करता है, अर्थात् यह भाव–तत्व ही मानों अभिवयंजना के रूप में फिर प्रकट हो जाता है जो अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होता है। अतएव सौन्दर्य अभिव्यंजना का नाम है– उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

4. कला मूलतः एक आध्यात्मिक क्रिया है, कलाकृति उसका मूर्त भौतिक रूप है जो सदैव अनिवार्य नहीं होता। कला–सृजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पाँच चरणों में विभक्त की जा सकती है – (अ) अरूप संवेदन (आ) अभिव्यंजना अर्थात् अरुप संवेदनों की आंतरिक समन्विति सहजानुभूति (इ) आनन्दानुभूति (सफल अभिव्यंजना के आनन्द की अनुभूति (ई) आन्तरिक अभिव्यंजना अथवा सहजानुभूति का शब्द, ध्वनि, रंग, रेखा आदि भौतिक तत्वों में मूर्तीकरण और (उ) काव्य चित्र इत्यादि – कलाकृति का भौतिक मूर्त रूप। इन पाँचों में मुख्य क्रिया (अर्थात् वास्तविक कला–सर्जना) दूसरी है।

5. सहजानुभूति अथवा आंतरिक सौन्दर्यानुभूति तो ऐच्छिक नहीं है किन्तु यह हमारी इच्छा पर निर्भर है कि उसे बाह्य रूप प्रदान करे या न करे अर्थात् बाह्य रूप में प्रस्तुत कर उसको सुरक्षित रखे या न रखें और

दूसरों के लिए प्रेषणीय बनाएं या न बनाएं। इस दूसरी प्रक्रिया के लिए शिल्प विधान की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए अनेक विधियाँ, अनेक नियम आदि होते हैं। जिन्हें सामान्य रूप से कलाशास्त्र–काव्यशास्त्र आदि के नाम से अभिहित किया जाता है। इससे कुछ व्यक्तियों के मन में यह भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है कि आंतरिक अभिव्यंजना का भी शिल्प विधान और उसके उपकरण होते हैं। परन्तु यह तो सम्भव ही नहीं है: आंतरिक अभिव्यंजना के उपकरण नहीं होते क्योंकि उसका उद्देश्य ही नहीं होता। कारण स्पष्ट है : अभिव्यंजना मूलत: एक आंतरिक क्रिया है जो व्यवहार तथा उसके निर्देशन करने वाले बौद्धिक ज्ञान से पहले होती है, और जो इन दोनों से स्वतन्त्र है। जहाँ अभिव्यंजना के आन्तरिक रूप के शिल्पविधान की चर्चा की जाती है, वहाँ उसे अभिव्यंजना से अभिन्न ही मानना चाहिए।

6. कला भाव रूप न होकर ज्ञान रूप ही है क्योंकि सहजानुभूति ज्ञान का ही एक रूप है। वह धारणा से मुक्त होती है। तथाकथित पदार्थ–बोध की अपेक्षा अधिक सरल होती है, परन्तु होती ज्ञान रूप ही है। सहजानुभति को एक विशिष्ट अनुभूति – सौन्दर्यानुभूति मानना भी व्यर्थ है क्योंकि उसमें कोई वैशिष्ट्य या वैचित्र्य नहीं होता।

7. कला अथवा अभिव्यंजना अखण्ड होती है। प्रत्येक अभिव्यंजना का एक ही रूप होता है। संवेदनों को एकान्वित करने की क्रिया का नाम ही तो अभिव्यंजना है। इसी धारणा के आधार पर कला में एकता अथवा अनेकता में एकता के सिद्धान्त की स्थापना की गई है क्योंकि अभिव्यंजना अनेक का एक में समन्वय ही तो है। इसलिए किसी कला के भाग करना या काव्य को दृश्यों, प्रकरणों, उपमाओं तथा वाक्यों में विभक्त करना उचित नही है, इससे कला का नाश हो जाता है। जिस प्रकार हृदय, मस्तिष्क, स्नायु पेशी आदि में विश्लिष्ट करने से प्राणी की मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार अलंकार और अलंकार्य तथा अन्य रीतिशास्त्रीय काव्यावयों की कल्पना भी मिथ्या है।

8. कला अथवा अभिव्यंजना का वर्गीकरण भी असंगत है। अभिव्यंजना में न सरल और न मिश्र का भेद होता है, न आत्मपरक और वस्तुपरक का, न यथार्थ और प्रतीकात्मक का, न सहज और अलंकृत का, न अभिधा और लक्षणा का। अभिव्यंजना इकाई ही है, वह जाति नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनुवादकी भी सम्भावना भी नहीं है क्योंकि अनुवाद तो एक भिन्न अभिव्यंजना ही हो जाता है।

9. अभिव्यंजना में कोटि क्रम का भेद भी नहीं होता: कला की अथवा सौन्दर्य की श्रेणियाँ नहीं होती: सुन्दर से सुन्दरतर की कल्पना सम्भव नहीं है। सफल अभिव्यंजना ही अभिव्यंजना है – असफल अथवा अपूर्ण अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना ही नहीं है। हाँ कुरुपता की श्रेणियाँ अवश्य होती है: कुरुप से कुरुपतर, कुरुपतम तक उसकी श्रेणियाँ हो सकती हैं।

10. अभिव्यंजना अपना उद्‌देश्य आप ही है – अभिव्यक्त करने के अतिरिक्त उसका कोई अपर उद्‌देश्य नहीं होता। तदनुसार कला का अपने से भिन्न कोई उद्‌देश्य नहीं है: शिक्षण, प्रसादन, कीर्ति, धन आदि कुछ नहीं। कला कला के लिए ही है। आनन्द भी उसका सहचरी अवश्य है किन्तु लक्ष्य नहीं है। कला का तो एक ही कार्य है – आत्मा को विशद करना। संकुल भावनाओं को अभिव्यक्त कर देने से आत्मा मुक्त हो जाती है जैसे बादलों के बरस जाने से आकाश निर्मल हो जाता है। कला की यही चरम सिद्धि है। इसलिए कला अपने मूल रूप में नैतिकता, उपयोगिता आदि के बन्धनों से भी मुक्त है। किन्तु यह कला के मूल (आंतरिक) रूप का ही लक्षण है – कला को जब कलाकार मूर्त रूप प्रदान करता है तब वह सामाजिक नियमों के अधीन हो जाता है, उस स्थिति में उसे अपनी उन्हीं सहजानुभूतियों को मूर्त रूप देने का अधिकार रह जाता है जो समाज के लिए हितकर है।"[1]

---

1. वक्रोक्ति – जीवित – पृ0 सं0 – 243

संक्षेप में काव्य के विषय में क्रोचे के मूल सिद्धान्त ये ही हैं। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्तों में स्पष्ट अन्तर है फिर भी उनमें कुछ मौलिक साम्य भी है, जिसके आधार पर दोनों की सम्बन्ध–कल्पना सर्वथा अनर्गल प्रतीत नहीं होती।

वक्रोक्ति और औदात्य

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से वक्रोक्ति और औदात्य का तुलनात्मक अध्ययन कुन्तक और लॉगिनुस तक ही सीमित किया जा रहा है। यों कालक्रम से औदात्य और वक्रोक्ति एवं लोगिनुस और कुन्तक का ही क्रम समुचित है। लोगिनुस और कुन्तक के ग्रन्थ में प्रतिपाद्य का साम्य अध्ययन को फलप्रद बना देता है। लांगिनुस के निबन्ध 'परि इप्सुस' और कुन्तक के वक्रोक्तिजीवितम्' में उदात्त भाषा और वक्रोक्ति की प्रेरक भावनाओं और धारणाओं का विश्लेषण नहीं वरन् उदात्त शैली और वक्रोक्ति के आधार तत्वों का विवचेन ही प्रधान है। तात्पर्य यह कि ये समीक्षाएँ रसवादी न होकर कलावादी हैं। समता के इसी आधार तत्व के कारण वक्रोक्ति और औदात्य का अध्ययन फलप्रद होने की सम्भावना है।

प्रस्थान बिन्दु की एकता के कारण लोगिनुस और कुन्तक की यात्राएँ समानान्तर चली हैं। लोगिनुस ने मुख्यतया औदात्य के बहिरंग तत्व का विवेचन किया है। उनके निबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य उदात्त शैली ही है अर्थात् उनका ध्यान मूलतः उन तत्वों पर ही केन्द्रित रहा है, जिनके द्वारा काव्य शैली की उदात्त बनती है। स्पष्टतः ये उदात्त के बहिरंग तत्व हैं। स्वयं लेखक के शब्दों में ये 'कला की उपज है।' लौंगिनुस के कथन का तात्पर्य यह है कि कवि के कर्तृत्व की देन है, उसका अपना उत्पादन है। उनके इस सिद्धान्त का सादृश्य कुन्तक के 'कविकर्म' में प्रत्यक्षतः दिखलाई पड़ता है। कुन्तक ने प्रधानतया वक्रोक्ति के बहरिंग तत्वों पर ही विचार किया है और जिसे लौंगिनुस 'कला की उपज' कहते हैं, उसे ही कुन्तक 'कविव्यापारवक्रत्व' की संज्ञा देते हैं।

औदात्त के बहिरंग तत्व तीन हैं। उनमें प्रथम है अलंकारों की समुचित योजना जिसके अन्तर्गत भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही से संबंधित अलंकार आ जाते हैं।

लोंगिनुस अलंकार विधान में औचित्य को प्राथमिकता देते हैं। "कुन्तक ने भी वक्रोक्ति को पूरी तरह औचित्य से अनुशासित बतलाया है। इस प्रकार वक्रोक्ति अलंकृति है, किन्तु यह अलंकृति वागाडम्बरत्व से क्षयिष्णु नहीं बन गई है। अलंकार की सफलता अतिचार मुक्तता और अयत्नजत्व में है। लोंगिनुस ने कहा है कि 'कला प्रकृति के समान प्रतीत होने पर ही सम्पूर्ण होती है। लोंगिनुस द्वारा निरूपित औदात्य के पोषक तत्वों में से प्रथम अर्थात् समुचित अलंकार योजना ही कुन्तक की वाक्यवक्रता है। सभी अलंकारवर्ग इसी में अन्तर्लीन हैं। कुन्तक ने अलंकारों के औचित्य पर विचार करते हुए उन्हें अयलज ही बतलाया है। उसने कहा है कि रस, अलंकार, गुण सभी कुछ कवि व्यापार से युक्त होने पर ही शोभा देते हैं। औचित्य के पोषक अलंकारों में लोंगिनुस ने रूपक आदि के साथ रूप–परिवर्तन का भी विस्तार से विवेचन–विश्लेषण किया है। यह अलंकार वचन, काल, पुरुष कारक और लिंग के परिवर्तन द्वारा विषय के प्रतिपादन में विविधता और सजीवता उत्पन्न करता है। कुन्तक ने इस प्रकार के पद परिवर्तनों पर पद–परार्ध–वक्रता के अन्तर्गत अत्यन्त सुष्ठु विवेचन किया है।"[1]

भाषा का व्याकरणिक विभावन काव्य मूलक विभावन से भिन्न होता है। रचना में प्रेरक काव्य आवेग काव्यभाषा को नयी विच्छित्तियों से भर देते हैं और इस प्रकार भाषा व्याकरण की जकड़ बन्दी से मुक्त होने लगती है। वचन, काल, पुरुष कारक और लिंग व्याकरणिक कोटियाँ हैं। रचयिता जब दैनंदिन जीवन के पींजरे से मुक्त होने लगता है त्यों ही उसके भावावेग के असीम कम्पन में व्याकरणिक कोटियाँ अस्त–व्यस्त होने लगती है। इस प्रकार रूप परिवर्तन है तो शैली की विशेषता, किन्तु उसके मूल में कोई न कोई रागात्मक तथ्य प्रच्छन्न रहता है। काव्य में भाषा और शैली जेसे उपादानों को ही आलोचना का प्रस्थान बिन्दु मानने के कारण लोंगिनुस और कुन्तक दोनों ने इन व्याकरणिक कोटियों की व्यस्तता के कलात्मक औचित्य की बड़ी स्वच्छ मीमांसा प्रस्तुत की है। कुन्तक के अनुसार जहाँ औचित्य की अन्तरतमता से काल रमणीयता को प्राप्त हो जाता

---

1. वक्रोक्ति – सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 –240

है, वह 'कालवैचित्र्यवक्रता' है। पाश्चात्य आलोचना का ऐतिहासिक वर्तमान आदि इस कालवक्रता की प्रसूति है। लोंगिनुस ने कालवक्रता से प्रसूत इस ऐतिहासिक वर्तमान का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि, "यदि आप बीती बातों को इस प्रकार प्रस्तुत करें मानों वे वर्तमान में हो रही हों तो आपकी कहानी आख्यान न रहकर वास्तविकता का रूप धारण करने लगती है।" रूप परिवर्तन में दूसरा तत्व है, कारक। कुन्तक के अनुसार जहाँ सामान्य रूप से कथन किया जाता है, वहाँ कारक वक्रता होती है। कारकों के इस विपर्यय में कवि का लक्ष्य रमणीयता का सृजन होता है।" लोंगिनुस ने कारक में रूप परिवर्तन का उल्लेख तो किया है, किन्तु उन्होंने उसका विधिवत् स्वरूप निरूपण नहीं किया है। रूप परिवर्तन का तीसरा तत्व है, वचन। कुन्तक के अनुसार काव्य में वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए जहाँ कविजन स्वेच्छया वचन का विपर्यास कर देते हैं, वहाँ वचनवक्रता होती है। लोंगिनुस ने वचन के रूप–परिवर्तन पर किंचित विस्तार से लिखा है उनका कहना है कि "जहाँ तक वचन का प्रश्न है, मैं यह कहूँगा कि शैली केवल अथवा मुख्यतः उन शब्दों के प्रयोग से ही अलंकृत नही होती जो रूप की दृष्टि से एकवचन होने पर भी अर्थ को परीक्षा करने पर बहुवचन सिद्ध होते हैं। अधिक ध्यान देने की बात यह है कि कभी–कभी एक वचन के लिए वहुबचन का प्रयोग कानों पर और भी गहरा असर डालता है और बहुवचन द्वारा अभिव्यक्त संख्याधिक्य से हमें प्रभावित करता है।"[1] लोंगिनुस ने ऐसी स्थिति का का भी विश्लेषण किया है, जहाँ बहुवचन का एकवचन में प्रयोग प्रभाव–वृद्धि में सहायक होता है।" इसके विपरीत बहुसंख्यक वस्तुओं को एकवचन द्वारा प्रकट करने से कभी–कभी बड़ा उदात्त प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। बहुसंख्यक को एक वचन द्वारा प्रकट करने से सामूहिक एकता भाव अधिक पूर्णता के साथ प्रकट होता है। जहाँ शब्द एक वचनमें हों और उन्हें बहुवचनवाची अर्थ प्रदान किया जाए, वहाँ बहुत सी वस्तुओं के लिए एक सुन्दर एकवचनवाची शब्द का प्रयोग करने से विपरीत परिवर्तन के कारण आश्चर्य उत्पन्न होता है।" रूप परिवर्तन का चौथा तत्व

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 – 240

है पुरुष। कुन्तक के अनुसार पुरुषवक्रता कवियों के ऐसे प्रयोगों में दिखाई दिया करती है, जिनमें भाव परिपोष के लिए मध्यम और उत्तम पुरुष के बदले अन्य पुरुष का प्रयोग रहा करता है। लोंगिनुस का कहना है कि "पुरुष का परिवर्तन भी अत्यंत प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पन्न करता है और प्राय: श्रोता को यह अनुभव होने लगता है जैसे वह पुरुष विपत्तियों के बीच चल रहा हो। ...... इस प्रकार प्रत्यक्ष व्यक्तिगत रूप में सम्बोधन के द्वारा श्रोता जैसे स्वयं घटनास्थल पर उपस्थित हो जाता है। ऐसा ही प्रभाव तब भी होता है जब यह लगे कि तुम हर एक से नहीं बल्कि किसी एक व्यक्ति से बात कर रहे हो। यदि तुम अपने श्रोता को व्यक्तिगत रूप से सम्बोधित कर उसे सजग रखो तो वह अधिक उत्तेजित और एकाग्र चित्त रहेगा और सक्रिय रूप से तुम्हारे साथ सहयोग करेगा।" कारक की तरह लिंग–परिवर्तन का भी लोंगिनुस ने विवेचन नहीं किया है। उदात्त के पोषक बहिरंग तत्वों में दूसरा है उत्कृष्ट भाषा। इसके अन्तर्गत शब्द–चयन, रूपकादि का प्रयोग और भाषा की सज्जा समृद्धि आदि गुण आते हैं। इस दूसरे तत्व का सादृश्य वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता और पदपराधवक्रता में ढूँढ़ा जा सकता है। ये तीनों वक्रता प्रकार अच्छी भाषा के पर्याय हैं। अच्छी भाषा के उत्कृष्ट केन्द्रण को कुन्तक ने साहित्य कहा है। कुन्तक के साहित्य सम्बन्धी विभावन की तुल्यकक्षता लोंगिनुस में देखी जा सकती है। लोंगिनुस कहता है कि गरिमामयी पदावली का प्रयोग प्रसंग के अनुरूप ही होना चाहिए, क्योंकि वस्तु और शब्द के बीच पूर्ण सामंजस्य के बिना उदात्त की योजना सम्भव नहीं है। कुन्तक में यही विचार 'अन्यूनानतिरिक्तत्व' के रूप में उभरा है। कुन्तक का कहना है कि समर्थ शब्द के अभावमें अर्थ स्वत: स्फुरित होने पर भी मृतकल्प ही रहता है। उसी प्रकार शब्द भी रमणीय अर्थ के अभाव में व्याधिभूत–सा प्रतीत होने लगता है। कुन्तक ने परस्परस्पर्धित्व समभाव से इन दोनों की संपपृक्ति में साहित्य माना है। इसी प्रकार लोंगिनुस भी कहता है कि रचना 'पदावली' के परस्पर सहविन्यास के द्वारा समज्जित विधान प्रस्तुत करती है। ऐसी अवस्था में क्या यह मानना उचित नहीं होगा कि सामन्जस्य इन्हीं सब साधनों के द्वारा

हमें प्रलुब्ध करता है और अनिवार्य रूप में हमें भव्यता, गरिमा ऊर्जा तथा अपने भीतर प्रत्येक भाव की ओर प्रवृत्त करता है और इस प्रकार हमारे मन के ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है।" साहित्य शब्दार्थ सम्बन्ध का औचित्य है और इससेलोगिनुस की पूर्ण सहमति है।

उदात्त का पोषक तीसरा बहिरंग तत्व है गरिमामय एवं अर्जित रचना विधान। कुन्तक की प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता में हम गरिमामय रचना विधान का प्रच्छन्न सादृश्य देख सकते हैं। रचना विधान की स्थिति शरीर–रचना के समान है। शरीर को हम जिस प्रकार अंगों में काँट–छाँटकर नहीं देखते हैं उसी प्रकार में भी सभी अंगों का सामंजस्य रहता है। यह संयोग सम्बन्ध नहीं वरन् समवाय सम्बन्ध है। कुन्तक ने भी अलंकार्य और अलंकार का पृथक्करण केवल उपयता के कारण किया है, अन्यथा रचना में वे अलग–अलग नही होते हैं(1।।6।।)। इस प्रकार लोंगिनुस द्वारा निर्दिष्ट उदात्त के पोषक तीनों बहिरंग शैली तत्व किसी न किसी रूप में वक्रोक्ति के भेदों से साम्य रखते हैं।

औदात्य के विरोधी तत्व के रूप में लोंगिनुस ने बालेयता को उपस्थित किया है। बालेय शब्द का अर्थ है बचकाना– जिसमें बच्चोंके दुर्गुणों का ही प्रधान्य रहता है, जैसे चापल्य गरिमा का एकान्त अभाव, संयम का अभाव, एक प्रकार की हीनता कायरता आदि। तात्पर्य यह कि क्षुद्र भाषा ही बालेयता है। बालेयता का प्रतिलोम है औदात्य। अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता का नाम है औदात्य। वक्रोक्ति भी विशिष्ट अभिव्यंजना है। इसमें अभिव्यंजना अवक्र मार्ग ग्रहण करती है जैसे औदात्य का प्रतिलोम बालेयता, उसी प्रकार वक्रोक्ति का विरोधी तत्व है वार्ता। कुन्तक ने तो नहीं, किन्तु भामह ने इसका अत्यन्त स्वच्छ विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वार्ता बालेयता की ही तरह क्षुद्र अभिव्यंजना है। इस क्षुद्रता को अतिक्रांत करने वाला तत्व है वक्रोक्ति। उसी प्रकार औदात्य गरिमामयी वाणी है। लोगिनुस ने बतलाया है कि 'गरिमामयी वाणी अपनी आविर्भाव–क्षमता के कारण अनुनय तथा परितोषकारी वाणी की अपेक्षा

सदैव और सभी प्रकार से अधिक समर्थ होती है। औदात्य के विपरीत लोगिनुस ने जिसे 'अनुनय' तथा 'परितोषकारी वाणी' कहा है। वह वार्ता से कदाचित् मिलती–जुलती चीज है। हेमचन्द्र ने दण्डी के कान्ति गुण पर विचार करते हुए उसे 'कोकसीमानृतिक्रम' कहा है और वार्ता तथा वर्णना उसके दो प्रकार बतलाए हैं। उपचारवचन वार्ता है और प्रशंसावचन वर्णना है। यह प्रकारान्तर से अनुनय तथा परितोषकारी वाणी ही है। लोगिनुस ने इसी के प्रतिलोम में औदात्य और कुन्तक ने वक्रोक्ति प्रस्तुत की है।

अब तक हमनें औदात्य और वक्रोक्ति के पोषक और विरोधी तत्वों के साम्य का अध्ययन किया है। अब हम इन दोनों के सामान्य आधार का अध्ययन करेंगे। लोगिनुस ने उदात्त भाषा के पाँच प्रमुख उद्गम स्रोतों का निर्देश किया है। इन पाँच विभिन्न गुणों के नीचे एक प्रकार से सामान्य आधार है वाक्प्रतिभा। यह कैसी विलक्षण समता है कि कुन्तक भी 'वैदग्धभंगीभणिति' को ही वक्रोक्ति कहते हैं। 'वैदग्ध्य और वाक्प्रतिभा एक ही चीज है। कविता भाषा का सर्वोत्तम निचोड़ है और इस हेतु औदात्य और वक्रोक्ति का सामान्य आधार वैदग्ध्य ही है। इस प्रकार लोगिनुस और कुन्तक की स्थापनाएँ एक दूसरे से विचित्र रूप से मिलती–जुलती हैं।

इस वैदग्ध की सबसे अधिक पहचान शब्द–चयन के क्षेत्र में होती है। शब्द चयन के समय ही कवि प्रतिभा सबसे अधिक असमंजस में पड़ती है। कवि का लक्ष्य वाच्य के उपयुक्त विवक्षित शब्द का चयन होता है (हि०वक्रो० 1।।9।।)। यह विवक्षित शब्द ही सुन्दर शब्द है। कुन्तक ने वस्तु वक्रता को परिभाषित करते हुए वस्तु का उत्कर्षशाली स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन करना बतलाया है। इस प्रकार शब्द का सौन्दर्य प्रसंग–सापेक्ष ही सिद्ध होता है। लोंगिनुस के सुन्दर शब्द ही वास्तव में विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं। लेकिन, शब्द की यह सुन्दरता पदौचित्य ही है। उनका कहना है कि 'उचित यही है कि हम विषय के अनुकूल शब्दों का प्रयोग करें।

एक और चीज में लोगिनुस और कुन्तक समान हैं। यह है वस्तुवक्रता अर्थात् स्वभावोक्ति। लोगिनुस का कहना है कि प्रत्येक वस्तु में स्वभाव से ही कुछ ऐसे तत्व रहते हैं, जो उसके अभिन्न अंग होते हैं। इस प्रकार लोगिनुस वस्तु के तत्वों को बहुत कुछनियम बतलाते हैं। वे औदात्य का एक कारण वस्तु के सबसे महत्वपूर्ण तत्वों को व्यवस्थित रूप से चयन करना मानते हैं। वस्तु दर्शन का यह कोण कुन्तक से साम्य रखता है। कुन्तक भी कुछ वस्तुओं को उत्कृष्ट धर्म से और कुछ वस्तुओं को अनुत्कृष्ट धर्म से युक्त मानते हैं। उनका कहना है कि वस्तु के सौन्दर्य के वर्णन में उपमा आदि वाच्य अलंकारों का अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए।

वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति प्रारम्भ में पर्याय रहे। बाद में भी वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता रहा है। कुन्तक ने भामह की यह उद्‌भावना यथावत स्वीकार ली। वस्तुतः मम्मट तक में यह प्रतिध्वनि मिलती है। लोगिनुस के अनुसार भी अतिशयोक्ति उदात्त का अपरिहार्य तत्व है। उदात्त शैली के तीन चार प्रमुख तत्वों में अतिशयमूलक अलंकारों की योजना भी एक है। उदात्त शैली के शोभाकारक जिन धर्मों का विवेचन उन्होंने किया है वे प्रायः सभी अतिशयमूलक हैं और उनमें कल्पना के विस्तार और उत्तेजना की अपेक्षा रहती है।"

समता के इतने स्थूलों के बावजूद औदात्य और वक्रोक्ति की कला–दृष्टि एक नहीं कही जा सकती है। अभिव्यंजना की प्रकृति के सम्बन्ध में लोगिनुस और कुन्तक में मतैक्य नहीं है। लोगिनुस की खोज महान की खोज है, लेकिन कुन्तक महानता नहीं,; बल्कि पूर्णता के अन्वेषक हैं। लोगिनुस का काव्य सर्वांगीण शुद्धता न होकर महानता ही है। उनका अभिमत है कि 'महान प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है, क्योंकि सर्वांगीण रूप से विशुद्ध मानते हैं। यहाँ प्राचीन आचार्यों में कदाचित् केवल क्रोचे की कला – दृष्टि का आभास मिलता है। क्रोचे ने अभिव्यंजना में क्रम–निर्देश का खण्डन किया है। कुन्तक की दृष्टि हू–बहू यही है।

उनका कहना है कि यह सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया जा सकता कि जितनी शक्ति हो उसके अनुसार दरिद्रों के दान के समान यथाशक्ति कविता की रचना की जाए। इस प्रकार वामन आदि द्वारा निरूपित रीतियों के उत्तम मध्यम और अधम आदि भेदों का वे पूर्ण खंडन करते हैं। लेकिन लोंगिनुस ने जिस प्रतिभा की कल्पना की है उसके अद्रेक में कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य रह जाती है। उनका कहना है कि निर्दोषता प्रतिभा की कोई विशेषता नहीं है।

द्वितीय अध्याय

श्री मैथिलीशरण गुप्त की काव्य यात्रा

द्वितीय अध्याय

मैथिलीशरण गुप्त की काव्य यात्रा

कवि की जन्म–तिथि और नाम :–

गुप्त जी का जन्म संवत् 1943 श्रावण शुक्ल द्वितीया, सोमवार को, 3 अगस्त सन् 1886 को, रात्रि के तीसरे पहर में हुआ था। उस दिन मघा नक्षत्र था। कवि की जन्मराशि सिंह है। नामकरण संस्कार में कवि को **"लाला मदनमोहन जू"** अभिधेय प्राप्त हुआ। कवि के पिता ने अपनी उपासना से प्रभावित होकर उन्हें नाम दिया – **"श्रीमिथिलाधिपनन्दिनीशरण"**। यह नाम इतना बड़ा था कि स्कूल के रजिस्टर में निर्दिष्ट स्थान पर एक ही पंक्ति में लिखा नहीं जा सकता था, अतएव पाठशाला के अध्यापक ने जो नाम का संक्षेप किया, वही साहित्य के इतिहास में अंकित हो गया।

गुप्तजी एक समृद्ध, गुणज्ञ, विद्याव्यसनी और भगवद्भक्त परिवार में लालित–पालित हुए। पिताजी का अगाध वात्सल्य उन्हें मिला। "आपकी जन्म कुण्डली में ग्रह अच्छे पड़े थे, इसीलिए सेठजी आपको होनहार समझते थे, पर आप पढ़ने लिखने में तेज होने पर भी खिलाड़ी अव्वल दरजे के थे।" बाल्यावस्था में कवि ने भौतिक वैभव का आधिक्य देखा और उसकी न्यूनता भी। भौतिक जीवन के इस चढ़ाव–उतार का उसे अपनी किशोरावस्था में परिचय मिल गया। उसके पिता जी एक सत्कवि थे। वे "श्री राम–जानकी युगल सरकार" के विषय में ही लिखते थे। हिंडोल कुंज में राम जानकी के झूलने का वर्णन उन्हीं का लिखा हुआ है।

आरम्भ :– कवि की जिज्ञासा बौद्धिक परितोष की आकांक्षी नहीं रही; आस्वाद्य होने के कारण ही वह साहित्य पढ़–लिख सका। उसकी आरंभिक शिक्षा चिरगाँव में हुई। प्राइमरी पाठशाला की पढ़ाई समाप्त होने पर वह झांसी भेजा गया। चिरगाँव की पाठशाला में उसकी मैत्री मुंशी अजमेरीजी से हुई, जो कवि के

घर में फली–फूली और आजीवन अक्षुण्ण बनी रही। कवि को पं0 दुर्गाप्रसाद मिश्र ने विद्यादान दिया। इन्होंने जब कवि 12–13 वर्ष की अवस्था का था, उसे पढ़ने के लिए राजा लक्ष्मणसिंह कृत अभिज्ञान शाकुन्तल अनुवाद दिया था। इसे पढ़कर कवि की वही दशा हुई, जैसी घोड़ा–गाड़ी में घूमने जाते समय हुई थी। चिरगाँव में गुप्तजी पुराने पाँचवे अर्थात् आजकल के तीसरे दर्जे तक ही पढ़े।

पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका अध्ययन–क्रम तो टूट गया, पर स्वाध्याय का काल आरंभ हुआ उसने इतिहास, पुराण और संस्कृति–विषयक ग्रंथ पढ़े तथा रीतिग्रंथों और प्राचीन कवियों का यथेष्ट अध्ययन किया। संस्कृत के अनेक काव्यों और नाटकों को कवि ने पढ़ा तथा भास और कालिदास का विशेष अध्ययन किया। तुलसी, सूर और नन्ददास तथा रहीम, बिहारी, घनानंद सेनापति, मति राम, देव, पद्माकर, ठाकुर और लाल आदि प्राचीन कवियों का गुप्त जी ने स्वच्छंद अध्ययन किया, विधिवत् नहीं। उन्हें भूषण की अपेक्षा लाल कवि, जो **"छत्रप्रकाश"** के रचयिता हैं, श्रेष्ठ ज्ञात हुए। बिहारी को वे कलाविद् कवि मानते हैं, केशव को बिल्कुल पसंद नहीं करते तथा तुलसीदास के भक्त हैं। संस्कृत के सुभाषित तथा रीतिकाल की सूक्ति–अन्योक्तिमयी मुक्तक रचनाएँ वे अपनी किशोरावस्था में खूब पढ़ते थे।

काव्याभास : आरम्भ

गुप्त जी ने पन्द्रह वर्ष की अवस्था में पद्य रचना आरम्भ की। सन् 1901 में उन्होंने अपने पिता की काव्य रचना **"रहस्य–रामायण"** के अनुकरण पर कतिपय पद्य रचे। उन्हीं के शब्दों में: "उन्हीं दिनों की यह बात मुझे नहीं भूलती, जब एकांत में बैठकर मैंने राजा लक्ष्मणसिंह की **"शकुन्तला"** पढ़ी थी। उसे पढ़कर कितने ही क्षणों तक मैं वैसा का वैसा निस्तब्ध बैठा रह गया था। उस तरह चौदह वर्ष की आयु में कैसे ऐसा भावोद्रेक हुआ, मैं नहीं जानता।

ब्रजभाषा :- गुप्तजी का काव्यारंभ ब्रजभाषा की पद्य रचना में हुआ। उन्होंने संस्कृत वृत्तों को अपनाने पर भी पुरानी काव्य-भाषा का ही प्रयोग किया था। ब्रज-मिश्रित बुन्देलखण्डी भाषा में उन्होंने स्फुट दोहे लिखे थे। सन् 1901 से सन् 1905 तक की उनकी पद्य-रचनाएँ बंबई के वेंकटेश्वर समाचार, कलकत्ता के "वैश्योपकारक" तथा कन्नौज की "मोहिनी" पत्रिका में छपी थीं। वैश्योपकारक में अन्योक्तियाँ, वेंकटेश्वर समाचार में ऋतु वर्णन तथा मोहिनी में हेमंत आदि रचनाओं का प्रकाशन हुआ। प्रयाग से प्रकाशित "राघवेन्द्र" और "सरस्वती" में गुप्तजी की खड़ी बोली की कविताएँ छपीं। राघवेन्द्र में "राघवेन्द्र-स्तव" और "सेतु-बंध" मुद्रित हुए और सरस्वती में पैंतालीस रचनाओं का प्रायः एक दशक में क्रमशः प्रकाशन हुआ।

खड़ी बोली की काव्य-रचना :- गुप्तजी ने इस काल में "दुर्दशा-निवेदन" तथा स्फुट पद्य-रचना के अतिरिक्त अपनी सभी रचनाएँ खड़ी बोली में ही लिखीं। सन् 1905 से वे अनवरत रूप से खड़ी बोली का ही व्यवहार करते आए। सरस्वती में प्रकाशित पैंतालिक कविताओं के अतिरिक्त उनकी कतिपय अन्य रचनाएँ, जो "राघवेन्द्र" आदि पत्रों में प्रकाशित हुईं।

नई काव्य भाषा :- सन् 1905 से सन् 1909 तक की काव्य-रचनाओं में से प्रत्येक वर्ष की भाषा का नमूना प्रस्तुत करने से गुप्तजी की भाषा विषयक प्रगति लक्षित हो सकेगी। यह द्विवेदी युग में नई काव्य-भाषा के निर्माण और उसे अधिकृत करने का अभ्यास काल भी है।

ऐतिहासिक खंडकाव्य : रंग में भंग : कवि के निर्माण-काल का आरम्भ "रंग में भंग" ऐतिहासिक खंडकाव्य के प्रकाशन से हुआ।

जयद्रथ वध :- जनवरी सन् 1908 की सरस्वती में जयद्रथ-वध विषयक प्रथम सचित्र आख्यानक रचना "उत्तरा से अभिमन्यु की विदा" प्रकाशित हुई थी। एतद्विषयक अन्य आख्यानक कविताएँ भी सन् 1910 तक सरस्वती में छपीं।

सन् 1910 में ही जयद्रथ–वध काव्य का खंड–काव्यात्मक रूप निर्मित हुआ और अगले वर्ष उसका पुस्तकाकार प्रकाशन किया गया।

शकुन्तला :– शकुंतला–काव्य जयद्रथ–वध के दो वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुआ, पर उसका भी रचनारंभ सरस्वती में प्रकाशित चित्रों पर आख्यानक पद्य निबंधों की सृष्टि के द्वारा ही हुआ, यथा – "शकुंतला पत्र लेखन", "शकुंतला को दुर्वासा का शाप", "शकुन्तला को कण्व का आशीर्वाद", "पूर्व–स्मृति", आदि। इसकी रचना सन् 1908 में आरम्भ हुई और सन् 1914 में यह कृति प्रकाशित हुई।[1]

नल–दमयंती :– "नल–दमयंती" काव्य की रचना "शकुंतला" के पहले की गई थी, पर वह अनुपलब्ध है। कवि का कथन है कि वह कहीं खो गई है और वर्षों से नहीं मिल रही है। "कविता–कलाप" में "दमयंती और हंस" आख्यानक कविता राजा रवि वर्मा के इसी शीर्षक के चित्र के साथ छपी थी।

शक्ति :– शक्ति का प्रकाशन सन् 1927 में हुआ, पर वह निर्माण–कालिक काव्य–कृति है। "शकुन्तला" जिस प्रकार "अभिज्ञान–शाकुंतल" का कथात्मक संक्षेपीकरण है, उस प्रकार यह कृति मार्कण्डेय पुराण के दुर्गा–सप्तशती खण्ड का सार है।

सैरन्ध्री :– त्रिपथगा के तीनों महाभारतीय खंड–प्रबंधों की रचना "शक्ति" काव्य की रचना के आसपास हुई और प्रकाशन भी साथ–साथ हुआ। त्रिपथगा में "वक्र–संहार", "वन वैभव", और "सैरन्ध्री" तीन काव्य–पुस्तकें हैं, जो पृथक् खंड–काव्य हैं और पृथक् रूप से प्रकाशित भी हुए हैं। इन तीनों में "सैरन्ध्री" काव्य की रचना सर्वप्रथम हुई और उसकी मूल विचार–धारा भी "वक्र–संहार" और "वन–वैभव" अथवा "शक्ति" से किंचित भिन्न है।

---

1. मैथिलीशरण गुप्त व्यक्तित्व और काव्य, पृ0 सं0 – 170

वक–संहार :– वक–संहार में कुंती का चरित्रोत्कर्ष व्यंजित है, पर यह महाभारतीय आख्यान केवल नारी जीवन की महिमा अथवा ब्राह्मण–परिवार का सदाचरण दिखाने के लिए ही नहीं लिखा गया। प्रत्येक परिजन अपना जीवनोत्सर्ग करने के लिए प्रस्तुत रहता है तथा अतिथि भी इसी आदर्श से संचालित होते हैं, यह यह जीवनादर्श महान है और इस काव्य में व्यंजित भी।

वन–वैभव :– "वक–संहार" और "सैरन्ध्री" की कलात्मक भिन्नता आश्चर्यजनक प्रतीत होगी। "वक–संहार" तक का काव्य–पथ निर्मित करने में कवि को "किसान", "अनघ" तथा "वन–वैभव" की मंजिलें भी पार करनी पड़ी हैं। "वन–वैभव" और "शक्ति" काव्य एक जैसी मन–स्थिति की रचनाएँ हैं। शक्ति का संगठन "वन–वैभव" का भी अभिप्रेत है, पर उसमें नैतिक भावना का आधिक्य है।

पंचवटी :– पंचवटी में गुप्त जी की खंडकाव्य–कला का समुत्कर्ष प्रकट हुआ है। उसमें न नीतिवादी उपदेशात्मकता का प्राधान्य है, न कथा–वस्तु की वर्णनात्मकता ही प्रमुख है। जयद्रथ–वध की इतिवृत्त–वर्णना क्रमशः क्षीण होती गई और चरित्रोत्कर्ष की धारणा भी क्रमशः मानवतादर्शमयी दिखायी पड़ी। पंचवटी न केवल चरित्र–प्रधान काव्य है, वरन् उसके ख्यात वृत्त में भी परिवर्तन किया गया है। कवि ने पारिवारिक जीवन के ऐसे सहज स्वरूप का चित्रण किया है, जिसमें राम, लक्ष्मण और सीता साधारण जीवन–चर्या को अपनाते हैं, पर जिसका आन्तरिक उल्लास मानवतादर्श का परिणाम ज्ञात होता है। पंचवटी के पात्र जनसाधारण से भिन्न नहीं है, पर वे अपनी विशेषताओं के कारण ही विशिष्ट हैं।

किसान :– "किसान" खंडकाव्य की रचना सन् 1915 में हुई और उसका पुस्तकाकार प्रकाशन सन् 1917 में हुआ। यह काव्य तीनों खण्डों में विभाजित करके सरस्वती में, सन्"15 में, प्रकाशित किया गया था।

साकेत का रचनारंभ :– लगभग इसी समय साकेत के आरंभिक सर्गों की रचना भी हुई, जो सरस्वती में सन् 16 और सन् 17 में प्रकाशित हुए। इसका यह प्रतिफल हुआ कि साकेत का आरंभिक अंश वस्तु–वर्णनात्मक पद्धति में रचा गया। अवश्य ही तात्कालिक परिस्थितियों की छाप उस पर नहीं पड़ी। वह तो "किसान" काव्य में ही सर्वोपरि है।

पौराणिक आख्यान–काव्य :– "प्रह्लाद", "सुलोचना का चितारोहण", "विरहिणी सीता", "मुनि का मोह", "वनवास", "गोवर्द्धन–धारण", इत्यादि पौराणिक आख्यान हैं और रचना–विधान की दृष्टि से लघु–निबन्ध। ये रचनाएँ सन् 10, सन् 11 और सन् 12 में लिखी गई और इन्हें अभ्यास–कालिक काव्य–प्रवृत्ति का प्रसार ही समझना चाहिए। गुप्त जी निर्माण–काल में आख्यानक कविताओं की रचना करना प्रायः छोड़ करके वृहत् निबंधों तथा खंड–काव्यों की काव्य–सृष्टि करने में प्रवृत्त हुए थे। इन्हें संधि–कालिक वस्तु ही माना जा सकता है, विशिष्ट काव्य–विधा नहीं। कवि ने रामायण, महाभारत तथा विविध पुराणों से कथा–प्रसंग लिए हैं और उन्हें विविध छंद–बंधों में बाँधा है।

निराख्यानक वृहत् निबंधः–

भारत–भारती और हिन्दूः– निर्माण–काल के आरम्भ में "भारत–भारती" की रचना हुई और उसके अंत में "हिन्दू" की। दोनों ही निराख्यानक वृहत् निबन्ध काव्य हैं। दोनों में हिन्दुत्व के पुनरुत्थान और देश के नव–जागरण की भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। दोनों ही उपदेशात्मक अथवा नीतिवादी कृतियाँ हैं। पर "भारत–भारती" "हिन्दू" की अपेक्षा अधिक लोक–प्रिय, प्रसिद्धि–प्राप्त और साहित्यिक महत्त्व की रचना है। इसका क्या कारण है?

"भारत–भारती" की रचना जिस सामाजिक और साहित्यिक वातावरण में हुई, वह उसके लिए उपयुक्ततम स्थिति थी। भारत–भारती नई सामाजिक प्रगति, राष्ट्रीय जागृति और साहित्य की ऐतिहासिक आवश्यकता का प्रतिनिधित्व

करती थी। आर्य-समाज का देश-व्यापी सुधार-कार्य और हिन्दुत्व का नवजागरण उसमें प्रतिच्छिायित है। राष्ट्र-प्रेम की उग्र अभिव्यक्तियाँ उसमें प्रशमित की गई हैं। आशय यह है कि "भारत-भारती" द्विवेदी युग की राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति करती है। वह भारतीय नवजागरण की वैचारिक प्रगति की प्रतिनिधि रचना है।

<u>हिन्दू :-</u> "हिन्दू" एक प्रकार से "भारत-भारती" का ही परिशिष्ट है। भारत-भारती के अतीत, वर्तमान और भविष्य खंडों में - "हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी? की हिंन्दू राष्ट्रीयता अभिव्यक्त हुई है। "हिन्दू" में यह शक्ति नहीं है। वह जागरण का काव्य न होकर आग्रह और अनुरोध का काव्य है। उसमें केवल आधुनिक युग को लक्ष्य करके सामाजिक, धार्मिक तथा जातीय विषयों पर कविताएँ लिखी गई हैं और सामाजिक जड़ता, व्यक्तिगत निश्चेश्टता, धार्मिक असहिष्णुता, जातीय अनुदारता आदि को दूर करने का प्रयत्न किया गया है।[1]

आध्यात्मपरक गीत :-

<u>झंकार :-</u> "झंकार" का प्रकाशन सन् 1930 में हुआ, पर उसमें गुप्त जी के निर्माणकालिक रहस्यवादी प्रगीत ही संकलित हैं। इनकी रचना सन्'13 और सन्'25 के बीच ही हुई। अधिकाँश प्रगीत सन्'20 के पूर्व पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए, उत्कर्ष काल में गुप्तजी की प्रवृत्ति कथाश्रित गीत-रचना की ओर हुई। "झंकार" का महत्व दो प्रकार का है :-

1. छायावादी काव्य-धारा के आरंभिक विकास में "झंकार" की प्रगीतियों का अविस्मरणीय स्थान है।
2. गुप्त जी के काव्य-विकास में प्रगीत-शैली के कारण अभिव्यक्ति का वैविध्य उत्पन्न हुआ तथा वस्तु-शिल्प में स्वानुभूति-व्यंजना की प्रत्यक्ष पद्धति व्यवहृत हुई।

---

1. मैथली शरण गुप्त: व्यक्ति और काव्य, पृ0 सं0 - 185

व्यक्तिमत भावना के प्रगीत :- "मंगल-घट" में "क्षारपारावार", "नक्षत्र-निपात" "पुष्पांजलि", "चयन", "सांत्वना", "विदा", आदि प्रगीत शोक भावाभिव्यंजक हैं। इनमें प्रतीक-योजना के द्वारा कवि ने मुख्यतः अपने संतति-विषयक शोक को अभिव्यक्त किया है। व्यक्तिगत अनुभूति के प्रकाशक प्रगीत कवि ने बहुत कम लिखे हैं, पर कतिपय ऐसी रचनाएँ अवश्य उपलब्ध हैं, जिनमें उसने निजी विषाद को वाणी दी है।[1]

नाट्य-रचनाएँ

प्रकाशित नाटक :- गुप्तजी ने पाँच नाट्य-रचनाएँ निर्माण-काल में लिखी थीं, जिनमें से "तिलोत्तमा", "चन्द्रहास" और "अनघ" कृतियाँ ही प्रकाशित हुईं। "तिलोत्तमा" की कथा-वस्तु हरिहर पुराण - 2-18, कूर्म पुराण-41 और महाभारत के आदि पर्व 56 तथा 208। 12 में उपलब्ध होती है। गुप्त जी ने महाभारत के आदि पर्व 208 । 12 के आख्यान से तिलोत्तमा की कथा-वस्तु का चयन किया है। इसका प्रकाशन सन् 1916 में हुआ और रचना सन्'13-14 में हुई। "चन्द्रहास" का कथानक जैमिनी पुराण से लिया गया। कवि ने इसकी सर्वप्रथम "चन्द्रहास चरित" खण्ड काव्य के रूप में रचना की थी, जिसका आरम्भ रामनवमी संवत् 1966 को किया गया था। "चन्द्रहास" नाटक की रचना वसंत पंचमी, संवत् 1970 को समाप्त की गई और यह तीन वर्ष पश्चात् सन् 1918 के लगभग प्रकाशित हुआ। "अनघ" की रचना मघ जातक की बौद्ध कथा के आधार पर हुई और कवि ने इसकी कथावस्तु आर्यसूरि कृत चौंतीस प्रमुख जातकों के संस्कृत रूपान्तर से गृहीत की। इसमें "क्षान्ति जातक" का यह नीति-वाक्य उदाहृत हुआ - "द्विषतामपि मनांस्यावर्जयन्ति सद्वृत्तानुवर्तिनः।" इसका प्रकाशन सन् 1925 में हुआ। इस पर सत्याग्रही क्रांति-दर्शन का प्रभूत प्रभाव भी पड़ा।

---

1. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, पृ0 सं0 - 191

अप्रकाशित नाटक :– गुप्तजी ने **"उद्धार"** नामक एक ऐतिहासिक नाटक सन्'15 के आस–पास लिखा था, जिसमें राणा हम्मीर कृत चित्तौड़ के उद्धार का कथानक रक्खा गया था। पर यह नाटक अनुपलब्ध है और अप्रकाशित भी। **"लीला"** नामक एक पद्य–नाट्य कवि ने सन्'10 के आसपास रचा था, जिसकी संशोधित पांडुलिपि कवि के संग्रहालय में उपलब्ध है। [1]

तिलोत्तमा :– सुन्द–उपसुन्द के इतिवृत्त के आधार पर गुप्त जी ने सर्वप्रथम **"बन्धु–विरोध"** नामक आख्यानक कविता लिखी। मधुसूदन दत्त का **"तिलोत्तमा संभव"** काव्य भी कवि ने पढ़ा था। इस नाट्य–रचना का उद्देश्य है : "होता है बन्धु–विरोध जहाँ, है सर्वनाश ही उचित वहाँ।

अनघ :– "अनघ" नाटक में रचना–विधान का विकास दिखाई पड़ता है। सार्वभौम चरित्र सृष्टि करना कवि का लक्ष्य हो गया है, अतएव इस नाट्य–रचना में शील–निरूपण प्रधान है और कथानक का संगठन भी उसी दृष्टि से किया गया है। "अनघ" का नायक मघ भगवान बुद्ध का साधनावतार माना गया है। वह निष्पाप ही नहीं है, उसे "सदा सच्ची भुवन–सेवा" अभीष्ट है और उसी के लिए वह सक्रिय है। [2]

लीला :– इसके प्रथम दृश्य में "पृथ्वी देवी फणीन्द्र–फणाश्रित रत्नसिंहासनासीन" हैं और "दूर अब होगा मेरा भार" गीत गाती हैं, जिसमें मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र की जयजयकार की गई है। दूसरे दृश्य में आखेट की योजना बनाते हुए रामादि चारों भाई विश्वामित्र के अयोध्या–आगमन की सूचना देते हैं। तीसरे दृश्य में यज्ञ–रक्षार्थ स्वयं राम विश्वामित्र के साथ वन जाने के लिए उद्यत होते हैं। [3]

---

1. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, पृ0 सं0 – 193
2. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, पृ0 सं0 – 195
3. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, पृ0 सं0 – 196

चरित्रों को और विकसित करने की आवश्यकता अनुभव हुई, क्योंकि वहाँ राम के व्यक्तित्व को इतस्ततः नहीं किया जा सकता था। यशोधरा ऊर्मिला के चरित्र का ही स्वाभाविक विकास है। उसका वियोग निरवधि है और अवलम्ब राहुल।

सिद्धराज :– "सिद्धराज" चरित्र–प्रधान ऐतिहासिक खंडकाव्य है। इसमें कवि ने गुजरात के राजा जयसिंह के जीवन–वृत्त के आधार पर काव्य–रचना की है। जयसिंह का जन्म संवत् 1147 में हुआ। कवि ने सन् 1929 के आसपास सिद्धराज के दो सर्ग रचे थे और "यशोधरा" की रचना करने के पश्चात् सन् 34–35 में इस काव्य को समाप्त किया। "द्वापर" की रचना के पूर्व ही कवि ने सिद्धराज को पूरा कर लिया था। कवि ने जयसिंह के जीवन की घटनाओं को अपनी सुविधा के अनुसार क्रमबद्ध किया है, पर हैं वे ऐतिहासिक ही।

द्वापर :– द्वापर की रचना का आरंभ "सुदामा" के आत्म–संलाप से किया गया और कवि ने द्वापर को तीन खंडो में लिखने की योजना बनाई, यथा "गोपाल", "द्वारकाधीश", और "योगिराज"। "सुदामा" प्रगीत द्वारकाधीश अंश का परिच्छेद है। तत्पश्चात् उसने "गोपाल" अंश की पंद्रह प्रगीतियाँ रचीं। "द्वारकाधीश" की रचना आरंभ होकर समाप्त हो गई और "योगिराज" की रचना की ही नहीं गई, केवल गोपाल अंश ही ही रचा गया। इसका "द्वापर" नाम कृष्ण–चरित का काव्य होने के कारण ही नहीं रक्खा गया, वरन् कवि की अव्यवस्थित मानसिक स्थिति के कारण तथा प्रतिष्ठित समाज–व्यवस्था में संशय करके सामाजिक क्रांति का समारंभ करने के कारण भी द्वापर अर्थात् संदेह को चरितार्थ किया गया।

सांत्वना : शोक–गीति

यह रचना अप्रकाशित है और वैयक्तिक भी : संवत् 1992 की जन्माष्टमी को "सांत्वना" की रचना संपूर्ण हुई। इसे "द्वापर" के रचना–काल के अन्तर्गत ही लिखा गया। एक सौ छप्पन रोला छंदो में कवि ने अपने आहत वात्सल्य की करुण भावाभिव्यंजना की है।

चरित्रों को और विकसित करने की आवश्यकता अनुभव हुई, क्योंकि वहाँ राम के व्यक्तित्व को इतस्ततः नहीं किया जा सकता था। यशोधरा ऊर्मिला के चरित्र का ही स्वाभाविक विकास है। उसका वियोग निरवधि है और अवलम्ब राहुल।

<u>सिद्धराज :–</u> "सिद्धराज" चरित्र–प्रधान ऐतिहासिक खंड्काव्य है। इसमें कवि ने गुजरात के राजा जयसिंह के जीवन–वृत्त के आधार पर काव्य–रचना की है। जयसिंह का जन्म संवत् 1147 में हुआ। कवि ने सन् 1929 के आसपास सिद्धराज के दो सर्ग रचे थे और "यशोधरा" की रचना करने के पश्चात् सन् 34–35 में इस काव्य को समाप्त किया। "द्वापर" की रचना के पूर्व ही कवि ने सिद्धराज को पूरा कर लिया था। कवि ने जयसिंह के जीवन की घटनाओं को अपनी सुविधा के अनुसार क्रमबद्ध किया है, पर हैं वे ऐतिहासिक ही।

<u>द्वापर :–</u> द्वापर की रचना का आरंभ "सुदामा" के आत्म–संलाप से किया गया और कवि ने द्वापर को तीन खंडो में लिखने की योजना बनाई, यथा "गोपाल", "द्वारकाधीश", और "योगिराज"। "सुदामा" प्रगीत द्वारकाधीश अंश का परिच्छेद है। तत्पश्चात् उसने "गोपाल" अंश की पंद्रह प्रगीतियाँ रचीं। "द्वारकाधीश" की रचना आरंभ होकर समाप्त हो गई और "योगिराज" की रचना की ही नहीं गई, केवल गोपाल अंश ही ही रचा गया। इसका "द्वापर" नाम कृष्ण–चरित का काव्य होने के कारण ही नहीं रक्खा गया, वरन् कवि की अव्यवस्थित मानसिक स्थिति के कारण तथा प्रतिष्ठित समाज–व्यवस्था में संशय करके सामाजिक क्रांति का समारंभ करने के कारण भी द्वापर अर्थात् संदेह को चरितार्थ किया गया।

<u>सांत्वना : शोक–गीति</u>

यह रचना अप्रकाशित है और वैयक्तिक भी : संवत् 1992 की जन्माष्टमी को "सांत्वना" की रचना संपूर्ण हुई। इसे "द्वापर" के रचना–काल के अन्तर्गत ही लिखा गया। एक सौ छप्पन रोला छंदो में कवि ने अपने आहत वात्सल्य की करुण भावाभिव्यंजना की है।

परिपक्क–काल

प्रौढ़ि :– गुप्तजी के काव्य–विकास का चतुर्थ चरण "नहुष" की रचना से आरंभ होता है और "अजित" के प्रकाशन से समाप्त। गुप्तजी ने इस परिपक्कवावस्था में "कुणाल–गीत" और "विश्व–वेदना" गीति–काव्यों की तथा "नहुष", "अर्जन और विसर्जन", "काबा और कर्बला" तथा "अजित" खंड–प्रबंधों की रचना की। "जय–भारत" का रचना कार्य भी इसी काव्य–युग में अपने कारावास की अवधि में कवि ने आरंभ किया। उसने मुक्तकों और प्रगीतों की रचना भी स्फुट रूप से अपनी परिपक्वावस्था में की। उत्कर्ष काल में भी वह जब–तब प्रकीर्ण रचनाएँ लिखता रहा था, पर उसका लक्ष्य वृहत् काव्य–सृष्टि में केन्द्रित हो गया था और उसने उनका उपयोग भी प्रबन्ध–काव्यों के अन्तर्गत कर लिया था। सन् 1945 तक के संस्करणों में "साकेत" के नवम् सर्ग में किए गए परिवर्द्धन इस तथ्य के निदर्शक हैं। परिपक्वावस्था में वह किसी महत् या वृहत रचना–कार्य में प्रवृत्त नहीं हुआ।

विकास–विवेचन

नहुष :– "नहुष" की रचना मुंशी अजमेरीजी के निधन के पश्चात् गुप्तजी ने अपने शोक–ग्रस्त मन को सांत्वना देने की दृष्टि से सन् 1938 में आरम्भ की। उन्होंने "इन्द्राणी" काव्य लिखने का संकल्प किया। बाल्मीकि रामायण और महाभारत का पारायण करते समय नहुष के आख्यान ने उन्हें आकर्षित किया।

कुणाल–गीत :– कुणाल–गीत का प्रकाशन सन् 1942 में हुआ। कवि को "यशोधरा" की रचना करने के पश्चात् सन्'34 के आसपास किसी सूरदास को गाते हुए देखकर कुणाल–गीत लिखने की सूझी थी। सर्वप्रथम सन्'41 में झाँसी–जेल में कवि ने दो–चार गीत रचे। उसी वर्ष आगरा जेल में उसने चालीस–पचास प्रगीत रचे और निष्कृत पाने के पश्चात् चिरगाँव आकर

उसकी रचना समाप्त की। कवि ने कुणाल–गीत में पचानवे प्रगीत रक्खे हैं और ये सभी कुणाल की आत्माभिव्यक्ति हैं।

विश्व–वेदना :–

वैतालिक की रचना के पश्चात् और प्रथम महायुद्ध की समाप्ति होने पर कवि ने "विश्व–वेदना" की रचना आरंभ की थी, पर उस समय थोड़ा ही अंश लिखा जा सकता था। बीस वर्ष के पश्चात् सन् 1939 में विश्वयुद्ध छिड़ जाने की आशंका के कारण इसकी रचना में वह पुनः प्रवृत्त हुआ। सन् 1943 में यह रचना संपूर्ण हुई और प्रकाशित भी।

काबा और कर्बला :–

इस्लाम धर्म : गुप्तजी का कवि–व्यक्तित्व मानवता की उच्चतम स्थिति का आकांक्षी होता गया है, और उसके साथ–साथ उनकी सामयिक चेतना भी विकसित होती गई है। "विश्व–वेदना" की भाँति "काबा और कर्बला" भी सामयिक प्रेरणा से लिखा गया काव्य है।

अर्जन और विसर्जन :–

"काबा और कर्बला" की रचना करते समय कवि ने अरब और सीरिया का इतिहास पढ़ा था। उसी के आधार पर उसने दो लघु–आख्यानक निबंध काव्यों की "विकट भट" की शैली में रचना की। ये काव्य दिसंबर 1942 और जनवरी 1943 में रचे गए तथा "काबा और कर्बला" के साथ–साथ सन् 1943 में प्रकाशित हुए। ऐतिहासिक दृष्टि से मुहम्मद साहब और इमाम हुसैन के पश्चात् का वृतांत इस काव्य–पुस्तक में रक्खा गया। "अर्जन" में सीरिया के सातवीं शताब्दी के तथा "विसर्जन" में उत्तरी अफ्रीका के आठवीं शताब्दी के इतिहास की घटनाओं का आख्यान किया गया।

अजित :-

"अजित" का रचनारंभ "कारा" नाम से कवि ने सन् 1941 में अपने कारावास की अवधि में ही किया था। इसकी रचना सन् 1947 में समाप्त हुई और उसी वर्ष यह कृति प्रकाशित हुई। यह काव्य आत्म-कथात्मक शैली के पन्द्रह परिच्छेदों में लिखा गया है और जीवन की विकृति का, उसकी कठोर वास्तविकता का, कवि ने इसमें चित्रण किया है।

जयभारत :-

गुप्तजी ने सन् 1907 में महाभारतीय कथा-प्रसंग पर अपनी सर्वप्रथम रचना "उत्तरा और अभिमन्यु" लिखी थी, जो सरस्वती में जनवरी 1908 के अंक में सचित्र मुद्रित हुई थी। उन्होंने प्राय: अर्द्धशताब्दी पयंत महाभारतीय आख्यानों तथा प्रसंगों पर प्रबंध और निबंध-रचनाएं लिखीं। "कौरव-पांडवों की मूल-कथा लिखने की बात भी उनके मन में आती रही। महाभारत का संपूर्ण वृतान्त महाकाव्य के स्वरूप में बाँध पाना विशिष्ट कार्य है और कवि कथन है कि "उस प्रयास के पूरे होने में सन्देह रहने के कारण वैसा उत्साह न होता था।"

हिडिम्बा : आख्यान-काव्य

"हिडिम्बा" काव्य की रचना "जयभारत" की प्रसंग-सृष्टि के रूप में हुई थी, पर वह स्वतन्त्र रचना बन गयी और खंडकाव्य का स्वरूप पा गयी। "जयभारत" में "हिडिम्बा" काव्य को संक्षिप्त करके संग्रथित किया गया। इसमें "महाभारत" के आदिपर्व के पैंतालिसवें और छियालीसवें अध्याय की कथा का आधार स्वीकार किया गया है।

विष्णुप्रिया : खंडकाव्य

"विष्णुप्रिया" खंडकाव्य की रचना सं0 2014 में हुई। गुप्तजी "रत्नावली"

खंडकाव्य लिखकर तुलसी–चरित का आख्यान करना चाहते थे। उनका उद्देश्य यह था कि मध्यकाल की पति–परित्यक्ता नारी का चरित्रोत्कर्ष और पुरुष का आध्यात्मिक विकास दिखाते हुए वियोगिनी के सामाजिक जीवन का करुणोत्पादक चित्रण किया जाय।

<u>पृथिवीपुत्र :–</u>

माताभूमि और पृथिवीपुत्र क्रमशः मानवता और यांत्रिक सभ्यता के प्रतीक हैं। पृथिवीपुत्र पाश्चात्य पूँजीवाद का प्रतिनिधि भी है। वह नए–नए अस्त्र–शस्त्र की खोज करता है और सर्व–संहारक अपूर्व युद्ध के द्वारा वह युद्ध का सर्वकालिक अन्त कर देने को उद्यत है। उसकी बर्बरता युद्धोन्माद बन गई है, पर वह अपने को पूर्ण सभ्य और सुसंस्कृत मानता है।

प्रौढ़ोत्तर काल के विश्लेषण और विवेचन से यह धारणा बनती है कि गुप्तजी का क्रम–विकास ह्रास–शील नहीं है, वरन् विकासशील है। इस काल की प्रमुख उपलब्धि है – दार्शनिक प्रवृत्तियों का प्राधान्य। गुप्तजी की प्रवृत्ति लघु आख्यानों की रचना की ओर भी हो गई है। अतएव वे "जयभारत" को महाकाव्य का स्वरूप न दे सके और "अंजलि और अर्घ्य" को गाँधीजी के जीवन–चरित का सम्यक् आधार तक न दे पाए। उनकी काव्याभिव्यक्ति में अर्थ–गांभीर्य और शब्द–संकोच के गुणों की वृद्धि हुई है, पर शैली–प्रशाधन में कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं दिखाई पड़ा।

गुप्तजी की सत्तावन वर्षों की इस काव्य–साधना के क्रम–विकास में उनकी काव्य–कला की अनवरुद्ध प्रगति का विवरण तो मिलता ही है, पर पाँचों काव्य–विकास की स्थितियों की तुलना करने पर यह भी स्पष्ट होता है कि उनके व्यक्तित्व, जीवन–दर्शन, अनुभूति, अध्ययन, विधायक कल्पना, आदि का भी क्रमशः उत्कर्ष होता गया है। उन्होंने जितनी अपनी विषय–सीमा को व्यापकता दी, उतनी ही काव्य–रूपों की विविधता

भी नियोजित की। वे खड़ी बोली काव्य के प्रवर्तक, प्रतिनिधि और पुरस्कर्ता कवि हैं। उनका काव्य प्रत्यक्ष जीवन पर आधारित है, मानवता की भावना से परिपोषित है और भारतीयता के गुणों से उद्बुद्ध हैं। वे आधुनिक काव्य की सांस्कृतिक और नैतिक काव्य–धारा के तथा गांधीजी की सर्वोदयी प्रवृत्तियों के अद्वितीय कवि हैं। उनके काव्य में व्यापक जीवन का सन्निवेश हुआ है।

तृतीय अध्याय

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में वर्ण वक्रता

तृतीय अध्याय

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में वर्ण वक्रता

शायद, हॉपकिन्स ने कहा था कि कविता का सारा सौन्दर्य ऐसा होता है, जिसे हम चर्म-चक्षुओं से देख सकते हैं। हॉपकिन्स ने अपनी सूक्ति की व्याख्या तो नहीं की है, किन्तु कविता का जितना भी सौन्दर्य चर्म-चक्षुओं से देखा जा सकता है, वह सब किसी न किसी रूप में वर्ण-विन्यास का ही चमत्कार है। वर्ण निष्प्रयोजन और निष्प्राण नहीं होते हैं। उनकी भी आत्मा होती है। वर्ण भावों के वाहक हैं, वे मन में विशेष अनुभूतियों और भावनाओं को संप्रेषित करते हैं। वर्णों की यह सार्वजनीन विशेषता है। किन्तु इस विशेषता का कौन कितना उपयोग करता है, यह कवि की शक्ति पर निर्भर है। कवित्व से जो ज्योति फूटती है, वह सब की सब कवि-प्रतिभा की देन है। महान कवि किसी एक ही कारण से महान् तो नहीं होता है, किन्तु उसकी एक विशेषता तो यह होती ही है कि वह वर्ण - विन्यास की समग्र सम्भावनाओं को भाव के उत्कर्ष के लिए निचोड़ लेता है। कहते हैं, आकृति से प्रकृति का पता चलता है। इसलिए वर्ण-विन्यास से भी भाव-योजना के स्वरूप का स्पष्ट बोध होता है। सुन्दर शरीर में ही उदात्त आत्मा वास करती है, उसी प्रकार भाव की गरिमा का भी वर्ण-विन्यास से कोई-न-कोई सम्बन्ध अवश्य है।

"कुन्तक कविता के विवेचन का प्रथम अवयव वर्ण को ही मानते हैं। इसलिए उन्होंने वर्ण-विन्यास-वक्रता को ही वक्रोक्ति का प्रथम भेद माना है। यहाँ वर्ण शब्द व्यंजन का पर्याय वाचक है। इस प्रकार वर्ण-विन्यास वक्रता व्यंजन-चारुता का ही दूसरा नाम है। इसी को अन्य आचार्यों ने अनुप्रास की संज्ञा दी है। इस तथ्य को स्वयं कुन्तक ने स्वीकार किया है : **"एतदेव वर्ण-विन्यास वक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रतिद्धम्।"**

परवर्ती आचार्यों ने अनुप्रास के छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास इस प्रकार के पाँच भेद किये हैं। अनुप्रास एक ऐसा अलंकार है जिस पर संस्कृत के सभी आलंकारिकों ने किसी न किसी रूप में विचार किया है। भामह ने सरूप वर्ण–विन्यास को अनुप्रास कहा है। भामह ने इसके दो ही भेद बतलाये हैं – ग्राम्यानुप्रास एवं लाटानुप्रास। उद्भट के अनुसार, अनुप्रास का लक्षण यह है।"[1]

सरूपण्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथकं पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा।।

ग्राम्या, परुषा एवं उपनागरिका – इन तीनों वृत्तियों में यथासम्भव रस आदि की अभिव्यक्ति के अनुरूप वर्ण–विन्यास में जो समान वर्णों का पृथक–पृथक उपनिबन्ध होता है, उस अनुप्रास की छवि की कवि सदा विवक्षा करता है। दण्डी के अनुसार वर्ण–व्यंजक अक्षरों की आवृत्ति – समान श्रुति को अनुप्रास कहते हैं। यह पाद तथा पद में होता है। वामन के अनुसार "शेषः सरूपोडनुप्रासः" (काव्यालंकारसूत्र 1/1/8)। उन्होंने वृत्ति में स्पष्ट किया है कि एकार्थक और अनेकार्थक और अनियत स्थान वाले पद तथा उसी प्रकार के अनियत स्थान वाले अक्षर शेष की आवृत्ति अनुप्रास है। वामन का कहना है कि अनुल्वण वर्णों का अनुप्रास अच्छा होता है। रुद्रट के अुनसार एक व्यंजन की बहुत बार आवृत्ति को अनुप्रास अलंकार कहते हैं – ऐसे आवृत्त व्यंजन के बीच एक दो अथवा तीन अन्य व्यंजनों का व्यवधान रहना चाहिए तथा स्वर के व्यवधान के सम्बन्ध में कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए। रुद्रट ने इनके पाँच भेद किये हैं – मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा। इन वृत्तियों के जैसे नाम हैं वैसी ही इनमें व्यंजन – – योजना रहती है।

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद, पृ0 सं0 – 277

"भोज की परिभाषा अत्यंत प्रतिपन्न है। उनके अनुसार वर्णों की अनतिदूर आवृत्ति से अनुप्रास की सृष्टि होती है। भोज ने अनेक भेद–प्रभेदों की चर्चा की है। कदाचित् इतने भेद–प्रभेदों का उल्लेख किसी और आचार्य ने हीं किया है। अग्निपुराण के अनुसार पद और वाक्य में वर्णों की आवृत्ति का नाम अनुप्रास है। इसके दो भेद हैं – एकवर्णगतावृत्ति तथा अनेकवर्णगतवृत्ति। एकवर्णगतावृत्ति अनुप्रास की पाँच वृत्तियाँ हैं – मधुरा, ललिता, प्रौढ़ा, भद्रा और परुषा। अग्निपुराणकार ने परुषावृत्ति के देश–भेद से अनेक भेद किए हैं – कर्णाटी, कौन्तली, कौन्ती, कौङ्.कणी, वामनासिका, द्रावणी और माधवी। इनके अनुसार अनेक वर्णावृत्ति में आवृत्त वर्णों के अर्थ भिन्न–भिन्न होते हैं और ऐसी आवृत्ति यमक कहलाती है"[1] इनके दो भेद हैं – अव्यपेत और व्यपेत।

मम्मट ने वर्णसाम्य को अनुप्रास कहा है। उनके अनुसार यह दो प्रकार का है। पहला छेकगत और दूसरा वृत्तिगत। वृत्तिगत के तीन भेद हैं, जिनकी चर्चा उद्भट ने की थी – उपनागरिका, परुषा, तथा कोमला। रुय्यक का मत है कि पौनरुकत्य दो प्रकार का होता है – अर्थ पौनरुकत्य तथा शब्द पौनरुकत्य। अर्थ पौनरुकत्य पुनरुक्तवदाभास का विषय है। शब्द–पौनरुकत्य के पहले दो भेद हैं, एक को छेक तथा वृत्ति अनुप्रास और दूसरे को यमक कहते हैं। दूसरे में ही यदि तात्पर्य भेदवश पौनरुकत्य हट जाता है, तो उसे "लाट" कहते हैं। हेमचन्द्र की परिभाषा भी भोज की ही तरह स्वच्छ है। वे कहते हैं कि व्यंजन की आवृत्ति ही अनुप्रास है: "व्यंजनस्यावृत्तिरनुप्रासः।" अनुप्रास शब्द का अर्थ करते हुए उन्होंने कहा है कि रसानुरूप तथा अनतिव्यवहित व्यंजन का पुनः पुनः विन्यास ही अनुप्रास है। हेमचन्द्र ने यह भी स्पष्ट किया है कि यदि एक ही बार आवृत्ति हो, तो इसमें कोई विशेष चमत्कार लक्षित नहीं

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद, पृ० सं० – 278

होता और चमत्कार के बिना कोई अलंकार सम्भव नहीं है। उनका कहना है कि यह आवृत्ति अनेक की एक और एक की अनेक बार हो सकती है। एक की तो अनेक बार होनी आवश्यक है।

"जयदेव ने (चन्द्रालोककार) अनुप्रास की परिभाषा नहीं दी है, किन्तु उसके भेदों का उल्लेख किया है – छेक, वृत्ति, लाट, स्फुट और अर्थ। विश्वनाथ के अनुसार स्वर के वैसादृश्य में भी शब्द अथवा व्यंजन का सादृश्य अनुप्रास है। अनुप्रास का प्रथम भेद, उनके अनुसार, छेकानुप्रास है। जिसे व्यंजन–समुदाय के एक बार होने वाले अनेक प्रकार के साम्य में देखा जाता है। दूसरा भेद वृत्यनुप्रास है जिसे अनेक व्यंजनों की एक प्रकार की समानता अथवा अनेक व्यंजनों की अनेक बार आवृत्ति या वर्ण की एक बार किंवा अनेक बार आवृत्ति कहा करते हैं। श्रुत्यनुप्रास वह अनुप्रास भेद है जिसे तालु, दन्त आदि स्थानों में से किसी एक स्थान में उच्चरित व्यंजनों का सादृश्य कहा जाया करता है। अन्त्यनुप्रास वह है जिसे प्रथम स्वर के साथ यथावस्थ व्यंजन की ऐसी आवृत्ति में देखा जाता है, जो कि पद अथवा पाद के अन्त में पड़ा करती है। लाटानुप्रास वह अनुप्रास–भेद है, जिसे ऐसे शब्दों और अर्थों की आवृत्ति कहा करते हैं, जो केवल तात्पर्यतः भिन्न हुआ करते हैं। विश्वनाथ के अनुसार अनुप्रास के यही पाँच भेद हैं।"[1]

इस प्रकार वर्णों की अनुतिदूर आवृत्ति ही अनुप्रास है। संस्कृत के आचार्यों में जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, व्यर्थ के भेद–प्रभेदों को लेकर मतभेद रहा है। कुन्तक से न तो पहले और न बाद में ही किसी आचार्य ने यह लक्ष्य किया कि छेक आदि वर्गीकरण निष्प्रयोजन हैं। मुख्य चीज है वर्णों की अनतिदूर आवृत्ति। इसलिए कुन्तक की प्रतिभा ने इन सारे भेदों और प्रभेदों की एकबारगी ही नकार दिया और उन्हें वर्णविन्यास वक्रता

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद, पृ0 सं0 – 279

के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लिया। निश्चय ही संस्कृत काव्यशास्त्र की संकीर्ण सरणियों से निकलने का यह अत्यंत मौलिक और महत्त्वपूर्ण प्रयास है। चिंतन की सीमा का पता इससे भी पता चलता है कि इन आचार्यों ने लाटानुप्रास को भी अनुप्रास के ही एक भेद के रूप में उपस्थित किया है। लाटानुप्रास को अनुप्रास का भेद मानने पर झलकीकर वामन आदि ने तो यह आपत्ति की है कि इसे वस्तुतः अनुप्रास का भेद मानना नहीं चाहिए। कारण अनुप्रास का लक्षण उस पर नहीं घटता। इसे तो अनुप्रास केवल इसलिए कहा जाता है कि वहाँ आवृत्ति है। अभिप्राय यह कि यहाँ अनुप्रास का प्रयोग लाक्षणिक ही समझना चाहिए। कुन्तक की स्वच्छ प्रतिभा ने वर्ण–विन्यास वक्रता के माध्यम से इन्हीं झाड़–झंखाड़ों को उखाड़ फेंका है।

कवि कर्म का प्रथम सोपान यह वर्णविन्यासवक्रता ही है। वर्णों के विन्यास में सिद्धकवि अपनी रचना में सहज ही चित्र और संगीत की विशेषताओं को आत्मसात् कर लेता है। सच तो यह है कि वर्णों के ललित अथवा परुष स्वभाव का सम्बन्ध सीधे रसास्वाद से है। रसास्वाद के समय सहृदय का चित्त या तो द्रवित हो जाता है या प्रज्जवलित हो उठता है। चित्त की द्रुति और दीप्ति में व्यंजनों के लालित्य और परुषता का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इसलिए व्यंजन काव्य के ऐसे उपकरण हैं : अनुप्रास भावावेग में नृत्य का छन्द जोड़ता है। जब एक ही ध्वनि बार–बार दुहरायी जाती है, तो श्रोता आवेग की वक्रिमता से सहज ही प्रभावित होता है। इस प्रकार वर्ण–विन्यास शिल्प और अलंकरण नहीं प्रत्युत आवेग के वस्तुगत प्रतिरूप ही सिद्ध होते हैं।

वर्णों के विन्यास के वैचित्र्य कई प्रकार के होते हैं, और कुन्तक ने उन सभी पर विचार किया है। इसलिए उनका विवेचन पूर्ण है। उनमें पहला वह है जिसमें कुछ थोड़े व्यवधान के साथ एक या दो अनेक व्यंजनों का सन्निवेश सौन्दर्य प्रतीत हुआ करता है। अवश्य ही स्वल्पान्तर

से आवृत्ति कुन्तक की एक मुख्य शर्त है, क्योंकि इसके आभाव में वर्णों के मिलन से अपेक्षित माधुर्य नहीं, प्रत्युत संगीतहीन कोलाहल पैदा हो जाएगा। स्वल्पान्तर ही संगीत की लय को उत्पन्न करता है और वर्ण–योजना से छवि का जन्म होता है।

एक वर्ण की आवृत्ति :–

गुप्त जी की कविता वर्णविन्यास वक्रता की दृष्टि से हिन्दी की समृद्ध कविता है, वर्ण विन्यास का शत–शत वैभव उसमें बिखरा मिलता है –

1. "मनुज बन कर मानवी का पय पिया?
   भक्त–वत्सलता इसी का नाम है।
   और वह लोकेश लीला – धाम है।"[1]

   यहाँ पर "ल" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

2. "हो जानती बातें सभी कहना हमारा व्यर्थ है,
   बदला न लेना शत्रु से कैसा अधर्म अनर्थ है?"[2]

   यहाँ पर "अ" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

3. "भुवन – भावने आ पहुँचा मैं
   अब क्यों तू यों भीता है?
   अपने से पहले अपनों की
   सुगति गौतमी गीता है।"[3]

   यहाँ पर "भ" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

---

1. साकेत, प्रथम सर्ग, पृ0 सं0 – 12
2. जयद्रथ वध, प्रथमसर्ग, पृ0 सं0 – 7
3. यशोधरा, पृ0 सं0 – 12

4. "आँखो के आगे हरियाली
रहती है हर घड़ी यहाँ,
जहाँ तहाँ झाड़ी में झिरती
है झरनों की झड़ी यहाँ।"[1]

यहाँ पर "अ" वर्ण एवं "झ" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

5. "भीती – भरी शासन की नीति
पाती नहीं प्रजा की प्रीति।"[2]

यहाँ पर "भ" वर्ण एवं "प" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

6. "चला गया वह अहो! भाग्य का भरम हमारा,
सबके आगे वह आज करुण की धारा,
यह कहने में हमें नहीं लज्जा अब कोई,
कि हम दीन हैं दया करो हम पर सब कोई।"[3]

यहाँ पर "भ" वर्ण एवं "क" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

7. "ताप और तम के विकास का
बिना प्रयास हो गया नाश।"[4]

यहाँ पर "त" एवं "व" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

8. पशुओं को भी पशुओं की सब
विधाएं मैं सिखलाऊँ,
हिरन चौकड़ी भरु कहो तो,
गीदड़ भभकी दिखलाऊँ।[5]

---

1. पञ्चवटी, पृ0 सं0 – 11
2. हिन्दू, पृ0 सं0 – 42
3. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 17
4. प्रदक्षिणा, पृ0 सं0 – 10
5. लीला, पृ0 सं0 – 12

यहाँ पर "प" वर्ण "ल" वर्ण एवं "भ" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

9. साधन सहज नहीं आप योगियों को भी,

आशा फिर क्या है सर्व साधारण के लिए?[1]

यहाँ पर "स" वर्ण एवं "क" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

10. "भक्षक का भय है न हमें

बस रक्षक राघव राम रहें।"[2]

यहाँ पर भ वर्ण एवं र वर्ण की आवृत्ति हुई है।

11. इसे बजाते हो तुम जब लों,

नाचेंगे हम सब भी तब लों,

चलने दो – न कहो कुछ कब लों,

यह क्रीड़ा – कल्लोल

तुम्हारी वीणा है अनमोल।"[3]

यहाँ पर त वर्ण, क वर्ण, ल वर्ण की आवृत्ति हुई है।

12. सोचो, प्रकृति भी पूर्ण

है बदल जाती तूर्ण।

पर यह प्रकृति का चित्र,

तो है विकृति का मित्र,

जो है विकृति का भाग,

क्या कठिन उसका त्याग।"[4]

यहाँ पर प वर्ण, क वर्ण, ग वर्ण की आवृत्ति हुई है।

---

1. विष्णु प्रिया – पृ0 सं0 – 9
2. चन्द्रहास – पृ0 सं0 – 5
3. झंकार – पृ0 सं0 – 11
4. अनघ– पृ0 सं0 –12

13. "उन्नत रहा होगा कभी जो हो रहा अवनत अभी,
जो हो रहा अवनत अभी, उन्नत रहा होगा कभी"[1]

यहाँ पर "उ" वर्ण, "र" वर्ण, "भ" वर्ण एवं "अ" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

14. "कुलकत्ते की कालकोठरी सुनी गई थी,
उसी कल्पना पर यथार्थ यह चुनी गई थी।"[2]

यहाँ पर "क" वर्ण, "न" वर्ण, "थ" वर्ण, "ग" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

15. "न लो लूट का नाम, पाप है पाप ही
फल पावेंगे सभी किये का आप ही।"[3]
यहाँ पर 'ल' वर्ण एवं 'प' वर्ण की आवृत्ति हुई है।

16. "क्या पुरुषों के चारित्र्य का, यही हाल है लोक में?
होता है पौरुष पुष्ट क्या, पशुता के ही ओक में?[4]

यहाँ पर "क" वर्ण, "प" वर्ण एवं "ल" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

17. "बाधा है लिखी – बदी सी हमको अराति की,
रह तू सुरक्षित ही रक्षणीया जाति की।"[5]

यहाँ पर "ब" वर्ण, "क" वर्ण एवं "त" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

18. "अमर न होते तो मर मिटते, क्यों सहते यह लाज?

---

1. भारत–भारती, पृ0 सं0 – 12
2. अजित, पृ0 सं0 – 11
3. किसान, पृ0 सं0 – 29
4. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 15
5. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 25

अति अधीर, हो सोच रहे हैं देव दुख से आज।"[1]

यहाँ पर "अ" वर्ण, "म" वर्ण एवं "ह" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

19. "मानता हूँ, तू है नामी, किन्तु कुल काल, कुपथगामी।
आज इस पृथ्वी का स्वामी, बना फिरता है तू कामी।"[2]

यहाँ पर "क" वर्ण, "म" वर्ण एचं "त" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

20. "जीवन से हाथ धोवे और मुरे मुझसे।"[3]

यहाँ पर "स" वर्ण एवं "म" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

21. "सुन ले विजय–वृर्ण जैसे बने कर्णों से।" [4]

यहाँ पर "स" वर्ण एवं "व" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

22. "सन्ध्या हो रही है नील नभ में, शरद के,
शुभ्र घन तुल्य, हरे वन में, शिविर के।"[5]

यहाँ पर "न" वर्ण एवं "श" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

23. "मैं कहता हूँ, यदि मनुष्य ही
बने मनुष्य हमारा
तो कट जाय देव दैत्यों का
कलह कलुष यह सारा।"[6]

यहाँ पर "म" वर्ण, "क" वर्ण एवं "ल" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

---

1. शक्ति, पृ0 सं0 – 5
2. वन–वैभव, पृ0 सं0 – 25
3. विकट भट, पृ0 सं0 – 3
4. अर्जन और विसर्जन, पृ0 सं0 – 3
5. सिद्धराज, प्रथम सर्ग, पृ0 सं0 – 6
6. द्वापर, पृ0 सं0 – 74

24. "आओ तब, दिव्य मनवाली, भव्य देहिनी,
सचिव, सखी हो तुम और मेरी गेहिनी।"

यहाँ पर "स" वर्ण, "म" वर्ण एवं "न" वर्ण की आवृत्ति हुई है।

दो वर्णों की आवृत्ति :– श्री मैथिलीशरण गुप्त के समग्र काव्य का दो वर्णों की आवृत्ति के आधार पर विवेचन प्रस्तुत है –

1. इधर भोली हैं आप, समझती सबको वैसी आप।
नहीं तो यह सीधा षड़यन्त्र, रचा क्यों जाता यहाँ स्वतन्त्र?
महारानी कौशल्या आज, सहज सज लेती क्या सब साज?[2]

यहाँ पर अ प वर्ण और स ज वर्ण की आवृत्ति हुई है।

2. "नयन उन्हें है निष्ठुर कहते,
पर इनसे जो आँसू बहते,
सदय हृदय बे कैसे सहते।"[3]

यहाँ पर ह त वर्ण और द य वर्णों की आवृत्ति हुई है।

3. "दुर्वृत्त दुर्योधन न जो शठता–सहित हठ ठानता
जो प्रेम पूर्वक पाण्डवों की मान्यता को मानता।[4]

यहाँ पर द द और ठ ठ एवं म म वर्णों की आवृत्ति हुई है।

---

1. पृथ्वी पुत्र, पृ० सं० – 49
2. साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० सं० – 29
3. यशोधरा, पृ० सं० – 22
4. जयद्रथ वध, प्रथम सर्ग, पृ० सं० – 4

4. है स्वछन्द सुमन्द गन्ध वह,

निरानन्द है कौन दिशा?

बन्द नहीं, अब भी चलते हैं,

नियति–नटी के कार्य्य – कलाप।[1]

यहाँ पर द वर्ण और न वर्ण की दो बार आवृत्ति हुई है।

5. "होकर ऋषियों की सन्तान, सहते हो तुम क्यों अपमान।

अपने को भूले हो आप, पाते हो सौ सौ सन्ताप।"[2]

यहाँ पर न और स की दो बार आवृत्ति हुई है।

6. "सब कहते हैं कि वह छली था, छलने आया,

दिखा गया निज हाव–भाव वह मोहक माया

पर हम कैसे कहें कि वह कोई वंचक था,

कौशल तो था बहुत, न उसमें छल रंचक था।"[3]

यहाँ पर छ, ल , य, क, वर्ण की दो–दो बार आवृत्ति हुई है।

7. "कौशल्या के रामचन्द्र थे,

कैकेयी के भरत सुनाम

और सुमित्रा जननी के थे

सुत लक्ष्मण–शत्रुघ्न ललाम।"[4]

यहाँ पर क और स एवं म वर्णों की दो बार आवृत्ति हुई है।

---

1. पञ्चवटी, पृ० सं० – 7
2. हिन्दू, पृ० सं० – 20
3. उच्छ्वास, पृ० सं० – 16
4. प्रदक्षिणा, पृ० सं० – 11

8. "पशुओं को भी पशुओं की सब,
विधाएं मैं सिखलाऊँ,
हिरन चौकड़ी भरूँ कहो तो,
गीदड़ भभकी दिखलाऊँ।"[1]

यहाँ पर प, श, अ एवं ल वर्णों की दो बार आवृत्ति हुई है।

9. "विद्या सब चाहते हैं, विद्या पात्र चाहती।
सिद्ध थी स्वयं–ही–सी निभाई को सरस्वती।"[2]

यहाँ पर व, च, ह एवं स वर्णों की दो बार आवृत्ति हुई है।

10. "डरो नहीं, धैर्य्य धरो, डरो नहीं,
सभी कहीं श्री हरि हैं, सभी कही।"[3]

यहाँ "ड" "र" "स" "भ" वर्ण की आवृत्ति दो बार हुई है।

11. "ऊँचे से ऊँचे जाता है।
नीचे से नीचे आता है।"[4]

"च" "त" वर्ण की आवृत्ति दो बार हुई है।

12. "तेरा सुख ही इसका सुख है!
कह अब तो तुझको कहना है।"[5]

"स" "ख" एवं **"क"** वर्ण की आवृत्ति।

---

1. लीला, पृ0 सं0 – 12
2. विष्णु प्रिया, 12
3. चन्द्रहास, तृतीय–अंक, पृ0 सं0 – 91
4. झंकार, पृ0 सं0 – 49
5. अनघ , पृ0 सं0 – 57

13. "क्या देर लगती है बिगड़ते, जब बिगड़ने पर हुए।
फिर क्या परस्पर बन्धु ही तैयार लड़ने पर हुए।"[1]

"ब" "ग" "प" "र" वर्ण की आवृत्ति।

14. "आगे धरते हुए हाथ वे गोरे–गोरे।
बस – बस – बस पर कान न धर कुछ परसना।।"[2]

"ग" "ब" "स" वर्ण की आवृत्ति।

15. "तुम्हीं बता दो हमें कि कैसे धीरज धारे
किस प्रकार अब और मरे मन को हम मारे।।"[3]

यहाँ "ह" **"ध"** "र" वर्ण की आवृत्ति।

16. "अति लिपटी भी शैवाल में कमल–कली है सोहती।
घन – सघन घटा में भी घिरी चन्द्रकला मन मोहती।"[4]

"घ" "न" "ह" **"त"** वर्ण की आवृत्ति।

17. "घने घने वृक्ष आत पत्र लिये आते थे।
निज फल–फूल उन्हें भेंट दिये जाते थे।"[5]

यहाँ पर **"घ" "न" "फ" "ल"** वर्ण की आवृत्ति।

18. "रहे न बाँस, बजे न बाँसुरी सन्नाटा छा जाय।
फिर क्या हमें हमारा सुरपुर स्वर्ग रहे या जाय।"[6]

यहाँ **"ब"** "स" "ज" "य" वर्ण की आवृत्ति दो बार हुई है।

---

1. भारत–भारती, पृ0 सं0 – 78
2. अजित, पृ0 सं0 – 12
3. किसान, पृ0 सं0 – 5
4. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 4
5. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 8
6. शक्ति, पृ0 सं0 – 7

19. उचित आतिथ्य करूँगा मैं। हीनता सभी हरूँगा मैं।।
काल से भी न डरूँगा मैं। कि मारूँगा कि मरूँगा मैं।"[1]

यहाँ "म" "र" "ग" वर्ण की आवृत्ति।

20. "और आशीर्वाद दो कि यह सुख से जिये।
मैं भी यही आशीर्वाद आज इसे देता हूँ।"[2]

यहाँ "अ" "श" "व" "द" वर्ण की आवृत्ति।

21. "एक घन अर्जन किया था इस जन ने
जीवन में मन के महान विनिमय के।"[3]

22. "कांचन दे कांचन की पुतली–सी उसकी
जो थी जयसिंह की कुमारी कुल–कालिका।"[4]

यहाँ पर "क" "च" "न" वर्ण की आवृत्ति।

23. "नहीं चाहती मैं विनिमय में, उन वचनों का वर्म हरे
तुझको एक तुझीको अर्पित, राधा के सब कर्म हरे।"[5]

"ह" "र" "त" "झ" वर्ण की आवृत्ति।

24. "मैं तो देखती हूँ लाख–लाख गुना तुझमें
विकसित गृध्र वही, साधनों के साथ है।"[6]

"ल" "ख" वर्ण की आवृत्ति।

---

1. वन–वैभव, पृ0 सं0 – 13
2. विकट भट, पृ0 सं0 – 16
3. अर्जन और विसर्जन, पृ0 सं0 – 4
4. सिद्धराज, पृ0 सं0 – 61
5. द्वापर, पृ0 सं0 – 12
6. पृथिवीपुत्र, पृ0 सं0 – 61

दो वर्णों से अधिक आवृत्ति –

दो से अधिक वर्णों की आवृत्ति सामान्यतया कम होती है, किन्तु गुप्त जी के साहित्य में इसके उदाहरणों का अभाव नहीं –

1. "राज पुत्र भी कला कुशल थे वे कृती।
धीर धारणाधार धुरन्धरा ध्रुवधृती।।"[1]

"ध" वर्ण की आवृत्ति।

2. "अपराध सौ सौ सर्वदा जिसके क्षमा करते रहे।
हँस कर सदा सस्नेह जिसके हृदय को हरते रहे।।"[2]

"स" वर्ण की आवृत्ति

3. "निज राज–पाट धन, धरणि, धाम।
ओ क्षण भंगुर भाव राम–राम।[3]

"ध" वर्ण की आवृत्ति।

4. "पर कर सकती हूँ मैं यों ही
विपुल – विघ्न – बाधा वारण।"[4]

"व" वर्ण की आवृत्ति।

5. "सुना सृष्टि में सोहं नाद
सर्वोपरि सच्चा संवाद।"[5]

"स" वर्ण की आवृत्ति।

---

1. साकेत, पंचम सर्ग, पृ0 सं0 – 75
2. जयद्रथ वध, द्वितीय सर्ग, पृ0 सं0 – 18
3. यशोधरा, पृ0 सं0 – 14
4. पंचवटी, पृ0 सं0 – 20
5. हिन्दू, पृ0 सं0 – 35

6. "प्रभुवर यही प्रार्थना है हम

आतुर आर्त्त अधीरों की।"[1]

"अ" वर्ण की आवृत्ति।

7. "आर्य, आपके प्रति इस जन ने

कब कब क्या कर्त्तव्य किया।"[2]

"क" वर्ण की आवृत्ति।

8. "कॉटो की झाड़ी में जाकर,

अपने आप अटकना है।"[3]

"अ" वर्ण की आवृत्ति।

9. "राधामय श्याम मानो गौर हरि हो गये।

नारायण नर बने नर नर ही बने।"[4]

"न" वर्ण की आवृत्ति।

10. "विपुल विघ्न भरे शुभ काम,

विधि विधान विलक्षण वाम हैं।"[5]

"व" वर्ण की आवृत्ति।

11. नाचे नियति, प्रकृति सुर साधे,

सब सुर हों सजीव साकार।

देश–देश में काल – काल में,

---

1. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 37
2. प्रदक्षिणा, पृ0 सं0 – 25
3. लीला, पृ0 सं0 – 13
4. विष्णु प्रिया, पृ0 सं0 – 10
5. चन्द्रहास, पृ0 सं0 – 27

उठे गमक गहरी गुंजार।।"[1]

"स" "ग" वर्ण की आवृत्ति।

12. "यह कोकिल – कुल की कलित कूक
पीड़ित हृदयों की न हो हूक।"[2]

"क" वर्ण की आवृत्ति।

13. "शुभ शान्तिमय शोभा जहाँ भव बन्धनों को खोलती
हिल मिल मृगों से खेल करती सिंहनी थी डोलती।"[3]
"श" वर्ण की आवृत्ति।

14. "शिक्षा – दीक्षा कहाँ कहाँ संस्कार किसी के।
ये अपराधी – अधम अभागे पात्र इसी के।।"[4]
"क" "अ" वर्ण की आवृत्ति।

15. मैं भी था मन ही मन मैंने लिया राम का नाम!
और कहा – मंजूर न हो तो देखो अपना काम।।"[5]
"म" वर्ण की आवृत्ति।

16. "सुफल – दायिनी रहें राम – कर्षक की सीता!
आर्य – जनों को सुरुचि – सभ्यता – सिद्धि पुनीता।"[6]
"स" वर्ण की आवृत्ति।

---

1. झंकार, पृ0 सं0 – 8
2. अनघ, पृ0 सं0 – 75
3. भारत – भारती, पृ0 सं0 – 15
4. अजित, पृ0 सं0 – 19
5. किसान, पृ0 सं0 – 19
6. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 3

17. "निज पर हैं वे, यह जिनसे छली गई।
धन गया, धाम गया, धरती चली गई।।"[1]
"ध" वर्ण की आवृत्ति।

18. "भागे गण पीछे को भय से पर देखे जो घूम!
तो देवी ने पकड़ लिया था, उसे झपट झट झूम।"[2]
"झ" वर्ण की आवृत्ति।

19. "चाँदनी छिटकी थी उस रात।
विचरता था वासान्तिक वात।"[3]
"व" वर्ण की आवृत्ति।

20. "सुनकर बार – बार – बात वही उनकी।"[4]
"ब" वर्ण की आवृत्ति।

21. "धाम – धरा – धन का हरण उन्हें अपना।
और उन अपनी स्त्रियों का अपमान भी।"[5]
"ध" वर्ण की आवृत्ति।

22. "देवि, मैंने रक्खा कुल – मान – धन इसका,
और पुरखों की धरा धन्य धान्य – जननी।"[6]
"ध" वर्ण की आवृत्ति।

23. "नित्य नित्य नूतन भावों से
भूषित वह कल्याणी।"[7]

---

1. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 10
2. शक्ति, पृ0 सं0 – 17
3. वन वैभव, पृ0 सं0 – 17
4. विकट भट, पृ0 सं0 – 4
5. अर्जन और विसर्जन, पृ0 सं0 – 4
6. सिद्धराज, पृ0 सं0 – 12

24. "व॒त्स, व॒त्स, वि॒स्मित मैं सुनकर क्या कहते हो हाय।"[1]

"व" वर्ण की आवृत्ति।

वर्णविन्यास : द्वितीय प्रकार

कुन्तक की वर्ण विन्यास-वक्रता के द्वितीय प्रकार के भी तीन भेद हैं: (1) वर्गान्त से युक्त स्पर्श। ककार से लेकर मकार पर्यन्त वर्ग **"स्पर्श"** कहलाते हैं। इस प्रकार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ संयुक्त रूप में बार-बार प्रयुक्त प्रथम भेद है। (2) त-ल-नादयः अर्थात् तकार, लकार और नकार आदि द्विरुक्त अर्थात् द्वित्व रूप में उच्चरित् होकर बार-बार निबद्ध हों, यह इसका दूसरा भेद है। (3) उन वर्गान्त योगी स्पर्श वर्णों तथा द्विरुक्त तकार, लकार, नकार आदि से भिन्न शेष व्यंजन संज्ञक जो वर्ण है वे रेफ आदि से संयुक्त रूप में बार-बार निबद्ध हों यह तीसरा भेद है। संस्कृत कविता में इस वर्ण-विन्यास के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं।

"वर्णविन्यासवक्रता के इस प्रकार में कुन्तक ने वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र में विस्तार से विचारित गुणों, वृत्तियों एवं रीतियों के चिन्तन के वैज्ञानिक समाहार का ही प्रयास किया है। वे वर्ण विन्यास के इस प्रकार को वस्तु के स्वरूप से निरपेक्ष नहीं बतलाते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि वर्ण विन्यास के इस प्रकार की सार्थकता प्रस्तुत के औचित्य से युक्त होने पर ही (प्रस्तुतौचित्यशोभिनः) है। संस्कृत काव्यशास्त्र में इस प्रकार के विचार का प्रारम्भ उद्भट से ही हो जाता है। उद्भट (8 श0ई0 उत्त0) ने इन्हें अनुप्रास जाति माना है। इनमें वर्ण-व्यवहार की प्रधानता होती है, पद संघटना का विचार नहीं होता। ग्राम्या, परुषा एवं उपनागरिका - इन तीनों वृत्तियों में यथा संभव रस आदि की अभिव्यक्ति के अनुरूप वर्ण के प्रयोग में सामने वर्णों का ही उपनिबन्धन होता है। इनके अनुसार परुषा में श, स, रेफ संयोग और टवर्ग, ड., एवं ह्र एवं ध्र जैसे वर्णों की अनेक बार आवृत्ति रहती है। उपनागरिका में

समान रूप वाले वर्णों का संयोग तथा वर्गीय अनेक बार आवृत्ति रहती है। उपनागरिका में समान रूप वाले वर्णों का संयोग तथा वर्गीय अन्त्याक्षर से युक्त स्पर्श वर्ण का प्रयोग होता है। ग्राम्या में उक्त दोनों वृत्तियों से अवशिष्ट लादि वर्णों का उपयोग होता है। रुद्रट ने "काव्यालंकार में वृत्ति को समास का आश्रित माना है। (2।। 3।।)। इन्होंने अनुप्रास के पाँच भेद किये हैं – मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता एवं भद्रा।

जिस प्रकार ग्राम्या के सम्बन्ध में उद्‌भट ने शेष वृत्तियों में उपयुक्त वर्णों से बचे हुए वर्णों के उपयोग की बात कही है। उसी प्रकार रुद्रट ने भी भद्रा के लिए कहा है – **"परिशिष्ट भद्राया"**। भोज ने अपने सरस्वती कण्ठाभरण में 12 प्रकार की अनुप्रास जातियों से भिन्न वृत्तियों का वर्णन किया है, जो वर्णों की आवृत्ति पर निर्भर न होकर स्पर्शादि वर्णों के परस्पर संबंध और असम्बन्ध से युक्त रचना – संघटन पर निर्भर करती है। ये 12 आवृत्तियाँ है – गम्भीरा, ओजस्विनी, प्रौढ़ा, मधुरा, निष्ठुरा, श्लथा, कठोरा, कोमला, मिश्रा, परुषा, ललिता, अमिता। गंभीरा वृत्ति में प्रायः तवर्ग और पवर्ग के तृतीय और चतुर्थ वर्णों में प और फ का संयोग होता है। ओजस्विनी वृत्ति में प्रायः मूर्धन्य वर्णों में प्रथम, चतुर्थ और पंचम वर्णों की दो – तीन बार आवृत्ति होती है। प्रौढ़ा में प्रायः मूर्धन्य के अन्त्य वर्णों के साथ संयोग में पूर्व वर्ण दीर्घ होते हैं। मधुरा स्पर्श वर्णों के सानुस्वार प्रयोग से उत्पन्न होती निष्ठुरा में संयुक्त वर्णों का बार–बार प्रयोग होता है। व्यंजनों के असंयुक्त प्रयोग से श्लथा वृत्ति बनती है। कठोरा प्रायः कण्ठ्य और रेफादि के संयोग से उत्पन्न होती है। मिश्रा कठोर वर्णों में ओष्ठ्य, कण्ठ्य और मूर्धन्य वर्णों के मिश्रण से बनती है। परुषा उष्म और अन्तस्थ के संयोग से निर्मित होती है। ललिता प्रायः दन्त्य, ओष्ठ्य तालण्य वर्णों के साथ अन्तस्थ वर्णों के संयोग से बनती है। अमिता वृत्ति अमित रूप से ककार, लकार, वकार आदि के संघटन से निष्पन्न होती है।

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद, पृ0 सं0 – 286

मम्मट ने वृत्ति के वे ही तीन भेद माने हैं, जिनकी चर्चा उद्भट ने की है – उपनागरिका, परुषा तथा कोमला। माधुर्य – व्यंजक वर्णों वाली उपनागरिका, ओज: प्रकाशक वर्णों से समन्वित परुषा तथा अवशिष्ट वर्णों वाली कोमला कही जाती है। इस प्रकार गुणों, वृत्तियों तथा रीतियों का समन्वय करते हुए मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि ये तीनों वृत्तियों वामन आदि के मत में क्रमश: वैदर्भी, गौड़ी, और पांचाली नामक रीतियों मानी जाती हैं। विश्वनाथ में आकर यह चिन्तन पूर्णतया स्वच्छ रूप में उपस्थित होता है। उनके अनुसार माधुर्य गुण में ट, ठ, ड और ढ जैसे कर्ण कटु वर्णों को छोड़कर "क" से "म" पर्यन्त के वर्ण अपने –अपने वर्ग के अत्यन्त वर्ण से मिलकर श्रुति मधुर ध्वनि की सृष्टि किया करते हैं। उसी प्रकार असमस्त रचना, अल्प समासवती रचना और मधुर पद योजना से भी माधुर्य की सृष्टि होती है। ओज में कवर्ग आदि वर्गों के प्रथम (क, च, ट, त, प) और तृतीय (ग, ज, ड, द, ब) वर्णों का, उनके अपने–अपने अन्त्य वर्णों, ख, छ, ठ, थ, फ और वर्गों के तृतीय वर्णों के अत्यंत वर्ण (घ, झ, ढ, ध, म) से संयोग नीचे ऊपर अथवा दोनों ओर से किसी वर्ण के साथ संयुक्त रेफ संयुक्त अथवा असंयुक्त ट, ठ, ड और ढ, तालव्य, शकार और मूर्धन्य षकार के साथ संयोग होता है। इसमें दीर्घ समासवती रचना और औद्रत्यपूर्ण पद– योजना का समावेश होता है। विश्वनाथ ने बतलाया है कि प्रसाद के अभिव्यंजन साधन वे शब्द हैं, जिनके अर्थ उनके श्रवण मात्र से झलक उठते हैं।"[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्वोक्त आचार्यों की विचारधारा का समाहार उपस्थित करते हुए कुन्तक ने यह कहा है कि स्पर्श वर्ण अपने–अपने अन्त्य वर्णों से संयुक्त; त, ल तथा न द्विरुक्त प्रस्तुत औचित्य को देखते हुए टकारादि से संयुक्त शेषवर्ण इस प्रकार की वक्रता को प्रकट करते हैं। प्रस्तुत

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद, पृ0 सं0 – 287

मम्मट ने वृत्ति के वे ही तीन भेद माने हैं, जिनकी चर्चा उद्भट ने की है – उपनागरिका, परुषा तथा कोमला। माधुर्य – व्यंजक वर्णों वाली उपनागरिका, ओजः प्रकाशक वर्णों से समन्वित परुषा तथा अवशिष्ट वर्णों वाली कोमला कही जाती है। इस प्रकार गुणों, वृत्तियों तथा रीतियों का समन्वय करते हुए मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि ये तीनों वृत्तियों वामन आदि के मत में क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी, और पांचाली नामक रीतियों मानी जाती हैं। विश्वनाथ में आकर यह चिन्तन पूर्णतया स्वच्छ रूप में उपस्थित होता है। उनके अनुसार माधुर्य गुण में ट, ठ, ड और ढ जैसे कर्ण कटु वर्णों को छोड़कर "क" से "म" पर्यन्त के वर्ण अपने –अपने वर्ग के अत्यन्त वर्ण से मिलकर श्रुति मधुर ध्वनि की सृष्टि किया करते हैं। उसी प्रकार असमस्त रचना, अल्प समासवती रचना और मधुर पद योजना से भी माधुर्य की सृष्टि होती है। ओज में कवर्ग आदि वर्गों के प्रथम (क, च, ट, त, प) और तृतीय (ग, ज, ड, द, ब) वर्णों का, उनके अपने–अपने अन्त्य वर्णों, ख, छ, ठ, थ, फ और वर्गों के तृतीय वर्णों के अत्यंत वर्ण (घ, झ, ढ, ध, म) से संयोग नीचे ऊपर अथवा दोनों ओर से किसी वर्ण के साथ संयुक्त रेफ संयुक्त अथवा असंयुक्त ट, ठ, ड और ढ, तालव्य, शकार और मूर्धन्य षकार के साथ संयोग होता है। इसमें दीर्घ समासवती रचना और औद्रत्यपूर्ण पद– योजना का समावेश होता है। विश्वनाथ ने बतलाया है कि प्रसाद के अभिव्यंजन साधन वे शब्द हैं, जिनके अर्थ उनके श्रवण मात्र से झलक उठते हैं।"[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्वोक्त आचार्यों की विचारधारा का समाहार उपस्थित करते हुए कुन्तक ने यह कहा है कि स्पर्श वर्ण अपने–अपने अन्त्य वर्णों से संयुक्त; त, ल तथा न द्विरुक्त प्रस्तुत औचित्य को देखते हुए टकारादि से संयुक्त शेषवर्ण इस प्रकार की वक्रता को प्रकट करते हैं। प्रस्तुत

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद, पृ0 सं0 – 287

औचित्य की व्याख्या करते हुए स्वयं कुन्तक ने लिखा है कि कहीं–कहीं (वीर, वीभत्स, रौद्र, भयानक आदि) कठोर रसों के प्रसंग में रस के औचित्य से शोभित होने के कारण उसी प्रकार के वर्णों के प्रयोग की अनुमति दी गई है।

अब हम इस वर्ण विन्यास वक्रता का गुप्त जी के काव्य में परीक्षण की ओर प्रवृत्त होते हैं। प्रथम भेद है स्पर्श वर्ण का अपने वर्गान्त से योग। यह योग अपने ही वर्ग के अन्त्य वर्ण से हो सकता है, क्योंकि उच्चारण – शास्त्र की दृष्टि से एक वर्ग के वर्णों का उच्चारण एक ही स्थान से होता है। जैसे क – वर्ग का कंठ से इसलिए अथवा इसी वर्ग के अन्य किसी वर्ण का संयोग ङ. से ही हो सकता है। उसी प्रकार सभी वर्गों के में भी सोचना चाहिए।

1. "भरत! बोले गुरू – भरत, हो शान्त,
   जनक वर के जातवर, कुल कान्त।"[1]
   "त" से संयोग।

2. "खीज उठे तू, रीझ कहूँ मैं रंग हुआ।
   टेरूँ क्यों कर तुझे, मुझे स्वर भंग हुआ।"[2]
   "ग" से।

3. "ये देख के कुछ निमीलित नेत्र काले,
   होंगे मदान्ध सहसा सब दृष्टिवाले।।"[3]
   "ध" से।

---

1. साकेत, सप्तम सर्ग, पृ0 सं0 – 101
2. झंकार, पृ0 सं0 – 80
3. चन्द्रहास, तृतीयांक, पृ0 सं0 – 85

4. "तेरे प्रभु–पंचक से मुझे चिन्त्य पंचशर काम है।"[1]

"च" से।

5. "मुख हिम–बिन्दु से चमकते थे उनके।"[2]

"द" से।

6. "धन्य अयोध्या के आंगन में,

उतर पड़े करके मृदु मन्द्र।"[3]

"द" से।

7. "लेके यह क्षीण लंक लचक मरेगी तू,

ओहो! यह कीर–चंचु, नाको चने चावेगी।"[4]

"क" "च" से संयोग

8. "उठता है सब ओर स–नाद।

गीत वाद्य मय मोदोन्माद।"[5]

"द" से।

9. "वपुल कुटुम्बी वित्त–विहीन

हिन्दू की गतियाँ हैं तीन।"[6]

"ब" से।

10. "ओ क्षण भंगुर भव राम राम।"[7]

"ग" से।

---

1. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 7
2. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 14
3. प्रदक्षिणा, पृ0 सं0 – 10
4. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 20
5. लीला, पृ0 सं0 – 115
6. हिन्दू, पृ0 सं0 – 203
7. यशोधरा, पृ0 सं0 – 15

11. "बह जाय चाहे वित्त सारा नाच–रंग–प्रवाह में।"[1]

"ग" से।

12. "मुनि–बालाएं कन्द – मूल–फल

जब वन में लाती हैं।"[2]

"द" से।

13. "कहाँ किधर तेरे लघु चंचल चरणों के आकार।"[3]

"च" से।

14. "प्रबल–प्रभंजन वेग गति रोकी न जा सकती कहीं।"[4]

"ज" से।

15. गंगा–यमुना–स्फुरित हृदय पर लहर रही थी।"[5]

"ग" से।

16. वे किन्तु रागी भी नहीं। दें प्रेम वश धरना कहीं।"[6]

"त" से।

17. "असुर चौंधयागये देखकर हीरक दन्त–विभास।"[7]

"त" से।

---

1. भारत–भारती, पृ0 सं0 – 144
2. द्वापर, पृ0 सं0 – 150
3. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 24
4. जयद्रथ वध, पंचम, पृ0 सं0 – 52
5. अजित, पृ0 सं0– 83
6. अनघ, पृ0 सं0 – 68
7. शक्ति, पृ0 सं0 – 21

18. "नहीं चाहिए व्यंजन हमको।

मिले क्यों किंवा कन्द।"[1]

"द" से।

19. "छोड़ता है चंचल शर चण्ड।"[2]

"च" से।

20. "यह तो कलंक होगा, "अच्छा, जैतिसिंह से।"[3]

"ल" से।

21. "सघन करौंदी के निकुंज का वहीं रहा विश्राम।"[4]

"क" से।

22. "चल, हम आश्रय लें जब तक हो रजः प्रभंजन शान्त।"[5]

"भ" से।

23. चंचल–जल कल–कल कर मानो,

तान दे रहा है अब भी।"[6]

"च" से।

24. ग्रीवा– भंग – पूर्व तुरंग नाचते।"[7]

"भ" तथा "र" से संयोग।

---

1. अर्जन और विसर्जन, पृ0 सं0 – 28
2. वन वैभव, पृ0 सं0 –26
3. विकट, भट, पृ0 सं0 – 11
4. किसान , पृ0 सं0 – 20
5. पृथिवी पुत्र, पृ0 सं0 – 16
6. पंचवटी, पृ0 सं0 – 11
7. सिद्धराज, प्रथम, पृ0 सं0 – 18

इस संयोग की दृष्टि से यदि गुप्त जी के काव्य का मूल्यांकन किया जाये तो सटीक है, ऐसा प्रतीत होता है कि श्री गुप्त का प्रभाव प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों रूपों में छायावादी कवियों पर पड़ा।

द्विवेदी युगीन अन्य कवियों ने तो अनुनासिक के नाम पर केवल अनुस्वार का ही प्रयोग किया है। आगे त – ल – नाद्य के आधार पर विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

त – ल – नाद्य

इसका दूसरा भेद है तकार, लकार और नकार आदि का द्वित्व रूप में उच्चरित होकर बार-बार निबद्ध होना। इस प्रकार के द्वित्व की प्रकृति संस्कृत भाषा की अपनी विशेषता है, समग्र हिन्दी साहित्य में उसके उदाहरण कम मिलते हैं। गुप्त जी के साहित्य में यत्र-तत्र उदाहरण मिल जाते हैं –

1. "समझ में आया जो कुछ मर्म, उसे कहना था मेरा धर्म।
   न था यह मेरा अपना कृत्य, भर्तु है भर्तु, भृत्य है भृत्य।।"[1]
   "त" की द्वित्व।

2. "मेरे वज्र-कठोर चित्त! अब तो तू शान्त हो, शान्त हो।
   रे रे निर्दय नीच भाव! अब तू निष्क्रान्त – निष्क्रान्त।"[2]
   "त" की द्वित्व।

3. "लोक रुचि भिन्न है, स्वभाव भिन्न होता है।
   किन्तु रूपाधारा तनु जर्जर है आप ही।"[3]
   "न" की द्वित्व।

---

1. साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ0 सं0 – 29
2. चन्द्रहास, पंचम अंक, पृ0 सं0 – 151
3. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 37

4. "न हो न हो हे हिन्दू खिन्न।

सब अभिन्न हैं, मत हो भिन्न।"[1]

"न" की द्वित्व।

5. "निज कार्य अब प्रच्छन्न, देखे प्रकृति अवसन्न।"[2]

"न" की द्विरुक्ति।

6. "उत्थान के पीछे पतन सम्भव सद है सर्वथा,

प्रौढ़त्व के पीछे स्वयं वृद्धत्व होता है यथा।"[3]

"त" की द्वित्व।

7. "पाकर दुर्लभ दर्शन आज। मैं कृत कृत्य हुआ मुनिराज।"[4]

"त" की द्वित्व।

8. "भिन्न विचार हमारे।

समयाचार विभिन्न भिन्न है।"[5]

"न" की द्वित्व।

9. "छिन्न – भिन्न हो गया एक यह अंग हमारा।

वह था सुख का स्वप्न हुआ जो भंग हमारा।।"[6]

"न" की द्वित्व।

गुप्त जी के काव्य में इस तरह के उदाहरण अल्प होते हुए भी समर्थ, सक्षम एवं सशक्त हैं।

---

1. हिन्दू, पृ0 सं0 – 69
2. अनघ, पृ0 सं0 – 8
3. भारत–भारती, पृ0 सं0 – 78
4. लीला, पृ0 सं0 – 101
5. द्वापर, पृ0 सं0 – 37
6. उच्छवास, पृ0 सं0 – 17

शिष्टाश्च रादि संयुक्ता :-

कुन्तक के इस वर्ण विन्यास प्रकार का तीसरा भेद है : शेष वर्णों का र आदि के साथ संयोग। शेष वर्ण है : य, र, ल, व, श, ष, स ह। यथा :-

1. "वाचक! प्रथम सर्वत्र ही "जय जानकी जीवन" कहो,
फिर पूर्वजों के शील की शिक्षा-तरंगों में बहो।"[1]

2. "उछला असुर - हुए शृंड.गों से मेघों के सौ टूक,
मारी जो हुंकार महिष ने उठी प्रलय की हूक।"[2]

3. "वृद्ध जटायु वीर ने खल के
सिर पर उड़ आघात किया।"[3]

4. "नये धर्मियों के कर्मों को
देख हुआ सारा भव भ्रान्त,
शतियों के साम्राज्य हो गये
उनकी गतियों से आक्रान्त।"[4]

5. "भीम यों कहकर वचन यथार्थ,
गये आवेग - सदृश मृगयार्थ।
समझ निश्फल सा निज पुरुषार्थ,
हुए निश्चल भी चश्चल पार्थ।"[5]

---

1. जयद्रथ वध, प्रथम सर्ग, पृ0 सं0 - 3
2. शक्ति, पृ0 सं0 - 15
3. प्रदक्षिणा, पृ0 सं0 - 45
4. अर्जन और विसर्जन, पृ0 सं0 - 20
5. वन वैभव, पृ0 सं0 - 20

6. "क्या तेरी इच्छा–पूर्ति को पा न सकूँगी प्रीति मैं?
विस्मित होती हूँ देख कर, तेरी निस्पृह नीति मैं।"[1]

7. "आँख मूँद कर देख रही थी
मैं तुझको ही प्यारे,
कैसे वर्णन करूँ भाव वे
नटखट, न्यारे न्यारे।"[2]

8. और व्रत पर्व तो हैं पूजा के प्रकार ही,
सुख न हो, मान तो दिया है हमें प्रभु ने।[3]

9. "अपने को इस भाँति समर्पण जो कर देगा,
परम पिता भी उसे ससम्भ्रम उठकर लेगा।"[4]

10. "वर्ण – वर्ण के फूल खिले थे,
झलमल कर हिम बिन्दु झिले थे।"[5]

11. किस भविष्य का द्वार खोलता यह दिन आया!
समय–पूर्व निष्कृति निदेश मैंने क्यों पाया?[6]

12. "चाहे सहधर्मिणी के योग्य नहीं हूँगी मैं,
पानी तो परन्तु एक पात्र भर दूँगी मैं।"[7]

---

1. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 16
2. झंकार, पृ0 सं0 – 137
3. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 86
4. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 95
5. यशोधरा, पृ0 सं0 – 59
6. अजित, पृ0 सं0 – 61
7. पृथिवीपुत्र, पृ0 सं0 – 49

13. "अब जो हरियाली है सो सब
आशा के कारण हैं;
कुसुमितता, वह पूर्वस्मृति की
किये पुलक धारह है।"[1]

14. "एंड्रयूज – पियर्सन विदित नाम हैं उनके,
मनुजोचित मंगल मनस्काम है उनके।"[2]

15. "वे कोमल हैं, किन्तु साथ ही
विदित वीर्य वाले हैं।"[3]

16. "गिर जाय कुछ गंगाम्बु भी अस्पृश्य नाली में कभी,
तो फिर उसे अपवित्र ही बतलायेंगे निश्चय सभी।"[4]

17. "वर्ण–वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के।"[5]

18. "शीतल करूँ हृदय यह अपना,
पाकर दुर्लभ हर्ष – हिलोर।"[6]

19. "शिष्टाचार होने पर पूछा महामन्त्री ने,
निश्चय रहा क्या सन्धि विषयक आपका?"[7]

---

1. द्वापर, पृ0 सं0 – 139
2. किसान, पृ0 सं0 – 41
3. लीला, पृ0 सं0 – 76
4. भारत–भारती, पृ0 सं0 – 133
5. साकेत, नवम् सर्ग., पृ0 सं0 – 134
6. पंचवटी, पृ0 सं0 – 54
7. सिद्धराज, चतुर्थ सर्ग, पृ0 सं0 – 73

20. "सुरभि आक्षेप रहने दो, न अब यह रक्त बहने दो।
करो उपचार, जल लाओ, इन्हें ही ले चलें आओ।"[1]

21. "राष्ट्र – पुरोहित हो वे लोग,
जागे, करें उचित उद्योग।"[2]

22. "दिखलाकर सम्मुख दिव्य कला
जिसने रस – रूप विकास किया।[3]

23. "एक नई सृष्टि हम चाहें तो यहाँ रचें,
तुम पचो हममे व हम तुममें पचें।"[4]

अव्यवहित व्यंजन विन्यास :–

वर्ण विन्यास वक्रता का तीसरा प्रकार वह है, जहाँ बिना व्यवधान के भी एक या एकाधिक व्यंजनों का विन्यास वैशिष्ट्य हृदयावर्जक लगा रहता है।

1. "प्रत्यक्ष पाया प्रभु का प्रसाद है,
सर्वत होता शुभ साधुवाद है।"[5]

2. "पुण्यपाप दोनों को सहैतुक मैं मानती,
कुछ भी सही मैं, किन्तु मेरे भी हृदय है।"[6]

---

1. अनघ, पृ0 सं0 – 98
2. हिन्दू, पृ0 सं0 – 189
3. चन्द्रहास, पृ0 सं0 – 91
4. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 41
5. चन्द्रहास, पृ0 सं0 – 167
6. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 33

3. "साधे सबका योगाक्षेम
पाले प्राणिमात्र का प्रेम
जितक्रोध जो है अनसूय
समझे उसे भागवत तभूय।"[1]

4. "लम्पट, लुब्ध, लवार भी,
जाली, ज्वारी, जार भी।"[2]

5. "बढ़ के तनिक एक टक्कर ले पानी से,
तो क्या वह कण कण होकर न बिखरे?"[3]

6. "प्रेम – पिपासु किसी कान्ता के
तपस्कूप यदि खनते को।"[4]

7. "पटकें मैंने पद – पाणि मोह के नद में,
जन क्या क्या करते नहीं स्वप्न में, मद में?"[5]

8. "हा सम्पदे! सत्ता तुम्हारी है चराचर – गामिनी,
संसार में सारे गुणों की बस तुम्हीं हो स्वामिनी।"[6]

9. "तो फिर क्या और कुछ कौशल या छल है?"[7]

---

1. हिन्दू, पृ0 सं0 – 158
2. अनघा, पृ0 सं0 – 82
3. सिद्धराज द्वितीय सर्ग, पृ0 सं0 – 27
4. पंचवटी, पृ0 सं0 – 21
5. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ0 सं0 – 122
6. भारत – भारती, पृ0 सं0 – 121
7. लीला, पृ0 सं0 – 91

10. "हाय! दल दल से निकलकर हम अनल में जा गिरे।"[1]

11. "पी पीकर मैं इन्हें, भाग्य को
अब भी कैसे कोसूं?"[2]

12. "कभी भू–भ्रमण की इच्छा यदि करे स्वयं सुर – सिद्ध।"[3]

13. "ज्वालाओं से घिरी घूमती – सी जगती थी,
अपनी स्थिति ही अवश अचल मुझकों लगती थी।"[4]

14. "उबटन कर नहलाऊँ तुझको,
खिला पिलाकर पट पहनाऊँ।"[5]

15. "फूलेगा क्या फूल, वृन्त पर झूलेगा क्या?
भूलूँ सब कुछ और, मुझे तू भूलेगा क्या?"[6]

16. "अम्ब, बात क्या है भला इसमें बताने की
पूत्र से भी पूर्व प्रतिपाल्य तुम्हें धर्म हैं।"[7]

17. "हम हार गए कब के रट के,
भव – कूप पड़े घट में लटके।"[8]

---

1. किसान, पृ0 सं0 – 32
2. द्वापर, पृ0 सं0 – 109
3. पृथिवी पुत्र, पृ0 सं0 – 24
4. अजित, पृ0 सं0 – 62
5. यशोधरा, पृ0 सं0 – 68
6. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 95
7. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 64
8. झंकार, पृ0 सं0 – 48

18. "कुछ पुलकित कुछ चकित और कुछ दर्शक शंकित,
नृप विराट युत एक ओर थे छवि में अंकित।"[1]

19. "कोप – कटाक्ष छोड़ता था ज्यों
भृकुटि चढ़ाकर काल कराल।"[2]

20. "शिखा शिवा थी, हरि दावानल, – अरिवन का उन्माद,
लेने लगा स्वयं बढ़ बढ़ कर सभी ओर का स्वाद।"[3]

21. "कर पुण्य – दर्शन भक्त–युत भगवान का निज गेह में,
कृत कृत्यता मानी गिरिश ने मग्न हो सुस्नेह में।"[4]

22. "खग – मृग – मीन नहीं, मानव ही
मुख्यतया मानव का भक्ष्य।"[5]

23. "धैर्य्य धीरों के खोती है।
भींगती और भिंगोती है,
बीज बदले के बोती है।
विषम बैरांकुर पतियों के"[6]

24. "बालवीर, मन्द मन्द धीर गति से धरा
मानो धँसी जा रही थी, वदन गम्भीर था।"[7]

---

1. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 17
2. प्रदक्षिणा, पृ0 सं0 – 67
3. शक्ति, पृ0 सं0 – 13
4. जयद्रथ वध, चतुर्थ सर्ग, पृ0 सं0 – 47
5. अर्जन और विसर्जन, पृ0 सं0 – 23
6. वन वैभव, पृ0 सं0 – 10
7. विकट भट, पृ0 सं0 – 14

दो वर्ण का अव्यवधान :–

श्री गुप्त जी के काव्य में वर्ण विन्यास की दीपमालिका सजी मिलती है। उसकी आभा कभी म्लान नहीं होती है।

1. "मैंने दूर दूर तक सोंचकर देखा है,
सुन सब लोग हाय! हाय करने लगे।"[1]

2. "बाहर बाहर है टीम–टाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!
यह घन तम, सन सन पवन–जाल,
भन भन करता यह काल व्याल।"[2]

3. वन और गगन है विकल चूम– कल कल से,
अब आँगन भाँय भाँय है, करता मारुत साँय साय है।"[3]

4. "बस हाय पैसा! हाय पैसा!! कर हरे हैं वे सभी।"[4]

5. "फिर भी शुभ है राम राम कह आना जाना,
सन सन करके तिमिर – पवन! तुम वृथा न बरजो।"[5]

6. "लाख लाख नक्षत्र नयन नभ खोलकर।"[6]

7. "तू जिसकी यों बार बार कर रही बुराई।"[7]

---

1. विकट भट, पृ0 सं0 – 10–11
2. यशोधरा, पृ0 सं0 – 15–19
3. साकेत, अष्टम सर्ग, दशम सर्ग, पृ0 सं0 – 113–193
4. भारत–भारती, पृ0 सं0 – 143
5. अजित, पृ0 सं0 – 73
6. किसान, पृ0 सं0 – 27
7. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 23

8. "बना आप ही रवि मण्डल – सा
उगल उगल शर – किरण – कलाप।"[1]

9. "मेरे तार तार से तेरी
तान तान का हो विस्तार।"[2]

10. "लड़ लड़ जाते कुछ गंडकों से मुंड जाते।"[3]

11. "रूखा, रूखा, सूखा, भूखा, भूखा देश।"[4]

12. "थे नाचते केकी कहीं थे हंस–पुंज कहीं कहीं,
निर्झर कहीं थे झर रहे थे रम्य कुंज कहीं कहीं।"[5]

13. "सुन पड़ता है दूर मुझे भी उनका जय जयकार,
हा हाकार किन्तु उठता है मेरा हृदय विदार।"[6]

14. "मेरे वज्र कठोर चित्त! अब तो तू शान्त हो, शान्त हो,
रे रे निर्दय नीच भाव, अब तू निष्क्रान्त–निष्क्रान्त हो।"[7]

15. "मन में कैसे कैसे विचार
उठते हैं मेरे बार बार।"[8]

---

1. प्रदक्षिणा, पृ0 सं0 – 66
2. झंकार, पृ0 सं0 – 9
3. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 23
4. पृथिवी पुत्र, पृ0 सं0 – 7
5. जयद्रथ वध, चतुर्थ सर्ग, पृ0 सं0 – 43
6. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 73
7. चन्द्रहास, पृ0 सं0 – 151
8. अनघ, पृ0 सं0 – 73

16. "सुनकर किया महामाया ने मन्द मन्द मृदु हास।"[1]

17. "वीरता इसे नहीं कहते –
कि हम–से पाँच पाँच रहते।"[2]

18. "कौन कौन से फूल खिले हैं,
उन्हें गिनाने लगा समीर
एक एक कर गुन गुन करके,
जुड़ आई भौरों की भीर।।"[3]

19. "नहीं नहीं बन्धु, यह योग्य नहीं हमको।"[4]

20. "हँसते हँसते हमें अचानक रोना होगा।
ऊबेगा जब कभी काम कुछ करते करते,
और उठेगा तुझे ध्यान में धरते धरते।"[5]

21. "भगे स्वयं सब डर डर डर,
हर हर महादेव हर हर।"[6]

22. "जब जब नहीं सँभल पाता यह,
ऊँचे चढ़ नीचे आता रह।
तब तब तू फिर पेंग बढ़कार,
ऊँचा इसे चढ़ाता है।"[7]

---

1. शक्ति, पृ0 सं0 – 20
2. वन वैभव, पृ0 सं0 – 33
3. पंचवटी, पृ0 सं0 – 28
4. अर्जन और विसर्जन, पृ0 सं0 – 12
5. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 101
6. हिन्दू, पृ0 सं0 – 286
7. लीला, पृ0 सं0 – 64

23. "हाथ लम्बे लम्बे और वक्ष चौड़ा चौड़ा है।"[1]

24. "धनी धनी क्या यदि अपना धन
केवल गाड़ धरे वह?"[2]

वर्ण विन्यास वक्रता का एक प्रकार यह भी है जहाँ रस समाहित कवि एक सुकुमार वर्ण की आवृत्ति को छोड़कर दूसरे नये नये सुकुमार वर्णों की आवृत्ति करता चलता है इस प्रकार वर्णों की शोभा में सातत्य स्थापित हो जाता है। एक सुकुमार व्यंजन को रौंदता हुआ दूसरा सुकुमार व्यंजन आता है यह शृंखला अटूट बनी रहती है। डॉ0 सत्यव्रत सिंह का विचार है कि यह वर्ण विन्यास वक्रता उस कवि की कला नहीं जो वृत्यनुप्रास में सिद्धहस्त हुआ करता है यह तो उस कवि के वश में रहा करती है जो रसाभाव समाहित हुआ करता है। सुकुमार विचित्र और मध्यम तीनों मार्गों के अनुयायी कवि माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुणों के अभिव्यंजक वर्ण विन्यास से इस वर्ण विन्यास वक्रता को रंग विरंग भी बना दिया करते हैं। इस प्रकार की वर्ण विन्यास वक्रता के ही आधार पर ही काव्य की उपनागरिका, परुषा और कोमल वृत्तियों की कल्पना की गयी है –

1. चक्कर काट रही है रह रह सुरभि मुग्ध मतवाली।
अम्बर ने गहरी छानी यह भु पर दुगुनी ढाली।"[3]

2. "भ्रमरी, इस मोहन मानस के
सुन मादक हैं रस–भाव सभी,
मधु पीकर और मदान्ध न हो,

---

1. सिद्धराज, चतुर्थ सर्ग, पृ0 सं0 – 67
2. द्वापर, पृ0 सं0 – 117
3. यशोधरा, पृ0 सं0 – 43

उड़ जा बस है अब क्षेम तभी।"[1]

3. "कल–हंस मानो कंज–वन में आ गया लोभित हुआ।"[2]

4. "आकाश द्रवित हो आप धरा को

हरा – भरा करता है,

प्लावित होते हैं सभी, स्वयं वह

बिन्दु मात्र लेता है।"[3]

5. "उड़ते अलि हैं दृग देख तथा

मुँह ही ताकती सुमन स्थलियाँ।

चलती फिरती अवलोक इन्हें

लचतीं ललिता लतिका वलियाँ।"[4]

6. पुलकित, पराग–रंजित समीर,

हो रहा तरंगित तरत्त नीर,

उड़ता है अम्बर में अबीर,

है नया प्रकृति का चारु चीर।"[5]

7. "यह सन्ध्याताप का सहज सुनहला

मुकुट बाँध वृक्षाली,

पथ देख रही है खड़ी सजाये

फल–फूलों की डाली।"[6]

---

1. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 153
2. जयद्रथ वध, तृतीय सर्ग, पृ0 सं0 – 33
3. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 93
4. चन्द्रहास, पृ0 सं0 – 74
5. झंकार, पृ0 सं0 – 154
6. अनघ, पृ0 सं0 – 34

8. "उगा इधर से चन्द्र उधर से कुहरा छाया।"[1]

9. "तोड़ लिये किसने वे तारे इस बीच में,
फूले मणि पद्म थे जो कालिमा की कीच में।
घात कर मानो आप काल काली रात का,
पहन रहा है रक्त धोके पट प्रात का।"[2]

10. "बिजलियाँ चमकीं, बरसा मेह,
तृप्ती ही हूँ मैं हे गुण – गेह।"[3]

11. "खेलो खुलकर सरस बसन्त,
हो जावे अवनति का अन्त।
रूखेखन के सूखे पत्र,
आपने आप झड़ें सर्वत्र।"[4]

12. "खिले तमाल – कदम्ब, मालती –
यूथी – सी फूली है।"[5]

13. "शान्त, ओ गम्भीर! ओ उत्ताल, जल जंजाल!
व्योम तेरी ऊर्मि में, आवर्त्त में पाताल।"[6]

---

1. अजित, पृ0 सं0 – 32
2. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 27
3. वन – वैभव, पृ0 सं0 – 37
4. हिन्दू, पृ0 सं0 – 87
5. लीला, पृ0 सं0 – 85
6. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 79

14. "निर्मल – नीलाकाश हासमय
चमके चन्द्र–विकास में,
दमके कल–जल, गम के थल थल
कोमल – कुसुम – पुवास में।"[1]

2. "है बिखेर देती वसुन्धरा
मोती, सबके सोने पर,
रवि बटोर लेता है उनको
सदा सबेरा होने पर।
ओर विराम दायिनी अपनी
सन्ध्या को दे जाता है,
सून्य श्याम – तनु जिससे उसका
नया रूप छलकाता है।"[2]

नाद सौन्दर्य :–

नाद सौन्दर्य कविता का सार्वकालिक और सार्वदेशिक गुण है। इससे कविता कालजयी बनती है। अनुभूति और वर्ण विन्यास के सामंजस्य का नाम ही नाद सौन्दर्य है। नाद सौन्दर्य का मनोविज्ञान यही है कि वर्ण का अनुरणन एक श्रुति सौन्दर्य की सृष्टि करता है। कविता में इतना ही इष्ट नहीं है उसमें कर्कशता न होने के कारण वह कष्टदायी न हो। यह भी आवश्यक है कि उसके पदों में अर्थ की प्रति ध्वनि हो। जब पश्चिम पवन मन्द मन्द प्रवाहित हो रहा हो तो कोमल वर्ण चाहिए। शान्ति गति सरिता के वर्णन के लिए और भी शान्त छन्द की आवश्यकता है, परन्तु जब भीषण रोर करती हुई तुमुल तरंगे तट से टकरा रही हों तब उत्कट उद्धत वर्णों

---

1. द्वापर, पृ0 सं0 – 53
2. पंचवटी, पृ0 सं0 – 7

को प्रवाह की भाँति ही गर्जना करनी चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि जिस प्रकार मूर्त्त विधान के लिए कविता चित्र विधा की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद सौष्ठव के लिए वह संगीत का कुछ कुछ सहारा लेती है। नाद सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है ताड़पत्र, भोज पत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक जिह्वा पर नाचती रहती है।

नाद सौन्दर्य की दृष्टि से श्री गुप्त जी के साहित्य का विवेचन करने पर एक बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि नाद सौन्दर्य का मर्म पद पद पर महसूस किया जा सकता है।

1. "सखि, निरख नदी की धारा,
ढलमल ढलमल चंचल अंचल झलमल झलमल तारा।
उछल उछल कर छल छल करके
थल थल तरके, कल कल धरके बिखरता है पारा।
टप टप गिरते थे अश्रु नीचे निशा में,
झड़ झड़ पड़ते थे तुच्छ तारे दिशा में।"[1]

2. करता घनाघन गगन में निर्घोष अति गम्भीर ज्यों।"[2]

3. "यह घन तम सन सन पवन जाल,
भन भन करता यह काल व्याल।"[3]

4. चंचल – जल कल – कल कर मानो
तान दे रहा है अब भी।

---

1. साकेत, नवम् सर्ग, दशम सर्ग, पृ0 सं0 – 155–195
2. जयद्रथ वध, प्रथम सर्ग, पृ0 सं0 – 5
3. यशोधरा, पृ0 सं0 – 19

एक एक कर गुन गुन करके
जुड़ आई भौरों की भीर।"[1]

5\. "रात मच्छरों का उत्पात
दिन में भिन भिन घिन घिन–घात।"[2]

6\. "करता समीर था साँय – साँय,
लगता था भूतल भाँय – भाँय।"[3]

7\. भाँय भाँय कर उठा किन्तु वन
निज लक्ष्मी खो जाने से।"[4]

8\. "तुम हँसती हो पर है मेरी
छाती धक – धक करती।"[5]

9\. "झर – झर आँसू बह उठे भर भर लाये मेह,
हर – हर में कहले लगी थर – थर काँपी देह।"[6]

10\. "गूँगे की गों – गों गुंजार,
कौन सुनेगा धीरज – धार।"[7]

11\. जिधर देखो झाँ झाँ, भाँ भाँ है,
सुनाई पड़ती बस साँ साँ है।"[8]

---

1. पंचवटी, पृ0 सं0 – 11–28
2. हिन्दू, पृ0 सं0 – 206
3. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 20
4. प्रदक्षिणा, पृ0 सं0 – 44
5. लीला, पृ0 सं0 – 74
6. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 35
7. झंकार पृ0 सं0 – 79
8. अनघ, पृ0 सं0 – 21–22

12. "मध्य मार्ग में सुनी अचानक मैंने धाँ आँ,
हाय गाय – सी वनस्थली की व्याकुल बाँ आँ।"[1]

13. "सन सन पवन सून्य में चलती, धरा धूप से जलती थी।"[2]

14. "बस हाड़ों की चड़ मड़ हुई यों वह उद्धत हत हुआ।"[3]

15. "भीरू और अबला–सी रीं रीं कर बोलेगी।"[4]

16. "थप्पड़ मार मार फिर तड़ तड़ तोड़े जड़ के प्राण।"[5]

17. हाथों में विशाल शूल चम चम होते थे,
झनन झनन नाद हो रहा था रथ का।"[6]

18. "टूट गये बन्धन तड़ाक, किन्तु वेग था,
सँभला न मस्तक, भड़ाक हुआ भीत में।"[7]

19. "भूल जायगा नाच–कूद सब
धरी रहेगी धा – धा।

---

1. अजित, पृ0 सं0 – 97
2. किसान, पृ0 सं0 – 13
3. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 40
4. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 20
5. शक्ति, पृ0 सं0 – 14
6. सिद्धराज, प्रथम सर्ग, पृ0 सं0 – 18
7. विकट भट, पृ0 सं0 – 6

ताक रहीं बाँ बाँ कर गायें
इधर – उधर रुक कर।"[1]

रेखांकित वर्षों में उच्च कोटि का नाद सौन्दर्य है। कुन्तक काव्य वस्तु के औचित्य में ही व्यंजन के सौन्दर्य की सार्थकता देखते हैं, वर्ण विन्यास की सार्थकता इसी में हैं कि भावानुरूप हो, ऐसा गुप्त जी के काव्य में है।

श्री गुप्त जी का वर्ण विन्यास कला प्रसादन क्षमता से युक्त है।

---

1. द्वापर, पृ0 सं0 – 19–97

चतुर्थ अध्याय

आलोच्य कवि के काव्य में पद पूर्वार्द्ध वक्रता

श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में पद पूर्वार्ध – वक्रता

वर्णों के उपरान्त काव्य का दूसरा अवयव पद है। वर्णों के समुच्य से शब्द बनता है। किन्तु वही शब्द सुबन्ध या तिड.न्त होने पर पद कहलाता है। पदों के स्पष्टतः दो भाग होते हैं – प्रकृति और प्रत्यय। इसी आधार पर कुन्तक ने पद में दो प्रकार की वक्रताएं स्वीकृत की हैं। पद के प्रारम्भ में निवास करने वाली वक्रता पद पूर्वार्ध – वक्रता कहलाती है और उत्तर में निवास करने वाली वक्रता पदपरार्ध वक्रता कहलाती है। प्रकृति के भी दो प्रकार होते हैं – (1) प्रातिपदिक और (2) धातु। सुबन्त का पद पूर्वाध प्रातिपदिक और तिड.न्त का धातु कहा जाता है। पदपूर्वार्ध व्रकता से तात्पर्य प्रातिपदिक तथा धातु की वक्रता से है।

1. **रूढ़िवैचित्र्य वक्रता :–** पदपूर्वार्ध वक्रता का पहला भेद है, रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता। जहाँ लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसा का कथन करने के अभिप्राय से वाच्य अर्थ की रूढ़ि से असम्भव अर्थ का अध्यारोप अथवा उत्तम धर्म के अतिशय का आरोप गर्भित रूप में कहा जाता है, वह कोई अपूर्व सौन्दर्याधायक रूढ़िवैचित्र्य वक्रता कही जाती है। यह वक्रता रूढ़ि के वैचित्र्य पर आश्रित है। शब्द के नियत बोधकत्व रूप धर्म विशेष को रूढ़ि कहते हैं। अर्थ विशेष पर रोहण करना रूढ़ि है – शब्दस्य नियतवृत्तिता नाम कश्चिद् धर्मो रूढ़िरुच्यते। रोहणं रूढ़िरिति कृत्वा रूढ़ि शब्द की इस प्रकार की वक्रता अथवा रमणीयता रूढ़िवैचित्र्य वक्रता कहलाती है। कुन्तक का तात्पर्य यह है कि सामान्य मात्र संस्पर्शी शब्दों से अभिधा शक्ति के द्वारा विशेष अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है। उसके लिए व्यंजना आदि विशेष उपाय का अवलम्बन करना होगा। **"प्रतीयते"** क्रिया से भी यही व्यंजित होता है कि इस प्रकार के

उदाहरणों में शब्दों का अभिधा व्यापार नहीं होता है, अपितु अन्य वस्तु के व्यंजकत्व रूप से ही शब्दों का व्यापार होता है। ध्वनिकार के "अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य" तथा "अर्थान्तर संक्रमति वाच्य" रूप ध्वनि भेदों को कुन्तक ने रूढ़िवैचित्र्य वक्रता के **"असम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भ"** तथा **"सद्धर्मातिशपाध्यारोपगर्भता"** में अंतर्भुक्त किया है।

इस वक्रता की प्रेरणा है लोकोत्तर तिरस्कार या प्रशंसा का कथन करना। इसी से असम्भाव्य अर्थ का अध्यारोप किया जाता है। कोश के शब्द निर्जीव और रूढ़ होते हैं। जब उनमें लोकोत्तर तिरस्कार या प्रशंसा के कथन के कारण अर्थ में विक्षोभ उत्पन्न होता है, तब वे काव्य का शब्द बनते हैं। अतः वक्रोक्ति की आधर भित्ति अत्यन्त मनोवैज्ञानिक सिद्ध होती है। उसका लक्ष्य चमत्कार उत्पन्न करना नहीं है। चमत्कार तो स्वयं मनोविज्ञान की कुक्षि से फूटता है। कविता का शब्द जब तक नियत सामान्य रहता है, तब तक उसमें किसी चमत्कार का समावेश नहीं होता है। चमत्कार उसमें तब आता है, जब वह नियत विशेष का द्योतित करने लगता है। रूढ़िवैचित्र्य वक्रता वास्तव में संज्ञा शब्दों की वक्रता है –

1. "निरख सखी, ये खंजन आये।

फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये।"[1]

यहाँ पर खंजन शरद एवं लक्ष्मण के लिए रूढ़ है।

2. "जो सहचरी का पद मुझे तुमने दया कर था दिया।"[2]

यहाँ पर सहचरी सहधर्मिणी के लिए रूढ़ है।

3. "रमणी की सूरत मनोज्ञ थी

किन्तु न थी सूरत भोली।"[3]

---

1. साकेत, नवम् सर्ग, पृ० सं० – 152
2. जयद्रथ वध द्वितीय सर्ग, पृ० सं० – 18
3. पंचवटी, पृ० सं० – 17

रमणी की सुन्दरता रूढ़ है।

4. "आलि, कर्त्तरी ला, मैंने क्या पाले काले व्याल?"[1]

यहाँ पर बाल सर्प के लिए रूढ़ है।

5. "विषप्रयोगी भिषक सदर्प

धरें न गारूड़ीक सम सर्प।"[2]

यहाँ सर्प विष के लिए रूढ़ है।

6. "माँ ने रक्तस्नान किया सिर फोड़कर।"[3]

रक्त स्नान विलाप के लिए रूढ़ है।

7. "बाधाओं के भीतर ही तो

कार्य–सिद्धि करती है वास।"[4]

बाधाएं कार्य सिद्धि के लिए रूढ़ है।

8. "यही नहीं, उनकी महिमा से

शिला बनी सुकुमारी।"[5]

यहाँ पर शिला अहिल्या के लिए रूढ़ है।

9. "नहीं केश छाया तक सिर पर, मृदु पद कंटक –विद्ध।"[6]

कांटा छाया के लिए रूढ़ है।

10. "तेरे प्रेम–पारावार में रत्न ही रत्न है।"[7]

समुद्र प्रेम के लिए रूढ़ है।

---

1. यशोधरा, पृ0 सं0 – 34
2. हिन्दू, पृ0 सं0 – 14 7
3. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 63
4. प्रदक्षिणा, पृ0 सं0 – 52
5. लीला, पृ0 सं0 – 77
6. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 73
7. चन्द्रहास, पृ0 सं0 – 81

11. "यह लो, तिल तिल तलस्नेह से,

दीपक मैंने जला दिया।"[1]

घी प्रेम के लिए रूढ़ है।

12. "मातृ–रूपिणी स्त्रियाँ जहाँ है।"[2]

स्त्रियाँ माता के लिए रूढ़ है।

13. "भारत स्वकीय सुहाग भी परकीय करके खो चुका।"[3]

यहाँ पर सुहाग विदेशीपन के लिए रूढ़ है।

14. "मिला बावना ताल, लिया उसने निज मन भर।"[4]

बावना संख्या वाचक होते हुए भी जमीन के लिए रूढ़ है।

15. "आँगन में यम–मूर्ति यामिनी आ गई।"[5]

रात यम के लिए रूढ़ है।

16. "फँसते हैं कीचक सम स्वयं मनुजाधम यम–पाश में।"[6]

कीचक दुष्टता के लिए रूढ़ है।

17. "मानस का हंस कहाँ जाय कुछ चुगने।"[7]

मन हंस के लिए रूढ़ है।

---

1. झंकार, पृ0 सं0 – 147
2. अनघ, पृ0 सं0 – 53
3. भारत भारती, पृ0 सं0 – 113
4. अजित, पृ0 सं0 – 61
5. किसान, पृ0 सं0 – 27
6. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 4
7. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 18

18. "अप्सराएँ पुष्करिणी – सी।"[1]

अप्सराएँ कमलनी के लिए रूढ़ है।

19. "ओठों से हटाके रिक्त स्वर्ण–सुरा–पात्र को।"[2]

पात्र शराब के लिए रूढ़ है।

20. "होगी रक्त पीकर ही तृप्त उसकी तृषा।"[3]

प्यास सन्तुष्ट के लिए रूढ़ है।

21. "फोड़ दूँगा दम्भ का तुम्हारा अघ – कुम्भ मैं।"[4]

अभिमान घड़े के रूप में रूढ़ है।

22. "मग्न अथाह प्रेम सागर में
मेरा मानस हंस हरे।"[5]

मन हंस के लिए रूढ़ है।

नियत सामान्य बोधकत्व :–

नियत सामान्य बोधकत्व वस्तुतः व्यक्ति वाचकेतर संज्ञाएं हैं। गुप्त जी की कविता में इनका कोई अभाव नहीं है –

---

1. वन वैभव, पृ0 सं0 – 24
2. विकट भट, पृ0 सं0 – 3
3. अर्जन और विसर्जन, पृ0 सं0 – 11
4. सिद्धराज, द्वितीय सर्ग, पृ0 सं0 – 24
5. द्वापर, पृ0 सं0 – 13

1. "वेदने तू भी भली बनी।

पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।"[1]

वेदना भाववाचक संज्ञा है सामान्य अर्थ में पीड़ा का बोधक है किन्तु गुप्त जी ने लोकोत्तर प्रशंसा के कथन के लिए वेदना को अच्छा बताया है। निम्न उदाहरण इसी सन्दर्भ में है।

"विरह संग अभिसार भी

भार जहाँ आभार भी।"

2. "जिये जल जलकर काया री!

मरण सुन्दर बन आया री।"[2]

यहाँ पर मृत्यु की प्रशंसा।

3. "इस विषाद में वही हर्ष क्या नहीं मिला है।"[3]

यहाँ पर दुख की प्रशंसा।

4. "विष बरसाती हुई बाँसुरी

हाँ, पीयूष पिलाती,

मार मार फिर मारण कारण

बारम्बार जिलाती।"[4]

विष की प्रशंसा।

5. "हाय! मैं छली गई हूँ छिपकर भागे वे।"[5]

जाने की प्रशंसा।

---

1. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 141
2. यशोधरा, पृ0 सं0 – 40
3. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 96
4. झंकार, पृ0 सं0 – 163
5. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 47

6. "इसका रोग असाध्य, मरण ही अब मंगल है।"[1]

मृत्यु की प्रशंसा।

7. "करने में तो मरने में भी

है कल्याण स्वयं ही।"[2]

मरने की प्रशंसा।

8. "प्रेम तो पराजय भी भोगता है जय–सी,

सच्चा योग उसका वियोग में ही होता है।"[3]

पराजय की प्रशंसा।

9. "साधु जनों की कहाँ न साख,

हममें हैं वे बावन लाख।"[4]

साधु जनों की प्रशंसा।

10. "अजी, वह समदर्शी बनता है,

उच्च हो नीचों में सनता है।

यही तो सदाचार है उसका,

जाति पर कहाँ प्यार है उसका।"[5]

ब्याज स्तुति द्वारा प्रशंसा।

11. "तो तू अपने को भले शूर्पणखा मान ले[6]

लाक्षिणकता से प्रशंसा।

---

1. अजित, पृ0 सं0 – 44
2. द्वापर, पृ0 सं0 – 36
3. सिद्धराज, तृतीय सर्ग, पृ0 सं0– 54
4. हिन्दू, पृ0 सं0 – 189
5. अनघ, पृ0 सं0 – 18
6. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 15

12. "जीवन रहते विवश मृत्यु को जगा रहा है देखो।"[1]

मृत्यु की प्रशंसा।

पर्याय वक्रता :– पद पूर्वार्ध वक्रता का दूसरा भेद है पर्याय वक्रता। समान अर्थ वाले संज्ञा शब्द को पर्याय कहते हैं। प्रत्येक भाषा में शब्द के अनेक पर्याय – समान अर्थ वाचक शब्द रहते हैं। सामान्य पाठकों की दृष्टि में ये सब समान अर्थ के द्योतक होते हैं। कोश में भी वे पयार्य ही समझे जाते हैं किन्तु क वि की सूक्ष्म दृष्टि में शब्द पर्यायवाची नहीं होते हैं। प्रत्येक शब्द वस्तु के किसी विशिष्ट स्वरूप या लक्षण का ही प्रतिपादन करता है। जिसे हम हिन्दी के आदमी शब्द को ही लें। पुरुष, मनुष्य आदि इसी के पर्याय हैं। कविता की बात हम छोड़ दें, साधारण बातचीत में भी "आदमी" का काम पुरुष या मनुष्य से नहीं चल सकता है। शैली का सौन्दर्य दो प्रकार से होता है। एक तो प्रत्येक शब्द का सौन्दर्य अलग–अलग होता है और दूसरा, उनके आपसी विन्यास में। शब्द का प्रयोग भी दो ढंग से होता है। एक तो वे वस्तु की यथातथ्य संज्ञाएं होती हैं और दूसरी उनका प्रयोग उपचार से होता है। यथातथ्य संज्ञाओं के प्रयोग में ही कवि की उपयुक्त पर्याय के चयन की कला का परिचय देना होता है। शब्द चयन का यह कार्य कवि चेतना के सबसे जाग्रत धरातल पर करता है और उसकी परख की कसौटी यही है। एक भाव की खिड़की से शब्दों की कितनी फुहार आती है, लेकिन कवि किसी एक फुहार से ही अपनी भाषा को सींचता है। शब्दों को सूँघकर परखने की शक्ति प्रतिभाशाली कवि में ही होनी चाहिए। ऐसा कवि यह जानता है कि कोई भी शब्द पर्यायवाची नहीं होता, हर शब्द की अपनी आत्मा होती है। अपना वातावरण होता है। उसकी प्रतिभा की पहचान यह है कि वह उपयुक्त शब्द को चुन ले। पर्याय वक्रता वस्तुतः सुष्ठु अभिव्यक्ति की ही खोज है।

---

1. किसान, पृ0 सं0 – 37

श्री गुप्त जी को पर्याय वक्रता के प्रयोग में पूरी सिद्धि प्राप्त है –

1. "सखि, मेरी धरती के करुणांकुर ही वियोग सेता है,
यह ओषधीश उनको स्वकरों से अस्थिसार देता है।"[1]

उर्मिला विरह वियोगिनी है, अतः चतुर्दिक करुणा की बात सोंचती है। इसी कारण पृथ्वी को करुणांकुर कहा है।

2. "हे जीवितेश! उठो, उठो, यह नींद कैसी घोर है,
है क्या तुम्हारे योग्य, यह तो भूमि–सेज कठोर है।"[2]

नींद यहाँ मृत्यु का पर्याय है। उत्तरा पृथ्वी को कठोर बताती है।

3. "अपने आप तपे तापों से
तू न तनिक भी शान्ति पाय?
बोल युवक, क्या इसीलिए है
यह यौवन अनमोल हाय।"[3]

यहाँ पर यौवन ताप का पर्याय है।

4. "थी अत्यन्त अतृप्त वासना
दीर्घ दृगों से झलक रही,
कमलों की मकरन्द–मधुरिमा
मानो छवि से छलक रही।"[4]

यहाँ पर अतृप्त वासना मकरन्द का पर्याय है।

5. "भय न रहे विध्नों के बीच,
उड़े नीचता का मारीच।

---

1. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 154
2. जयद्रथ वध, द्वितीय सर्ग, पृ0 सं0 – 20
3. यशोधरा, पृ0 सं0 – 12
4. पंचवटी, पृ0 सं0 – 16

टूटे कुग्रह–केत–सुबाहु,

टूटे निज कुल–रवि का राहु।"[1]

यहाँ पर नीचता मारीच का पर्याय है।

6. "केवल कराल कांटे है छोड़ता यहाँ तू,

यह रीति है निराली।"[2]

यहाँ पर काँटे दुख का प्रतीक है।

7. "काल–फणी की मणि पर जिसने

फैलाया है अपना हाथ।"[3]

यहाँ पर मणि शोक का पर्याय है।

8. "हिलुर गई है अहा! पद्मिनी,

मानो मधुप उड़े हैं।"[4]

यहाँ पर मधुप पुरुष का पर्याय है।

9. "हाय! मैं छली गई हूँ, छिपकर भागे वे,

जागकर आप यहाँ मुझको सुला गये।"[5]

यहाँ पर सोना सुख क्षणों का पर्याय है।

10. "मधु पीकर और मदान्ध न हो

उजड़ा अब है कुशलत्व तभी।"[6]

मधु पीकर मदान्ध होना कितना स्वाभाविक है।

---

1. हिन्दू, पृ0 सं0 – 90
2. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 52
3. प्रदक्षिणा, पृ0 सं0 – 48
4. लीला, पृ0 सं0 – 86
5. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 47
6. चन्द्रहास, पृ0 सं0 – 88

11. "तुम चित्त चुरा कर जो चटके,
रस गोरस लूट कहीं सटके।"[1]

यहाँ रस आनन्द प्रेम का पर्याय है।

12. "मानो मधुप पराग सने,
उस अम्बुज के रसिक बने।"[2]

यहाँ प्रेम का पर्याय है।

13. "जिनकी अपूर्व सुगन्धि से इन्द्रिय मधुपगण थे हिले,
सद्भाव–सरसिज वर जहाँ पर नित्य रहते थे खिले।"[3]

यहाँ पर कमल सद्भाव का पर्याय है।

14. "सुध में जाकर कौन आज थी मुझे दुखाती,
ऋतुस्नान कर खड़ी धूप में केश सुखाती।"[4]

यहाँ पर ऋतुस्नान संयोग आमन्त्रण का पर्याय है।

15. "काली छाया डाल चुका था मुँह के ऊपर काल,
पुत्र देख सखता है कैसे जननी का यह हाल।"[5]

यहाँ पर काली छाया मृत्यु का पर्याय है।

16. "देख भीम का भीम कर्म भीमाकृति भारी।"[6]

यहाँ पर भीम कर्म भयंकरता का पर्याय है।

---

1. झंकार, पृ0 सं0 – 48
2. अनघ, पृ0 सं0 – 26
3. भारत–भारती, पृ0 सं0 – 16
4. अजित, पृ0 सं0 – 64
5. किसान, पृ0 सं0 – 20
6. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 40

17. "स्त्री का गुण रूप में है और कुल शील में,
पद्मिनी की पंकजता डूबे किसी झील में।"[1]

यहाँ पर पंकजता लज्जाशील भावना का पर्याय है।

18. "बचकर दीपों के प्रकाश से,
दूर दूर भी, चारों ओर,
सिमिट घेर उस खुली सभा को,
तिमिर हो उठा था घन घोर।"[2]

यहाँ पर तिमिर संकट का पर्याय है।

19. "दूर मधुप को भी पराग निज
पहुँचा दिया कुसुम ने।"[3]

यहाँ पर कुसुम प्रिया का पर्याय है।

20. औरों से अधिक रवि–चन्द्र भी हैं उनके,
ऋतुएँ है और वहाँ उत्सव हैं उनके।"[4]

यहाँ पर रवि–चन्द्र सैन्य बल का पर्याय है।

विशेषण वक्रता :– विशेषणों का सौन्दर्य श्रेष्ठ कविता की एक बहुत बड़ी विशेषता है। उसका बहुत कुछ सौन्दर्य विशेषणों के प्रयोग पर निर्भर करता है, और इसीकारण विशेषण–वक्रता का महत्त्व अधिक बढ़ जाता है। छोटे से विशेषण से बहुत बड़े वाक्य में कही जाने योग्य बात भी कही जा सकती है। उचित विशेषण का निर्वाचन सच्चे लेखक की कला की कसौटी है। वाक्य विन्यास

---

1. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 28
2. अर्जन और विसर्जन, पृ0 सं0 – 21
3. द्वापर, पृ0 सं0 – 26
4. सिद्धराज, पंचम सर्ग, पृ0 सं0 – 80

में विशेषण के बैठने की अदा का बड़ा ही अमोघ प्रभाव हुआ करता है।

कुन्तक के अनुसार जहाँ विशेषण के माहात्म्य या प्रभाव से क्रिया अथवा कारक का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है, वह विशेषण वक्रता कहलाती है। अपने मूल रूप में विशेषण एक व्याकरणिक कोटि है। "विशेषणों का प्रयोग दो प्रकार से होता है – एक विशेष्य के साथ और दूसरा क्रिया के साथ।" किन्तु काव्य में विशेषण की व्याकरणिक कोटि से ऊपर उठकर संचरण करने पर ही सार्थकता प्राप्त होती है। स्वयं कुन्तक कहते हैं कि जिसके द्वारा अपने माहात्म्य से रस, वस्तुओं के स्वभाव और अलंकार लोकोत्तर सौन्दर्य बनाये जा सकते हों उसी को विशेषण कहना चाहिए। यानी विशेषण काव्य में वस्तु तत्त्व और रूप तत्त्व दोनों के उत्कर्ष का विधायक होता है।

ऐसा ही विशेषण, जैसा कि कुन्तक बतलाते हैं; प्रस्तुत औचित्य के अनुसार समस्त उत्तम काव्यों का जीवन प्रतीत होता है। यह औचित्य ही मुख्य चीज है। विशेषणों के प्रयोग में विशेष सावधानी अपेक्षित होती है। प्रसंग तथा प्रस्तुत विषय की ही पुष्टि करने वाले विशेषणों का प्रयोग औचित्यपूर्ण होता है। क्षेमेन्द्र के अनुसार – "समुचित विशेषणों से युक्त विशेष्य इस प्रकार होता है जैसे अत्यधिक गुणों से युक्त सुहृदों से गुणी सज्जन की शोभा होती है।

विशेषणों की महिमा कविता में तब सिद्ध होती है, जब वे वाक्य में पूरी तरह गूँजते हैं। उनकी ध्वनि दूर–दूर तक जानी चाहिए। महिमभट्ट ने लिखा है, जो विशेषण एकमात्र विशेष्य के स्वरूप का ज्ञान कराता हो, वह निःसार होता है। वे यह भी कहते हैं कि जिसका अर्थ सामने न आता हो- जो एक प्रकार से प्रतिभा–शून्यता के कारण आ गया हो, उसका कदापि प्रयोग नहीं करना चाहिए। उनके अनुसार ऐसे विशेषणों का प्रयोग अवाच्य वचन दोष से युक्त होता है। वह केवल छन्दः पूर्ति मात्र के काम का होता है, इससे कवित्व सिद्ध नहीं होता।

1. "आज नरपति का महासंस्कार, उमड़ने दो लोक–पारावार।
है महायात्रा यही, इस हेतु, फहरने दो आज सौ सौ केतु।"[1]

2. "निज तात का मैं हित करूँगा विमल यश विस्तार के।"[2]

3. "देख कराल काल–सा जिसको काँप उठे भय से,
गिरे प्रतिद्वन्दी नन्दार्जुन, नागदत्त जिसह्य से।"[3]

4. "एक राज्य का मूढ़ जगत ने
कितना महा मूल्य रक्खा।"[4]

5. "तुममें है उनका ही रक्त
जो थे सच्चे शूर सशक्त।
जिनका बल – विक्रम – उत्साह
था अथाह ज्यों महा प्रवाह।"[5]

6. "देख माधुरी तेरी टपकी क्रूर काल की लार,
भूल गये उसको वे अगणित बड़े–बड़े आहार।"[6]

7. "पच सकती है रश्मि राशि क्या
महा ग्रास के तम से भी।"[7]

8. "नीर चीर कर तदपि पहुँचता तीर है।
घना घात भी सहज झेलता हीर है।"[8]

---

1. साकेत, सप्तम सर्ग, पृ0 सं0 – 99
2. जयद्रथ वध, प्रथम सर्ग, पृ0 सं0 – 6
3. यशोधरा, पृ0 सं0 – 37
4. पंचवटी, पृ0 सं0 – 9
5. हिन्दू, पृ0 सं0 – 28
6. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 24
7. प्रदक्षिणा, पृ0 सं0 – 48
8. लीला, पृ0 सं0 – 35

9. "रोकती तू क्षोभ कैसे मेरी महा मानिनी।"[1]

10. "क्या छोड़ते हैं व्रत को विवेकी,
निवाहते हैं निज टेक टेकी।
जो मञ्जु मुक्ताफल भोज पाते
भला कहीं हंस चने चबाते।"[2]

11. "ठहरो, समक्ष ही तो क्षुब्ध पारावार है,
करना उसे ही अरे! आज मुझे पार है।"[3]

12. "जगी, देख माँ का यह हाल,
आँखों में द्रुत विद्युज्जवाल।"[4]

13. "धिक्कार है, हम खो चुके हैं आज अपना ज्ञान भी,
खोकर सभी कुछ अन्त में खोया महाधन मान भी।"[5]

14. "परम्परा भी यहाँ कहाँ रह पाती सम है,
उत्तम कुल में प्रकट अचानक महा अधम है।"[6]

15. "हा! सुकाल भी आज दुरन्त दुकाल हुए हैं।"[7]

16. "बन जाते हैं कुटिल वचन भी कैसे भोले।"[8]

---

1. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 48
2. चन्द्रहास, पृ0 सं0 – 139
3. झंकार, पृ0 सं0 – 34
4. अनघ, पृ0 सं0 – 48
5. भारत–भारती, पृ0 सं0 – 133
6. अजित, पृ0 सं0 – 59
7. किसान, पृ0 सं0 – 7
8. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 24

17. "छूटी चिनगारियाँ – सी वार वार वारों से
सारा वन गूँज उठा दारुण हुँकारों से।"[1]

18. "पड़े महा ज्वाला के ऊपर जैसे सूखा पत्र।"[2]

19. "गिरा कर सु – गुरू गदा की गाज,
चुका लुँगा सब बदला आज।"[3]

20. "बिजली की बेटी वह? भौंह महा काल की?
शत्रु के चबाने को कराल डाढ़ यम की?"[4]

21. "जीवन में, मन के महान विनिमय के।"[5]

22. "जन्म–भूमि–रक्षा–हेतु किन्तु महा काल ने
अपना प्रसाद दिया आज यहाँ मुझको।"[6]

23. "ब्राह्मणों ने माना एक पाप महायंत्रों को।"[7]

24. "नभ में नव्य नीलिमा, नूतन हरियाली भूतल में।"[8]

रेखांकित पंक्तियों में विशेषण वक्रता है।

---

1. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 22
2. शक्ति, पृ0 सं0 – 8
3. वन – वैभव, पृ0 सं0 – 13
4. विकट भट, पृ0 सं0 – 15
5. अर्जन और विसर्जन, पृ0 सं0 – 4
6. सिद्धराज, पृ0 सं0 – 35
7. पृथिवी पुत्र, पृ0 सं0 – 41
8. द्वापर, पृ0 सं0 – 133

विशेषण विपर्यय :–

विशेषण के क्षेत्र में यह कलात्मक व्यतिक्रम विशेषण विपर्यय के रूप में उपस्थित हुआ। किसी विशेष्य से स्वभावतः सम्बन्धित विशेषण को किसी दूसरे विशेष्य के साथ जोड़ना ही विशेषण विपर्यय है। इसके मनोविज्ञान की मीमांसा करते हुए डॉ0 नामवर सिंह लिखते हैं – "भावावेग में वचन अपने आप बंकिम हो उठते हैं और विशेषण उलट–पलट जाते हैं। एक विशेषण जिसे विशेषता के लिए रूढ़ है उसका प्रयोग प्रायः किसी अन्य विशेषता के लिए हो जाता है। निःसन्देह विशेषणों के इस विपर्यय में भावावेग के साथ ही कल्पना का बहुत अधिक हाथ रहता है। जमीन आसमान के कुलाबे मिलाना कल्पना का ही काम है, कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा से भानुमती के कुनबा जुड़े या नहीं, लेकिन कल्पना अवश्य जोड़ती है। एक विशेषण को उठाकर दूसरी जगह रख आने का साहस कल्पना के ही बूते का है। श्री गुप्त जी के काव्य में विशेषण विपर्यय का चमत्कार निखरा है।

1. "निकल गई चुपचार निशा अभिसारिका,
पढ़ी द्विजों ने बोधमयी कल कारिका।"[1]

यहाँ पर विशेषण को बाद में रखा गया है।

2. "कहती हुई बहु भाँति यों ही भारती करुणामयी,
फिर भी हुई मूर्च्छित अहो वह दुःखिनी विधवा नई।"[2]

यहाँ पर विशेषण को बाद में रखा गया है।

3. "मरण सुन्दर बन आया री!
शरण मेरे मन भाया री!"[3]

यहाँ पर सुन्दर विशेषण को बाद में रखा गया है।

---

1. साकेत, पंचम सर्ग, पृ0 सं0 – 69
2. जयद्रथ वध, द्वितीय सर्ग, पृ0 सं0 – 22
3. यशोधरा, पृ0 सं0 – 39

4. "क्लीव अनुष्ण अलस अविनीत,
शंका – शील लोक–रथ – भीत
देखा करते हैं बस बाट,
उन्हें चाट जाती है खाट।"[1]

यहाँ पर विशेषण बाद में रखा गया है।

5. "उगल उठी फिर वह विषाद–विष,
खुली मृत्यु की लट काली।"[2]

यहाँ पर काली विशेषण को बाद में रखा गया है।

6. "इससे पुरुषों की निर्ममता
होती क्या प्रतिभात नहीं?"[3]

यहाँ पर निर्ममता विशेषण को बाद में रखा गया है।

7. "क्या कौमुदी, क्या मणि–मञ्जुमाला,
है काँपती दीप–शिखा विशाला।
जो सामने हो यह दिव्य बाला,
तो अन्ध भी देख उठें उजाला।"[4]

यहाँ पर पुरुष विशाला विशेषण को बाद में रखा गया है।

8. "पुरुष पुरातन बन जा फिर तू,
वही बाल गोपाल हरे।"[5]

पुरातन विशेषण को बाद में रखा गया है।

---

1. हिन्दू, पृ0 सं0 – 237
2. उच्छ्‌वास, पृ0 सं0 – 36
3. पंचवटी, पृ0 सं0 – 17
4. चन्द्रहास, पृ0 सं0 – 103
5. झंकार, पृ0 सं0 – 50

9. "उसमें कितना रूप रंग था,
सस्मित मुख था भृकुटि भंग था।"[1]

भंग विशेषण को बाद में रखा गया है।

10. "जो कामिनी कांचन न छूटा फिर विराग रहा कहाँ?
पर चिह्न तो वैराग्य का अब है जटाओं में यहाँ।"[2]

कांचन विशेषण को बाद में रखा गया है।

11. "अब तेरी न सुनूँगी मैं,
कन्या – कुसुम चुनूँगी मैं।"[3]

यहाँ पर कुसुम को बाद में रखा गया है।

12. "वातावरण विषण्ण, सोंचता था मैं लेटा,
बात उन्हीं की, घोर घात ने जिन्हें समेटा।"[4]

यहाँ पर विषण्ण विशेषण को बाद में रखा गया है।

13. "प्रकट वीरता अड़ी खड़ी थी पकड़े पाशव – शृंग,
सबका मन हो उसी प्रौढ़तम पाणि पद्म का भृंग।"[5]

यहाँ पर पद्म को बाद में रखा गया है।

14. "उठी जो उसकी भृकुटि कराल,
खिंची सौ तलवारें तत्काल।"[6]

यहाँ पर कराल को बाद में रखा गया है।

---

1. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 71
2. भारत–भारती, पृ0 सं0 – 139
3. अनघ, पृ0 सं0 – 28
4. अजित, पृ0 सं0 – 98
5. शक्ति, पृ0 सं0 – 18
6. वन वैभव, पृ0 सं0 – 23

15. "नीच तथा मूढ़ महा मानता हूँ मैं उसे।"[1]

महा विशेषण को बाद में रखा गया है।

16. "बहनों का, बेटियों का, बालकों का, बृद्धों का क्रन्दन कठोर।"[2]

यहाँ पर कठोर विशेषण को बाद में रखा गया है।

17. "फिर भी तिरछी होकर उसने
भृकुटी कुटिल – कराल की।"[3]

कराल विशेषण को बाद में रखा गया है।

18. "पर उत्पाती हैं तो सुर ही, देखो तुम सब ओर,
पूजा पाकर भी हो बैठे वे पाषाण कठोर।"[4]

यहाँ पर कठोर विशेषण को बाद में रखा गया हैं।

विरोध मूलक विशेषण :–

कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो विरोध वृत्ति को प्रकट करते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो पूरे भाव को बदल देते हैं। वास्तव में वक्रता ऐसे ही शब्दों में होती है। श्री गुप्त जी का काव्य विरोध मूलक विशेषण का भण्डार है।

1. "कहते नहीं है, करते हैं कृती। सजनी मैं
खीझ के भी रीझ उठी उस मुस्कान में।"[5]

खीझ और मुस्कान में विरोध मूलक है।

---

1. विकट भट, पृ0 सं0 – 8
2. सिद्धराज, द्वितीय सर्ग, पृ0 सं0 – 28
3. द्वापर, पृ0 सं0 – 52
4. पृथिवी पुत्र, पृ0 सं0 – 16
5. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 170

2. असमर्थ हो उसके कथन में, मौन वाणी ने लिया।"[1]

कथन और मौन एक दूसरे के विरोधी है।

3. "मरने को जग जीता है।
रिसता है जो रन्ध्र-पूर्ण घट,
भरा हुआ भी रीता है।"[2]

मरना और जीना एक दूसरे के विरोधी हैं।

4. "किया अधर – दर्शन रमणी ने,
लक्ष्मण फिर भी मुस्काये।"[3]

दर्शन और मुस्कराना एक दूसरे के विरोधी है।

5. खोजो मृत्यु, दिखाओ ओज,
जीवन करें तुम्हारी खोज ।
वैसी ही गति जैसी मृत्यु,
त्यागो वैसी वैसी मृत्यु।"[4]

मृत्यु और ओज एक दूसरे के विरोधी है।

6. "मृत्यु न हो, यह कहीं नींद हो,
मधुर मूर्ति चुप सोती है,
यह है ऐसा सत्य कि जिस पर,
मन में शंका होती है।"[5]

मृत्यु और मधुर मूर्ति में विरोध है।

---

1. जयद्रथ वध, प्रथम सर्ग, पृ० सं० – 9
2. यशोधरा, पृ० सं० – 11
3. पंचवटी, पृ० सं० – 19
4. हिन्दू, पृ० सं० – 167
5. उच्छ्वास, पृ० सं० – 35

7. "जन्म सफल समझा दशरथ ने

मरण उन्हें मंगलमय था।"[1]

मरण और मंगलमय में विरोध है।

8. "तुम दोनों का शोणित, सु–मिष्ट।"[2]

शोणित और सु–मिष्ट का विरोध है।

9. "हरी भरी धरती है मेरी,

मैं ही क्यों रूखी हूँ,

हिम में जलती, तप में कँपती,

वर्षा में सूखी हूँ।"[3]

हिम में जलना और वर्षा में सूखना में विरोध है।

10. "श्वास क्रिया शयन की यह देख पावें –

तो एक बार मृत फिर जी न जावें।"[4]

मृत और जी में विरोध है।

11. "इसे प्रकाश कहूँ क्या प्यारे!

नाश करे जो नेत्र हमारे।"[5]

प्रकाश और नाश में विरोध है।

12. "वे वृद्ध होकर भी पता रखते विषय की थाह का,

शायद मरे भी जी उठें वे नाम सुनकर ब्याह का।"[6]

मरे और जी में विरोध है।

---

1. प्रदक्षिणा, पृ0 सं0 – 21
2. लीला, पृ0 सं0 – 55
3. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 95
4. चन्द्रहास, पृ0 सं0 – 85
5. झंकार, पृ0 सं0 – 45
6. भारत भारती, पृ0 सं0 – 144

13. "सब कुछ कहती हुई, बिना मुँह से कुछ बोले।"[1]

बिना कुछ बोले सब कुछ कहने में विरोध है।

14. "कुछ न हुआ, आते ही आते ऊषा का आलोक –
अन्धकार छा गया गेह में दीख पड़ा बस शोक।"[2]

यहाँ ऊषा और अन्धकार का विरोध।

15. "मधुर कण्ठ से क्रोध – पूर्ण कहती कटु वाणी।"[3]

यहाँ मधुर कण्ठ – कटु वाणी का विरोध।

16. "मर मर कर भी जी उठता है प्रेत रूप वह पाप।"[4]

मरने – जीने का विरोध।

17. "मरके भी जीवित हैं, देखो, इस बच्चे को।"[5]

मृत्यु – जीवन का विरोध।

18. "और वाटिका का वह कुंज चिता – पुंज सा।"[6]

कुंज – पुंज का विरोध।

19. "क्षुद्र अमरत्व मृत रूप है नरत्व का,
और प्रभुता तो असुरत्व में भी होती है।"[7]

अमरता – मृत्यु का विरोध।

---

1. अजित, पृ0 सं0 – 32
2. किसान, पृ0 सं0 – 21
3. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 31
4. शक्ति, पृ0 सं0 – 15
5. विकट भट, पृ0 सं0 – 16
6. अर्जन और विसर्जन, पृ0 सं0 – 8
7. सिद्धराज, प्रथम सर्ग, पृ0 सं0 – 13

20. "ऐहिक उन्नत के अधिकारी,
गुण ही इसको मानें,
विष भी अमृत बना बैठा है,
अपने एक ठिकाने।"[1]
विष – अमृत का विरोध।

विवेचन करने से स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी के काव्य में विरोध मूलक विशेषण पर्याप्त संख्या में हैं, विरोध भी विशेषण के रूप में सार्थक रूप में प्रयोग हुआ है। वास्तव में छायावादी कवियों ने द्विवेदी युग की इस विशेषता को स्वीकार कर, काव्य को महिमा मंडित बनाया।

<u>वृत्ति वक्रता :–</u>

वृत्ति वैचित्र्य – वक्रता से अभिप्राय विषय अथवा भाव सौन्दर्य के अनुरूप समास, कृत आदि वृत्ति के प्रयोग का वैचित्र्य है। कुन्तक के शब्दों में जिसमें अव्ययी भाव आदि (समास, तद्धित, कृत् आदि) वृत्तियों का सौन्दर्य प्रकाशित होता है उसको वृत्तिवैचित्र्य वक्रता कहते हैं। अव्ययीभाव समास का चमत्कार कुछ अधिक होता है, इसलिए कुन्तक ने इसको मुख्यता दी है।

1. "उनको इस शर का लक्ष चुनूँगा क्षण में,
<u>प्रतिरोध</u> आपका भी न सुनूँगा रण में।"[2]

2. "अभिमन्यु उसको देखते ही क्रोध से जलने लगा,
निश्वास <u>बारम्बार</u> उसका उष्णतर चलने लगा।"[3]

---

1. द्वापर, पृ0 सं0 – 153
2. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ0 सं0 – 113
3. जयद्रथ वध, प्रथम सर्ग, पृ0 सं0 – 11

3. "खाय-पिये, बस जिये – मरे तू,
यों ही फिर – फिर आय जाय।"[1]

4. "बीच बीच में इधर उधर निज
दृष्टि डालकर मोदमयी,
मन ही मन बातें करता है
धीर धनुर्धर नई नई।"[2]

5. "क्यों तुममे है भय भरपूर, क्यों तुमसे साहस है दूर?
कोटि कोटि होकर भी हाय! तुम हो एकाकी असहाय!"[3]

6. "कुछ हो विधि ने बात बड़ी प्रतिकूल की,
लगती किसे न चोट किसी के मूल की।"[4]

7. "तब तक बोल उठे मुनि – मारो,
निस्संकोच इसे है तात,
अधम – आततायी जो भी हो
समुचित है उसका अभिघात।"[5]

8. "अकुशलता का काम क्या तपोधनों के संग,
होते हैं प्रतिदिन यहाँ नूतन कथा – प्रसंग।"[6]

9. "माता को प्रणाम, यथायोग्य कर सबको
क्षेम पूछा सबका कुशल कहा अपना।"[7]

---

1. यशोधरा, पृ0 सं0 – 12
2. पंचवटी, पृ0 सं0 – 7
3. हिन्दू, पृ0 सं0 – 74
4. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 62
5. प्रदक्षिणा, पृ0 सं0 – 13
6. लीला, पृ0 सं0 – 62
7. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 26

10. "कि लो, आज दायित्व – भार से
अनायास ही मैं छूटा।"[1]

11. "मोदकादि झोली में भर,
प्रतिदिन मुझे दे दिया कर।"[2]

12. "यद्यपि जगाती है हमें भी देर तक प्रतिदिन वही,
पर हम अविध निद्रा – निकट सुनते कहाँ उसकी कही?
सुस्नान के पीछे यथाक्रम दान की बारी हुई,
सर्वस्व तक के त्याग की सानन्द तैयारी हुई।"[3]

13. "शतियों सहे प्रहार, अन्त में हम जो हारे,
रहा हाय! यह अधःपतन ही हाथ हमारे।"[4]

14. "जिन पन्द्रह के तीस मुझे देने पड़े –
खटकेंगे आमरण कलेजे में अड़े।"[5]

15. "कारागार! निष्कासन! काँप उठी तुम ये?"[6]

16. "आघात हुए इतने तदपि नहीं हुआ प्रतिघात कुछ,
आती है मेरी समझ में नहीं तुम्हारी बात कुछ!"[7]

---

1. झंकार, पृ0 सं0 – 67
2. अनघ, पृ0 सं0 – 30
3. भारत भारती, पृ0 सं0 – 66
4. अजित, पृ0 सं0 – 41
5. किसान, पृ0 सं0 – 28
6. पृथिवीपुत्र, पृ0 सं0 – 34
7. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 35

17. मेरा पुरस्कार यही, न्याय का निदेश हो,
राज्य धर्मराज का हो, निष्कंटक देश हो।"[1]

18. "इन्द्राणी–युत इन्द्रासन पर बैठा सुर कुलराज,
हुआ यथास्थान–स्थित सुख से विजयी विबुध समाज।"[2]

19. "सन्न सहदेव हुए निरूपाय,
हँसी या रोई कृष्णा हाय।"[3]

20. "बढ़ अविलम्ब फिर टूट पड़ा सिंह–सा
तोरण के द्वार पर, द्वारियों को मार के।"[4]

21. "अनुचित लाभ किन्तु आपकी दया का मैं
लेना नहीं चाहती हूँ कहकर बातें वे।"[5]

22. "जीने का फल पा जाती हूँ,
प्रतिदिन उसे खिला के।"[6]

किन्तु अव्ययीभाव समास तो उपलक्षण मात्र है। समास वक्रता का क्षेत्र इससे कहीं अधिक व्यापक है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ0 नगेन्द्र लिखते हैं : "समास वक्रता से ...... अभिप्राय उस सौन्दर्य का हो सकता है, जो समास की पद रचना पर केन्द्रित रहता है, जिसके अनेक भेदों का विवेचन वामन ने अपने श्लेष, औदार्य आदि शब्द–गुणों के अन्तर्गत किया है। यहाँ चमत्कार मूलतः समास रचना पर ही आधृत है – अर्थ

---

1. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 25
2. शक्ति, पृ0 सं0 – 26
3. वन–वैभव, पृ0 सं0 – 12
4. अर्जन और विसर्जन, पृ0 सं0 – 10
5. सिद्धराज, प्रथम सर्ग, पृ0 सं0 – 10
6. द्वापर, पृ0 सं0 – 16

से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। ... हमारा अनुमान है कि अन्य प्रकार की समास वक्रता से कुन्तक का अभिप्राय ऐसे ही रचना – चमत्कार से है।" वस्तुतः डॉ0 नगेन्द्र ने कुन्तक के मन्तव्य की सही व्याख्या की है और इससे समास वक्रता के अपेक्षया व्यापक परिप्रेक्ष्य का उद्घाटन होता है।

रेखांकित पंक्तियों में अव्ययीभाव समास का चमत्कार है। श्री गुप्त जी के काव्यों में अन्य प्रकार के भी समास प्रयुक्त हुए हैं उनका विवेचन भी समीचीन होगा।

1. "मधु पीकर और मदान्ध न हो,
उड़ जा बस है अब क्षेम तभी।"[1]
तत्पुरुष समास है।

2. "बनवा चुके मन्दिर, कुआँ या धर्म्मशाला जो कहीं,
हा स्वार्थ! तो उनके सदृश सुर भी सुयशभागी नहीं।"[2]
तत्पुरुष समास है।

3. "हे नाथ, तुम्हारा आनुकूल्य
मेरा गौरव – धन है अमूल्य।"[3]
कर्मधारय समास है।

4. "वह मार्ग अवश्य मनोरम है,
पर कण्टक – पूरित, दुर्गम है।"[4]
तत्पुरुष समास है।

---

1. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 153
2. भारत भारती, पृ0 सं0 – 144
3. अनघ, पृ0 सं0 – 74
4. चन्द्रहास, पृ0 सं0 – 81

5. "सोच लो है कि नहीं यह न्याय,

कहो तो क्रय–विक्रय हो जाय।"[1]

द्वन्द्व समास है।

6. "प्रिय ने छोड़े, मुझसे छूटे

भव के भोग–विलास।"[2]

यहाँ पर द्वन्द्व समास है।

7. "जो जन हो असहाय अनाथ,

रक्खो उनके सिर पर हाथ।

शिक्षित बने अकिंचन बाल,

निकलें वे गुदड़ी के लाल।"[3]

नञ् समास है।

8. "जान तुम्हें ब्राह्मण – सन्तान,

क्या छोड़ूँ तुम पर शर तान।"[4]

तत्पुरुष समास है।

9. "अग्निदाह, भूकम्प और दिवसों की मारी,

है अलज्ज–सी खड़ी बड़ी–सी एक अटारी।"[5]

नञ् समास है।

10. "मेरे घन वे घनश्याम ही,

जानेगा यह अरि भी अन्ध,

---

1. झंकार, पृ0 सं0 – 66
2. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 67
3. हिन्दू, पृ0 सं0 – 159
4. लीला, पृ0 सं0 – 114
5. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 85

बहुव्रीहि समास है।

16. "जितनी उपाधि जिसे, आधि–व्याधि उतनी।"[1]

द्वन्द्व समास है।

17. "ममता तो महिलाओं में ही
होती है हे मंजुमुखी।"[2]

कर्मधारय समास है।

18. "राखिए अबला रत्न, आप अबला की लज्जा,
सुख मेरा अभियोग कीजिए शासन–सज्जा।"[3]

अबला में नञ् समास शासन–सज्जा में तत्पुरुष समास है।

19. "यद्य–वेदी के सम्मुख शान्त,
युधिष्ठिर बैठे थे विश्रान्त।"[4]

तत्पुरुष समास है।

20. और महाजन? कर्ज लिया उससे सही।"[5]

कर्मधारय समास है।

21. "बढ़ वाहन पंचानन ने भी मारे ऊँचे हाथ,
मूर्तिमती थी सर्व शक्तियाँ केन्द्र शक्ति के साथ।"[6]

बहुव्रीहि समास है।

---

1. सिद्धराज, चतुर्थ सर्ग, पृ0 सं0 – 61
2. पंचवटी, पृ0 सं0 – 18
3. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 22
4. वन वैभव, पृ0 सं0 – 28
5. किसान, पृ0 सं0 – 28
6. शक्ति, पृ0 सं0 – 21

22. "पर मुख–चन्द्र मूर महिषी का
था अब भी गम्भीर – उदास।"[1]

कर्मधारय समास है।

23. "प्रेम–बैर दोनों हम सीधे साध लेते हैं,
अन्य के करों से निज नाव नहीं खेते हैं।"[2]

द्वन्द्व समास है।

क्रिया वैचित्र्य वक्रता :–

पयार्य संज्ञा अथवा विशेषण से जिस प्रकार कविता में सौन्दर्य झलक मार जाता है, उसी प्रकार क्रिया की विचित्रता से भी कविता निखर उठती है। यही क्रिया वैचित्र्य वक्रता है। क्रिया ही काव्य में वाणी का वह अंग है, जो सभी व्यापार का सम्पादन करती है, सभी क्लेश को व्यक्त करती है।

चूँकि काव्य या नाटक का सम्बन्ध ऐसे ही व्यापार से होता है इसलिए क्रिया का महत्त्व काव्य में विशेषण अव्यय आदि से कहीं अधिक होता है। हम विशेषण और अव्यय का परित्याग कर सकते हैं, किन्तु क्रिया का नहीं। काव्य में क्रिया किसी वृहत्तर जीवन का ही एक अंश होती है।

ध्यान देने की बात यह है कि वाक्यों में क्रिया पद का कर्त्ता से कोई भिन्न या निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। क्रिया पद जीवन के व्यापार के द्योतक होते हैं। उसके गर्भ में कर्त्ता प्रच्छन्न रहता है। अतएव प्रत्येक किग्रा के स्रोत पर कोई न कोई कर्त्ता अवश्य खड़ा है।

---

1. अर्जन और विसर्जन, पृ0 सं0 – 21
2. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 26

कुन्तक ने क्रिया वैचित्र्य वक्रता के रूप पंचक की मीमांसा की है। इसका प्रथम रूप क्रिया पद की योजना का वह वैचित्र्य है, जिसमें **"क्रिया पद"** कर्त्ता का अंतरंग–सा प्रतीत होता है। इस वक्रता का एक बड़ा ही रम्य उदाहरण **"साकेत"** में मिलता है –

"हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये,
और बोले – "एक परिरम्भण प्रिये।"
सिमिट–सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।
किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया,
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया।"[1]

यहाँ यह वक्रता द्विविध है, उर्मिला परिरम्भ के बदले केवल एक तीक्ष्ण अपांग देती है। अतएव इससे लक्ष्मण की लालसा और बलवती हो उठी होगी। फलतः घाते में ले कर उन्होंने अपना प्राप्य आप ही ले लिया। इस प्रकार ऊर्मिला–लक्ष्मण इन दोनों के व्यापार को कर्त्ता से अन्तरंगता प्राप्त है।

दूसरा रूप क्रिया के रूप का बोध। क्रिया जहाँ द्विरुक्ति हो जाती है वहाँ विशेष प्रकार का सौन्दर्य उपस्थित हो जाता है, इस आधार पर श्री गुप्त जी के काव्य का विवेचन प्रस्तुत है –

1. "गिर गिर, उठ उठ, खेल–कूद, हँस बोल कर।
तेरे ही उत्संग – अजिर में डोल कर।"[2]

---

1. साकेत, प्रथम सर्ग, पृ0 सं0 – 26
2. साकेत, पंचम सर्ग, पृ0 सं0 – 63

2. "हे जीवितेश! उठो–उठो, यह नींद कैसी घोर है।"

3. "पर क्या गाते–गाते,

सखि, वे मुझसे कहकर जाते।"[2]

4. "घड़े उठाकर खड़े हो गये,

तत्क्षण लक्ष्मण गद्‌गद् से।"[3]

5. "सुना सुना कर शास्त्र पुराण

किया सदा सबका कल्याण।"[4]

6. "झड़ पड़ा अचानक – झूल–झूल।

मेरे आंगन का एक फूल।"[5]

7. "लड़ना छोड़ छोड़कर बहुधा,

देखा सबने उनका युद्ध।"[6]

8. "पकड़ पकड़ कर ललित लताएँ

उनको खूब हिलाऊंगा।"[7]

9. "रो रोकर गाने लगे, माँ, तुम्हारे गुण वे।"[8]

---

1. जयद्रथ–वध, द्वितीय सर्ग, पृ0 सं0 – 20
2. यशोधरा, पृ0 सं0 – 22
3. पंचवटी, पृ0 सं0 – 47
4. हिन्दू, पृ0 सं0 – 34
5. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 19
6. प्रदक्षिणा, पृ0 सं0 – 63
7. लीला, पृ0 सं0 – 15
8. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 106

10. "उनका कहना – हटके। हटके।
उलझी – सुलझी लट के लट के।"[1]

11. "बालकों को वह फुसलाता है।
कमल जल में घुस – घुस लाता है।"[2]

12. सोचो विचारो, तुम कहाँ हो, समय की गति है कहाँ,
वे दिन तुम्हारे आप ही क्या लौट आवेंगे यहाँ।"[3]

13. "चुप हो, चुप हो, न रो, न रो ऐसे ओ माई।
तेरे बच्चे हुए आज मेरे दो भाई।"[4]

14. "लौटा दो, लौटा दो कोई मेरा बीता समय वही।
मैं न मरूं पाऊँ यदि उसको, है जीवन का यत्न यही।"[5]

15. "जागो, जागो अहो! भूल सुध सोने वाले।"[6]

16. लड़ लड़ जाते कुछ गंडको – से मुंड थे,
टाँगे मारते थे मत्त वारणों के शुंड थे।"[7]

17. "हँस–हँस लीला मयी सकौतुक करने लगी सुयुद्ध।"[8]

---

1. झंकार, पृ0 सं0 – 47
2. अनघ, पृ0 सं0 – 17
3. भारत–भारती, पृ0 सं0 – 171
4. अजित, पृ0 सं0 – 16
5. किसान, पृ0 सं0 – 11
6. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 35
7. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 23
8. शक्ति, पृ0 सं0 – 12

18. "विकट यह तीन तिकट मिल के,
हँसा फिर खिल खिल कर खिल के,।।[1]

19. "दायें और बायें घूम घूम झूम झूम के,
आता लूम लेता हुआ पूर्ण घट नीचे से।"[2]

20. "देखो यह झूठा झुँझलाना,
क्या सहता–सहता है।"[3]

21. "यह मत कहिए, यह मत कहिए, हे मेरे मधु मिष्ट।"[4]

गुण के अभाव में श्री गुप्त जी के काव्य में क्रिया मादक तो है किन्तु उसमें शक्ति की ऊर्जा नहीं है।

---

1. वन वैभव, पृ0 सं0 – 4
2. सिद्धराज, तृतीय सर्ग, पृ0 सं0 – 43
3. द्वापर, पृ0 सं0 – 16
4. पृथिवी पुत्र, पृ0 सं0 – 22

पंचम अध्याय

पद परार्ध वक्रता एवं गुप्त जी का काव्य

पद परार्ध वक्रता एवं गुप्त जी का काव्य

पद के पूर्वार्ध के अर्थात् प्रातिपदिक और धातु के प्रयोग–वैचित्र्य की भाँति पद के परार्ध अर्थात् सुप् आदि प्रत्यय का विचित्र प्रयोग भी कविता की एक विशेषता है। साधारणतः यह प्रत्यय–रूप होता है, अतः पद–परार्ध–वक्रता को प्रत्यय वक्रता भी कहते हैं। पद–परार्ध–वक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने जिन प्रभेदों का वर्णन किया है, उनका प्रतिपादन ध्वनि के प्रसंग में स्वयं आनन्दवर्धन ने यों किया है –

"सुप्–तिङ्.वचन सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत तद्धित–समासैश्च द्योत्योऽलक्ष्य क्रमः क्वचित्।।"[1]

अर्थात् सुप्, तिङ्., वचन, सम्बन्ध, कारक शक्ति, कृत्, तद्धित और समास से कहीं–कहीं असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि अभिव्यक्त होती है। **"च"** शब्द से निपात, उपसर्ग, कालादि के प्रयोग से अभिव्यक्त होता देखा जाता है। यहाँ ध्वनि के साधक जिन प्रकारों का निर्देश आनन्दवर्धन ने किया है, कुन्तक ने उनका उल्लेख अपने जीवित में भी किया है। जो आनन्दवर्धन की दृष्टि में ध्वनि के निष्पादक हैं, वे ही कुन्तक के मत में वक्रता के उत्पादक तत्त्व हैं।

काल वैचित्र्य वक्रता

कुन्तक के अनुसार जहाँ औचित्य की अंतरतमता से काल रमणीयता को प्राप्त हो जाता है, वह काल वैचित्र्य वक्रता होती है। वस्तुतः यह रमणीयता औचित्य के अंतरतम होने से ही प्राप्त होती है। यदि औचित्य का कोई अनुशासन नहीं रहता है, तब यह व्याकरण की त्रुटि मात्र होकर रह जाती है।

---

1. हिन्दी ध्वन्यालोक (आचार्य विश्वेश्वर) पृ0 – 271

कविता की महिमा वर्णन की महिमा होती है। वर्णन की इस महिमा की सिद्धि कवि काल वक्रता के द्वारा प्राप्त करता है। अतीत और भविष्य में ऐसा कुछ नहीं है जिसे कवि अपने वर्णन की परिधि में समेट नहीं लेता है। किन्तु कवि की सीमा यह है कि वह स्वयं वर्तमान में जीता है। परिणामतः वह अतीत और भविष्य दोनों को वर्तमान में ही रूपान्तरित कर देता है। काल वक्रता का वास्तविक क्षेत्र इसी अतीत और अनागत को वर्तमान में उतार डालना है। कवि जब समाहित चित्त से लिखता है, तब वह काल के इन दोनों ध्रुवों को अपने प्रज्ञाचक्षु से एक साथ ही देखने लगता है। वस्तुतः यह काल वक्रता अच्छी कविता का एक सार्वजनीन गुण है। आज कविता या कला में जो भविष्यद्वाद का आन्दोलन चला रहा है, इसकी कल्पना भामह ने बहुत पहले **"भाविक"** नामक गुण में कर ली थी। कुन्तक की काल वक्रता उससे कोई भिन्न चीज नहीं है। भामह इसकी महिमा को स्वीकार करते हुए इसे केवल वाक्य का गुण नहीं प्रत्युत प्रबन्ध का गुण बतलाते हैं। इस गुण के द्वारा कवि द्वारा भूत अथवा भविष्य के जो विचार प्रकट किये जाते हैं वे इतने प्रत्यक्षमान होते हैं कि वे वर्तमान के से दीखते हैं। यह भाविक किसी भी महान् और श्रेष्ठ कविता के लिए वह प्राथमिक महत्त्व की चीज है, जिसे आद्यन्त काव्य में रहना ही चाहिए। कवि वह ऋषि है जो अपनी दृष्टि में भूत और भविष्य को वर्तमान से संयुक्त कर देता है।

जब कोई कविता पढ़ता है, तब उसे (कविता को) पढ़ने वाले की आँखों के आगे प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए। पाठक को लगे कि घटना उसके सामने घट रही है। यही वह प्रत्यक्ष प्रमाणत्व है जिसे आर्ष सहृदयों ने पहली बार वाल्मीकि के महाकाव्य को सुनकर कहा कि यह उसमें विद्यमान है। कल्पना से जो ऐसी वास्तविकता प्रत्यक्षमाण होती है, वह भाव से व्युत्पन्न किसी शब्द द्वारा व्यक्त होती है। यही भाव, भावना, भाविक, भावित या उद्भावना है।

भामह ने बतलाया है कि भाविक को आहृत करने के साधन तीन हैं –

चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथाया: स्वभिनीतता।

शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रक्ष्यते।

अर्थ की चित्रता, उदात्ता और अद्भुतता, कथा की अभिनेयता तथा शब्दों की स्वच्छता इस भाविक के निष्पादक तत्त्व हैं। कथा की प्रगति मसृण गति से हो , उसमें रोचकता बढ़ती ही जाये, कोई व्यवधान, अस्पष्टता या रहस्यमयता नहीं हो। तब पहले गुण का नम्बर आता है। इसका सम्बन्ध उन विचारों से है, जिनसे कथा गढ़ी गयी है। अर्थ को ऐसा चमत्मकारी होना चाहिए कि वह कल्पना को उद्बुद्ध करे। तीसरे गुण का सम्बन्ध प्रसाद गुण से हो जाता है।

"भाविक रसोद्बोधन के लिए काव्य का सबसे महत्वपूर्ण गुण है। भामह ने एक विलक्षण सौन्दर्य–शास्त्रीय परिकल्पना दी थी, जो मम्मट तक पहुँचते–पहुँचते एक वाक्यालंकार मात्र रह गयी। यह दुर्घटना खेद की बात है। कुन्तक की सौन्दर्यशास्त्रीय तीक्ष्ण दृष्टि ने इसकी गरिमा पकड़ ली थी और काल वक्रता के रूप में उन्होंने इसी की उद्भावना की थी।"[1]

यदि आप बीती बातों को इस प्रकार प्रस्तुत करें मानो वर्तमान में हो रही हो, तो कहानी आख्यान न बनकर वास्तविकता का रूप धारण करने लगेगी।

इस काल वक्रता की बड़ी रमणीय उद्भावना गुप्त जी के काव्य में मिलती है, इसी आधार पर उनके काव्य का विवेचन प्रस्तुत है–

'साकेत' नाम रखकर कवि ने अपने लिए कतिपय प्रतिबन्धों की सृष्टि कर ली है। रामकथा 'साकेत' में केन्द्रित हो गयी है। एक ओर जहाँ कवि ने राम–वनवास की चौदह वर्ष की अवधि में ऊर्मिला की वियोगावस्था का प्रत्यक्ष चित्रण करने का अवसर खोज निकाला वहाँ उसने वनवास की घटनाओं की चर्चा परोक्ष वर्णना से की। उर्मिला को प्रमुखता देने के लिए उसे समस्त बालकाण्ड

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 – 379

की कथा छोड़ देनी पड़ी है, जो प्रकारान्तर से दशम् सर्ग में विरहोद्‌गार के रूप में वर्णित हुई है। 'साकेत' काव्य का केन्द्र–स्थान साकेत है। साकेत तो प्रागैतिहासिक नगरी थी जो त्रेता तक इस धरातल पर रही, तदुपरान्त स्वर्ग चली गयी और उसके स्थान पर अयोध्या की सृष्टि हुई। साकेत में जाकर राम–सीता की कहानी प्रधानतः उर्मिला की कहानी बन जाती है। और उसी रूप में उसका विकास और संघटन होता है। कवि ने अयोध्या वर्णन से 'साकेत' का शुभारम्भ किया है–

> "देख लो साकेत नगरी है यही, स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही।
> केतु–पट अंचल–सदृश है उड़ रहे, कनक–कलशों पर अमर–दृग जुड़ रहे।
> सोहती है विविध–शालाएँ बड़ी, छत उठाये भित्तियाँ चित्रित खड़ी।
> गेहियों के चारु चरितों की लड़ी, छोड़ती है छाप, जो उन पर पड़ी।"[1]

अयोध्या के वर्णन के पश्चात् कथा को प्रत्यक्षमाण करा दिया गया, आँखों के सामने एक–एक दृश्य छाने लगते हैं।

<u>जयद्रथ वध</u> की वर्णन शैली रसात्मक है जिसमें शृंगार, वीर, करुण और शान्त रसों के मार्मिक स्थलों की नियोजना की गई। कवि ने न्याय का समर्थन, सत् का प्रतिपादन और शील का आदर्श व्यक्त करने के लिए यह रचना प्रस्तुत की है। भारतीय संस्कृति के दाम्पत्य और वीरत्व विषयक आदर्शों को प्रकट करते हुए कवि ने अपनी भक्ति भावना को भी अभिव्यक्त किया है। नवयुग की बुद्धिवादी चेतना को उसने विशेष रूप से ग्रहण नहीं किया, पर वह पुनरुत्थान की मनोवृत्ति से अवश्य उद्‌बुद्ध हुआ। इस काव्य में गुप्त जी के भाषा–संस्कार का रसात्मक वर्णन का और सुविन्यस्त कथावस्तु का सौन्दर्य स्पष्ट होता है। हरिगीतिका छन्द में खड़ी बोली का सुस्पष्ट संगीत, ख्यातवृत्त का रसात्मक वर्णन और युद्ध की मार्मिक प्रसंगोद्‌भावना। सात वर्गों में विभक्त कथा–महाभारत के युद्ध में द्रोण ने दुर्भेद्य चक्रव्यूह की रचना, उसका भेदन करने में अर्जुन के अतिरिक्त सभी पाण्डवों ने अपने को असमर्थ पाया, अभिमन्यु ने इस कठिन कार्य को स्वयं सम्पन्न करने का दायित्व लिया–

---

1. साकेत प्रथम सर्ग – पृ0 –12

"प्रस्तुत हुआ अभिमन्यु रण को शूर षोडश वर्ष का
वह वीर चक्रव्यूह–भेदन में सहज सज्ञान था,
निज जनक अर्जुन तुल्य ही बलवान था, गुणवान था।
हे तात! तजिए सोच को है काम ही क्या क्लेश का?
मैं द्वार उद्घाटित करूँगा व्यूह–बीच में प्रवेश का।
यों पाण्डवों से कह समर को वीर वह सज्जित हुआ।
छवि देख उसकी उस समय सुरराज भी लज्जित हुआ।।[1]

<u>सैरन्ध्री</u> : यह काव्य आकार में लघु है और छप्पय पद्धति में रचा गया है। इसमें द्रौपदी का निष्कलंक चरित्र–चित्र अंकित हुआ है। कवि ने इस नायिका–प्रधान काव्य में नारी के उज्ज्वल चरित्र को चित्रित किया है। पाण्डव अपने अज्ञातवास में विराट के यहाँ छद्मवेश धारण करके रहते, द्रौपदी, सैरन्ध्री के रूप विराट की पत्नी सुदेष्णा की दासी बनती है। विराट का साला सेनापति कीचक, सैरन्ध्री पर कामासक्त हो उठा। कीचक के प्रस्ताव पर वह संतप्त हो उठी, अन्त में भीम द्वारा कीचक की इहलीला समाप्त हुई। यह एक वर्णनात्मक खण्ड काव्य है।

अभिनयात्मक और विवरणात्मक दोनों पद्धतियों के द्वारा वस्तु विन्यास और शील–निरूपण किया गया है। गुप्त जी ने कथावस्तु को प्रमुख रखते हुए उसके वर्णन में द्रौपदी को प्रधानता दी है। स्वयं कवि ने भी इस काव्य में कीचक की भर्त्सना की है। इस निर्माणकालिक रचना में उसने चरित्रों को प्रधान बनाने का प्रयास आरम्भ किया है–

जब विराट के यहाँ वीर पाण्डव रहते थे,
छिपे हुए अज्ञात–वास–बाधा सहते थे।
एक बार तब देखा द्रौपदी की शोभा अति,
उस पर मोहित हुआ नीच कीचक सेनापति।
यो प्रकट हुई उसकी दशा दृग्गोचर कर रूपवर,
होता अधीर ग्रीष्मार्त्त गज ज्यों, पुष्करिणी देखकर।।"[2]

---

4. जयद्रथ वध – प्रथम सर्ग – पृ0 – 4
2. सैरन्ध्री – पृ0 सं0 –4

वन वैभव : लघु खण्डकाव्य है, जिसमें कवि ने यह दिखाया है कि जैसा भी कार्य होगा उसका वैसा ही परिणाम होगा। एक समय जब पांडव वनवास भोग रहे थे, तब दुर्योधन अपने राजकीय ठाटबाट के साथ उन्हें चिढ़ाने के लिए मृगया के बहाने वनयात्रा करता है। वे सुखद चाँदनी रात में गंधर्वों के जलाशय में क्रीड़ा करने लगे। गंधर्व राज चित्ररथ ने उन्हें बन्दी लिया। युधिष्ठिरके कहने पर अर्जुन ने चित्ररथ से युद्धकर दुर्योधन को छुड़ाया। इस काव्य में एक राजनीतिक दृष्टिकोण भी प्रकट हुआ है। भाई–भाई में शत्रुता होते हुए भी यदि कोई दूसरी शक्ति आक्रमण करे तो पारस्परिक वैर–भाव को भूलकर एक हो जाना चाहिए। यह प्रासंगिक कथन हैऔर कवि की राष्ट्रवादी मनोवृत्ति का उद्गार। शकुनि के व्यंग्य वचनों से 'वन वैभव' प्रारम्भ होता है–

"तुम्हारे भाई बेचारे, जुएं में जो सब कुछ हारे।
विपिन में दीन भाव धारे, भटकते हैं मारे–मारे।
न जाने कैसे हैं वे लोग, यहाँ हम करते हैं सुख–भोग।
खबर लें उनकी चलो जरा, कि वन में होगा हृदय हरा।
वहाँ है निर्मल नीर भरा, और मृगया के योग्य धरा।
शकुनि की सुनि यों गूढ़ गिरा, हँसा दुर्योधन हठी निरा।"[1]

'यशोधरा' : काव्य का कथा–सूत्र सुप्रसिद्ध है, परन्तु स्वयं यशोधरा कवि कल्पना की सृष्टि है। अधिकांश प्रसंगोद्भावनाएँ पात्र–कल्पना और स्थल योजना गुप्त जी की अपनी सूझ है। बुद्धजीवन का सांस्कृतिक पृष्ठाधार इसकी भूमिका है और नारी सम्मान का आधुनिक भाव इसका मेरुदंड। यशोधरा के कौमार्य और कामिनी तथा गौतम के गृहस्थ और साधक जीवन को अध्याहार में रखकर कवि ने कलात्मक सुरुचि और चयन वृत्ति का परिचय दिया है। अवश्य ही विरहिणी के संयोग–सौख्य का चित्रण न होने से उसकी वियोग–व्यथा को आवश्यक पीठिका प्राप्त नहीं हुई है। वस्तुतः यशोधरा कौटुम्बिक पृष्ठभूमि पर चित्रित प्रेमकथा है। सिद्धार्थ के मन में संसार के प्रति विरक्ति की भावना उत्पन्न हुई और वे दुःख का निदान करने के लिए सन्नद्ध हुए।

---

1. वन वैभव – 3

"हम इसकी गति वक्र? घूम रहा है कैसा–चक्र।
कैसे परित्राण हम पावें? किन देवों को रोवें–गावें?
पहले अपना कुशल मनावें, वे सारे से–शुक्र।
घूम रहा है कैसा चक्र।।"[1]

'सिद्धराज' : जयसिंह बारहवीं शताब्दी में पाटन राज्य का अधिपति हुआ था। इस काव्य में प्रधानतः उसके क्षात्र रूप या शूरवीरत्व का प्रदर्शन हुआ है। उसके उच्च व्यक्तित्व की दुर्बलता प्रकट की गयी है और तत्कालीन भारत की राजनीतिक परिस्थिति का चित्रण हुआ है। वह एकच्छत्र साम्राज्य–संस्थापन के आदर्श से प्रेरित होकर युद्धोन्मुख होता है, पर अन्त में सांस्कृतिक संगम की अनिवार्यता को स्वीकार कर लेता है। युद्ध–वीरत्व धार्मिक उदारता, आदर्श राज्य–व्यवस्था, प्रजा की सौख्य–समृद्धि मातृभूमि–प्रेम, आदि कोउसी के माध्यम से प्रकट किया गया है।

मीलन दे की सोमनाथ यात्रा से कथा प्रारम्भ होती है–
"जननी प्रसिद्ध सिद्धराज जयसिंह की।
मीलन दे नाम और काम शुभ जिसका,
सोमनाथ जाती हुई मार्ग में है ठहरी।
बाहर अपूर्व राज वैभव–विकास है,
गज–रज–अश्वमयी सेना बहु साथ में।"[2]

'अजित' : गुप्त जी ने 'अजित' के मंगलाचरण में ही अपनी जीवनास्था प्रकट की है। जीवन के संघर्ष हर्ष के संग सहें हम। यह जीवनास्था अजित के जीवन में भी पायी जाती है। वह एक बड़े मौरुसी कृषक का विवाहित नवयुवक पुत्र है। गाँव का जमींदार अजित के पिता का बावना ताल नामक उर्बर खेत हथियाने

---

1. यशोधरा – पृ० सं० – 11
2. सिद्धराज – प्रथम सर्ग, पृ० सं० – 7

के इरादे से पुलिस से मिलकर उसे एक वर्ष के लिए जेल भिजवा देता है। अजित को कारावास का दण्ड झेलते हुए कई प्रकार के अपराधियों का परिचय प्राप्त होता है। करागार से कथा प्रारम्भ–

मेरा कारागार गाँव था, छोटा–मोटा, जिसके चारो ओर उठा ऊँचा परकोटा
उसके भीतर साथ–साथ थे खेत तथा घर–घर मानो छड़दार हिंस्र पशुओं के पिंजर
इन पिजड़ों में एक में सौ–सौ बन्दी, हो जाती है हवा आप ही इनकी गन्दी।।[1]

हिडिम्बा : कवि ने राक्षस कुल में मानवता की भावना का उत्कर्ष दिखाते हुए हिडिम्बा के शील की आशंसा की है। माता कुन्ती के साथ पांचो पाण्डव लाक्षा–भवन से बच निकले। वन–मार्ग में सभी तृषित हुए और भीम ने उनकी तृषा शान्त की। हिडिम्बा नव–वधू का वेश बनाकर रात्रि में भीम के पास आई और उसने प्रेम की स्पष्ट अभिव्यक्ति की। यह वीर रस से परिपुष्ट शृंगार रस का अभिव्यंजक काव्य है। इसमें कवि की दार्शनिकता सर्वोपरि है और उसने हिडिम्बा के नारीत्व को आदर्शवादी परिणित प्रदान की है। हिडिम्बा का चरित्र और उसकी मान्यताएँ, नवयुग की विचारणा का परिणाम है। इस रचना में महाभारतीय आख्यान को नवीन अभिप्रेत और हिडिम्बा के चरित्र को नया सौन्दर्य प्राप्त हुआ है–

"वन में प्रविष्ट पाण्डु पुत्र हुए गंगा पार।
भीम ने बनाया मार्ग बीहड़ में बढ़के,
कुन्ती जा सकी उन्ही के कन्धों पर चढ़ के।
माँ को लिए वे दिये सहारा भाइयों को भी,
गिनते न मार्ग में थे खड्ड–खाइयों को भी।"[2]

'विष्णुप्रिया : गुप्त जी का खण्डकाव्य है। इसमें परित्यक्ता पत्नी के जीवन चरित का आख्यान करते हुए कवि ने प्रेम के जीवन व्यापी साधनात्मक रूप का आलेखन किया है। विष्णुप्रिया सामान्य श्रेणी की गृहिणी है उसके जीवन की

---

1. अजित – पृ0 सं0 –11
2. हिडिम्बा – पृ0 सं0 –8

वास्तविक कठिनाइयों का भी समावेश है। बालक जन्म से कथा प्रारम्भ–

माता शची, तात जगन्नाथ पुरन्दर थे।
जागी फिर एक बार दिव्य ज्योति जग में।
संकर्षण–तुल्य पहले ही विश्व रूप में थे,
बाल्य में ही गौर से बड़प्पन मिला उन्हें।"[1]

<u>अनघ</u> : का नायक मद्य भगवान बुद्ध का साधनावतार माना गया है, वह निष्पाप ही नहीं उसे सदा सच्ची भुवन सेवा अभीष्ट है और उसी के लिए सक्रिय है। गुप्त जी ने सत्याग्रह की सामयिक प्रेरणा को बौद्ध संस्कृति के आख्यान के माध्यम से प्रकट किया है। उनकी दृष्टि न देश की भौगोलिक सीमा में अवरुद्ध हुई न उनकी भावना जातीय जीवन में केन्द्रित। उन्होंने बौद्ध संस्कृति से अहिंसा, करुणा और मैत्री का आदर्श ग्रहण किया तथा मानवता दर्श को चरित्र की रेखाओं में उभारा। रात्रि वर्णन से कथा प्रारम्भ–

"यह हो गई है रात। अब शान्ति या संघात!
यह एक काला वस्त्र, इसमें छिपे सौ शस्त्र।
कोई करेगा त्राण, कोई हरेगा प्राण।
निज कार्य अब प्रच्छन्न, देखे प्रकृति अवसन्न।"[2]

<u>लीला</u> : पद्य नाट्य में वस्तु योजना ही सर्वोपरि है, नरत्व की महत्ता, नारी का उत्कर्ष। सीता के साथ–साथ उर्मिला के मन में भी पुष्प वाटिका प्रसंग में पूर्वराग का उदय तथा परशुराम का स्वर्ग भोग की अपेक्षा जीवन की गति को श्रेष्ठ समझना गुप्त जी नवीन जीवन–दृष्टि तथा उर्मिला विषयक नयी प्रसंग–कल्पना का परिचायक है। राम का लोकोत्तरत्व उनकी श्रद्धा–भक्ति का विषय है और उन्होंने कोई बुद्धिवादी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। मृगया से कथा–प्रारम्भ

---

1. विष्णु प्रिया – पृ0 सं0 – 10
2. अनघ – पृ0 सं0 –8

"आर्य, आज मृगयार्थ चलोगे? मृगया तुमको भाती है?
अँग स्फूर्ति, लक्ष्य–लघुता भी उससे कैसे आती है।
मेरी इच्छा है कि सिंह से आज नियुद्ध मचाऊँ मैं।
दोनों पिछले पंजों के बल उसको नाच नचाऊँ मैं।"[1]

अर्जन और विसर्जन : 'अर्जन' शीर्षक आख्यान रचना में सीरिया की राजधानी दमिश्क पर अरबों के आक्रमण का वर्णन हुआ है। इस्लाम–प्रचार का विवरण देते हुए कवि ने धर्म–परिवर्तन की घटना को प्रेम–कथा के साथ ग्रथित कर दिया है। नायिका इउडोसिया धर्म–निष्ठ, देश–भक्त तथा अनन्य प्रेममयी है और प्रेमी विधर्मी तथा देश–द्रोही हो जाने पर वह प्राण–त्याग करके अपने आदर्श की रक्षा करती है। 'विसर्जन' रचना में अरबों का उत्तरी अफ्रीका पर आक्रमण निरूपित हुआ है। अरब के प्रथम खलीफा से कथा प्रारम्भ होती है–

"प्रथम खलीफा अबूबक क्या मदीने में,
उत्सुक इसी से मृत्यु–श्यया पर जीते हैं
नेत्र मूँदने के पूर्व निज चिर–निद्रा में,
सुन ले विजय–वर्ण जैसे बने कर्णों से।"[2]

'विकट भट' : ओजमयी आख्यान्क रचना है। इसका आख्यान जोधपुर राज्य के इतिहास से लिया गया है। एक दिन जोधपुर के मद्यप विजय सिंह पोकरण के सामंत देवी सिंह से पूछ बैठे कि वे रूठ जाएं तो क्या करें। स्वामिभक्त देवीसिंह का संक्षिप्त उत्तर था कि वह 'नवकोटि मारवाड़ को उलट दे, क्योंकि जोधपुर तो उसकी कटारी की पर्तली में पड़ा रहता है, इस उत्तर के लिए देवीसिंह को दूसरे दिन मरना पड़ा। इसमें मध्ययुगीन राजपूतों की विलक्षण जातीय विशेषताओं का वीरत्व–प्रदर्शक चित्रण किया गया है।

"ओठों से हटा के रिक्त स्वर्ण–सुरा–पात्र को,
सहसा विजय सिंह राजा जोधपुर के,

---

1. लीला – पृ0 – 11.
2. अर्जन और विसर्जन – पृ0 सं0 –3

पौकरण वाले सरदार देवीसिंह से

बोले दरबार खास में कि–देवीसिंह जी,

कोई यदि रूठ जाय मुझसे तो क्या करे।"[1]

जहाँ काल–वैचित्र्य वक्रता का प्रश्न है श्री गुप्त जी का प्रत्येक काव्य किसी काल घटना से अवश्य प्रारम्भ हुआ है।

<u>**वचन – वक्रता**</u>

काव्य में वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए जहाँ कवि जन, स्वेच्छया वचन का विपर्यास कर देते हैं, वहाँ कुन्तक के मत से वचन वक्रता होती है। इसका मतलब यह है कि कभी–कभी एकवचन द्विवचन के स्थान पर बहुवचन या बहुवचन के स्थान पर एक वचन आदि का प्रयोग करने से काव्य में विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। अरस्तू ने भाषण कला में भी वचन वक्रता माना है, अर्थात् वचनों द्वारा वक्रता। इसी आधार पर गुप्त जी के काव्य का विवेचन प्रस्तुत है–

(1) "अजी तुम जग गये,

स्वप्न–निधि से नयन कब से लग गये?

मोहिनी ने मन्त्र पढ़ जब से छुआ

जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ।"[2]

'स्वप्न निधि और जागरण में वचन वक्रता।

(2) "मैं पूछता हूँ वीर का रण में यही क्या धर्म है।"[3]

अभिमन्यु ने महारथियों से पूछा कि अकेले पर वार करना क्या यही क्षात्र धर्म है।

---

1. विकट भट्ट – 3
2. साकेत प्रथम सर्ग – पृ0 – 19
3. जयद्रथ वध – प्रथम सर्ग – 15

(3) "नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते,

पर इनसे जो आँसू बहते, .

सहृदय, हृदय वे कैसे सहते?

गये तरस ही खाते,

सखि वे मुझसे कहकर जाते।"[1]

यशोधरा का उपालम्भ कि पति बिना बताये ही चले गये, यदि कहकर जाते तो सिद्धि हेतु स्वयं तैयार कर देती।

(4) "समझो मुझे अतिथि ही अपना

कुछ अतिथ्य मिलेगा क्या?

पत्थर पिघले किन्तु तुम्हारा

तब भी हृदय मिलेगा क्या?"[2]

(5) "किस पर वह चौका, वह चाक, बनता वहाँ मृतक पशु–पाक

ऐसे कर्म और यह ढोंग, द्विजश्रेष्ठ हो तुम या पोंग।।[3]

(6) "पुत्र नहीं, मैं शत्रु तुम्हारा हूँ वही, गया न करके ब्याह, बहुत समझो यही

वह इस कारण, चले मुझे तुम मारकर, पर लौटे कुद्ध सोच, गये संस्कार कर।"[4]

(6) "क्या क्षत्रिया नहीं मैं बोलो, पर तुम कैसे क्षत्रिय हो।

इतने निष्क्रिय होकर भी जो, बनते यों स्वजन प्रिय हो।"[5]

(8) "सुनिए महाशय, क्या संशय है आपको?

जाना बस, आपने है दूत के प्रताप को?

किन्तु यहाँ।"[6]

---

1. यशोधरा – 22
2. पंचवटी – 9
3. हिन्दू – 230
4. उच्छवास – 65
5. प्रदक्षिणा – 42
6. लीला – 96

(9) "जागकर आप यहाँ मुझको सुला गये।
जागी फिर क्यों मैं क्यों न रह गई सोती ही?
जानती थी वंचक न होगे, विदा लेगें वे।"[1]

(10) "कौन जानता था मायावी तेरी ऐसी कुशल कला।
आँख मिचौनी का क्रीड़ा में, सचमुच तूने मुझे छला।"[2]

(11) "हो किन्तु राज्य में असन्तोष, तो पूर्ण रहे क्या राज-कोष।
पर जिनके धन से महाराज, है पूर्ण हमारा कोष आज।।"[3]

(12) "ग्रामीण गीत यदा कदा वे गान करते हैं सही,
है फाग उनका राग बहुधा और उत्सव भी वही।
पर चित्त को वे दीन जन किस भाँति बहलाया करें।
क्या आँसुओं से ही उसे वे नित्य नहलाया करें।।"[4]

(13) "मैने पूछा – पुनू हुए तुम डाकू कैसे?
पुलिस कृपा से? नहीं बताया उसने ऐसे।।"[5]

(14) "हम अबलाएँ तो एक की, होकर रहती सदा।
तुम पुरुषों को सौ भी नहीं, होती है तृप्ति-प्रदा।।"[6]

(15) "शोक तो उसकी मति पर शोक
बना क्या , बिगड़ा जब परलोक
विजय है वही कि सब संसार
करे पीछे भी जय-जयकार।"[7]

(16) "राना के किशोर सुकुमार दो कुमार थे,
मारा उनको भी स्वयं यह कह उसने
साँप के सँपुलिए भी छोड़े नहीं जाते है।"[8]

---

1. विष्णुप्रिया – 47
2. झंकार – 137
3. अनघ – 76
4. भारत-भारती– 107
5. अजित – पृ0 सं0– 20
6. सैरन्ध्री – 13
7. वनै-वैभव – 29
8. सिद्धराज – 53

(17) "देख कहीं दो बूँद नेत्र जल, तुम गल गये तुरन्त।
जान लिया तो बस मिट्टी के पुतले हो तुम सन्त।।"[1]

(18) "धन्य यह स्वार्थ तुम्हारा और स्वयं तुम धन्य,
मेरी कृति में मनुष्यत्व से श्रेष्ठ नहीं कुछ अन्य।"[2]

इन सभी उदाहरणों में व्यंग्योक्ति है जो अरस्तू के शब्दों में वचनवक्रता है, इनसे एक विशेष प्रकार का चमत्कार प्रस्तुत हुआ है।

उपसर्ग वक्रता

संस्कृत के व्याकरण के अनुसार पद चार प्रकार के होते हैं – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। नाम संज्ञा पद को कहते हैं आख्यात धातु को। पद पूर्वार्ध और पद परार्ध – वक्रता उन पदों के विचित्र विन्यास में देखी जाती है, जो नाम और आख्यात पद रूप हैं।

धातु से पूर्व आने वाले प्र, परा आदि की संज्ञा उपसर्ग है और अव्यय मात्र को निपात के नाम से पुकारते हैं। उपसर्ग और निपात अव्युत्पन्न पद हैं क्योंकि ये प्रकृति–प्रत्यय विभाग की संभावना से परे रहा करते हैं। उपसर्ग और निपात भी अपने विचित्र उपनिबन्ध से रसभाव का परिपोषण किया करते हैं। कुन्तक का विचार है कि पद के पूर्वार्ध और परार्ध की वक्रता अथवा विचित्रता से विलक्षण वह पद वक्रता है, जिसमें उपसर्ग और निपात के ही द्वारा काव्य बन्ध में व्याप्त रस भाव का स्फुरण होता है। क्षेमेन्द्र का कहना है कि योग्य उपसर्ग का भोग होने से निर्बन्ध गुण युक्त सूक्ति रमणीयता में इस प्रकार अधिक बढ़ जाती है, जैसे सन्मार्ग का अवलम्बन करने से सम्पत्ति बढ़ती है। 'प्र' आदि उचित उपसर्गों के कारण सूक्ति उन्नतिशील हो जाती है, जैसे ऐश्वर्य सन्मार्ग गमन से उन्नतिशील होता है – श्री गुप्त जी के समस्त काव्य में उपसर्गों का चमत्कारी प्रयोग जगह–जगह मिलता है, कहीं कही तो उनकी दीप्ति से सम्पूर्ण वाक्य ही आलोकित हो उठता है।

---

1. द्वापर – 80
2. पृथ्वी पुत्र – 9

(1) "कहते आते थे यही अभी नरदेही।
माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।।"[1]

(2) "अधिकार खो कर बैठ रहा यह महा दुष्कर्म है,
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।"[2]

(3) "निकला वहाँ कौन उन जैसा प्रबल-पराक्रमकारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।"[3]

(4) "करता है पशु वर्ग किन्तु क्या
निज निसर्ग नियमों का लोप।"[4]

(5) "वह अलित्प भोगों का भोग, अनालस्य अविचल उद्योग
वह जीवन का सुखमय स्वर्ग, और मृत्यु में भी अपवर्ग।"[5]

(6) "अरे न लौटेगा क्या अब भी ओ दुरन्त दुर्वार।
जा, न लौट इठलाता है क्यों है तू उद्धत अनुदार।।"[6]

(7) "नाही कर सकते वे कैसे, न्यायनिरत, निश्छल-निष्पाप।"[7]

(8) "यहाँ दर्शकों की आँखों के बने विमल तारे।
सजल कमल से मंजुल मुख हैं।"[8]

(9) "रक्त रुका किन्तु बढ़ी दूनी अनुरक्तता।
पीछे सिर टेक देहली से कहा – उसने।"[9]

---

1. साकेत – अष्टम सर्ग – पृ0 सं0 –121
2. जयद्रथ वध – प्रथम सर्ग – 3
3. यशोधरा – 37
4. पंचवटी – 10
5. हिन्दू – पृ0 सं0 – 21
6. उच्छ्वास – पृ0 सं0 – 22
7. प्रदक्षिणा – पृ0 सं0 – 12
8. लीला – पृ0 सं0 – 74
9. विष्णुप्रिया – पृ0 सं0 –19

(10) राजा सुधार्मिक पिता इसका भला था, मैने परन्तु रण में उसको छला था।"[1]

(11) "इसमें वह अभिमंत्रित जल था, जिसमें अभिषेकों का बल था।"[2]

(12) अनुचित उन्हें है दैन्य, यह है उन्हीं की रीति।
मेटे अधर्म अनीति।"[3]

(13) "वे ईश–नियमों की कभी अवहेलना करते न थे।
चिन्ता–प्रपूर्ण अशान्ति–पूर्वक वे कभी मरते न थे।"[4]

(14) इस दुर्विधि का नहीं दीखता आज निवारण।
फिर भी यदि निर्दोष उन्होंने मुझको माना।"[5]

(15) इस अनपढ़ जड़ जन के ऊपर समुचित इससे रोष नहीं।"[6]

(16) हैं देख रहे ऊपर अमर नीचे नर क्या कर रहे।
दुष्कृत में सुख है तो सुजन सुकृतों पर क्यों मर रहे।"[7]

(17) "मैं यों सह गमन करूँ सो क्या अनाथ हूँ।
वर जिसे बैठी उस दुर्द्धर के हाथ हूँ।"[8]

(18) "किया प्रजापति ने माला से देवी का सम्मान।
अभिमन्त्रित निज नीर–कमण्डलु विधि ने किया प्रदान।"[9]

(19) जानकी रूपी आग अपार, चुराने का करके कुविचार।"[10]

---

1. चन्द्रहास – प्रथम – 17
2. झंकार – 43
3. अनघ–15
4. भारत–भारती – 16
5. अजित – 29
6. किसान – 13
7. सैरन्ध्री – 7
8. हिडिम्बा – 24
9. शक्ति – 10
10. वन वैभव – 3

(20) "अधम, अधर्मी, अकृतज्ञ अनाचारी।"[1]

(21) आहत अचेत–सा आभागा गिरा आप भी।
शुष्क सैनिकों के दृगों में अश्रु आ गये।"[2]

(22) "झूठी बात। अपना अनादर भला नहीं।
अथवा तुम्हारा आभिजात्य–अभिमान।"[3]

(23) "बन जाता है अशिव भयंकर, कभी स्वयं शंकर भी।
दुर्दिन कर देता है दिन को, असमय का जलधर भी।"[4]

(24) अति दारुण दुष्काल,
यत्न क्या जब देवों की हुई कुदृष्टि कराल।"[5]

रेखांकित शब्दांश 'उपसर्ग' है जो शब्द में चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं।

प्रत्यय – वक्रता

कभी–कभी छोटे–छोटे प्रत्ययों का प्रयोग भी बड़े से बड़ा चमत्कार पैदा कर देता है। यह प्रत्यय वक्रता तिङ् आदि प्रत्यय से विहित अन्य प्रत्यय के सौन्दर्य में देखी जा सकती है। वस्तुतः इसमें एक प्रत्यय से किया हुआ दूसरा प्रत्यय किसी अपूर्व सौन्दर्य का परितोषण करता है। यों तो समग्र पद परार्धवक्रता प्रत्यय वक्रता ही चमत्कार है। इसलिए पदपरार्ध वक्रता प्रत्यय वक्रता भी कही गई है; किन्तु यहाँ पर प्रत्यय वक्रता का प्रयोग अपेक्षया सीमित अर्थ में किया गया है। एक प्रत्यय के तारतम्य में दूसरा प्रत्यय लगाकर कहीं कहीं प्रतिभा

---

1. विकट भट –6
2. अर्जन और विसर्जन – 18
3. सिद्धराज – तृतीय सर्ग– 45
4. द्वापर – 35
5. पृथ्वी पुत्र – 25

सम्पन्न कवि किसी अनिवर्चनीय सौन्दर्य का स्फुरण कर देता है, अतएव कुन्तक ने इसे प्रत्यय वक्रता की संज्ञा दी है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि हिन्दी भाषा की विश्लेषणात्मक प्रकृति के कारण हिन्दी में प्रत्यय की स्थिति उतनी स्पष्ट और महत्वपूर्ण नहीं है, जितनी कि वह संस्कृत में है। संस्कृत के सुबन्त और तिङ्न्त पदों के जैसा प्रत्यय का पृथक् अस्तित्व तो हिन्दी में है ही नहीं। गुप्त जी के समस्त काव्यों में प्रत्यय–चमत्कार विद्यमान है, जो उनकी अपनी एक विशेषता है।

(1) "भूल जाता दम्भ निज नागरिकता का तू।
किन्तु मैने देखे हैं, इसीसे कहती हूँ मैं।"[1]

(2) "वृद्ध न होकर बाल बनी थी, पलट प्रौढ़ता बाँकी।"[2]

(3) आपके सुगति–हेतु नही नहीं उनको,
किन्तु आपको भी कुछ यत्न करणीय है।"[3]

(4) जिसने झूठी साख भराकर दण्ड दिलाया।
वही जमानतदार बना, जगती की माया।"[4]

(5) विद्या बिना अब देख लो, हम दुर्गुणों के दास हैं।
है तो मनुज हम किन्तु रहते दनुजता के पास हैं।"[5]

(6) "जिन्हें घृणा करते हो वे ही, हैं इस योग्य कि प्यार करो।
अपने मनुष्यत्व का उनके, मिष से तुम उद्धार करो।"[6]

---

1. पृथ्वी पुत्र – 60
2. द्वापर – 103
3. सिद्धराज – द्वितीय सर्ग – 22
4. अजित – 61
5. भारत–भारती – 126
6. अनघ – 63

(7) "क्या मरना भी अपने अधीन।
जीवन मेरे दयनीय दीन।"[1]

(8) "मुख पर उत्सुकता पूर्ण कान्ति।
करती सुधांशु की प्रकट भ्रान्ति।"[2]

(9) "भन भन करता यह काल–व्याल
मूर्च्छित विषाक्त वसुधा विशाल।"[3]

(10) "पहले वचन देकर समय पालते हैं जो नहीं।
वे हैं प्रतिज्ञा–घातकारी निन्दनीय सभी कहीं।"[4]

(11) "अनुमोदक तो नहीं किन्तु निज,
अग्रज का अनुगत हूँ मैं।"[5]

(12) "ओ मेरे अभिमानी,
रहा अन्त में याचक ही तू होकर भी चिरदानी"[6]

(13) "पश्चिम के वे अविष्कार, कर बैठे कितना संहार।
किसका वह वैज्ञानिक धन्य देखे जो जड़ में चैतन्य।"[7]

(14) "कीट–पूर्ण है कुसुम, कण्टकित है मही।
जो सबसे बच निकल चले विजयी वही।"[8]

---

1. विष्णुप्रिया – 60
2. लीला – पृ0 सं0 –52
3. यशोधरा – 19
4. जयद्रथ वध – पंचम सर्ग – 55
5. प्रदक्षिणा – 70
6. उच्छ्वास – 56
7. हिन्दू – 117
8. साकेत – पंचम सर्ग – 69

(15) "यह कहकर प्रभु ने दोनों पर, पुलकित होकर सुध बुध–भूल।
उन दोनों के पौधों के बरसाये नव विकसित फूल।।"[1]

(16) "अतुलित जो है उधर अलौकिक उसका वह आनन्द।"[2]

(17) "अब भी मेरा कहा मान हठ छोड़ हठीली।
प्रकृति भली है सरल और तनु–यष्टि गठीली।"[3]

(18) "प्रकट किया जिसका पामरपन है?
भाइयों को भिक्षुक करके।"[4]

(19) "तोड़ लिये किसने वे तारे इस बीच में
फूले मणि–पद्म थे जो कालिमा की कीच में।"[5]

(20) "बड़े कष्ट से फिर वह बोली – नादानी रहने दो।
मेरी ही शोणित नृशंस के आसपास बहने दो।"[6]

(21) "क्षुब्ध हुआ दानव फिर गरजा हुआ धैर्य से त्यक्त।
रिपु रूपी तृण के चरने को है यह पशुता व्यक्त।"[7]

(22) क्षात्र कीर्ति कोषवाली पर्तली में उसकी
सच्ची बात कहने से आप रूठ जायँगे।"[8]

(23) "जैसी धृष्टता की फल वैसा क्यों न भोगेगा।
वैरी है विधर्मी नहीं अतिथि हमारा तू।"[9]

---

1. पंचवटी – 48
2. झंकार – 17
3. सैरन्ध्री – 38
4. वन वैभव – 25
5. हिडिम्बा – 27
6. किसान – 40
7. शक्ति – 17
8. विकट भट – 16
9. अर्जन और विसर्जन – 9

(24) "सुनकर यह वाणी तोतली और मीठी

मृदु–मधु–मधुता भी हो गई आज सीठी।"[1]

रेखांकित शब्दांश 'प्रत्यय' हैं जो शब्द में चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं। प्रत्यय वक्रता में जितनी सफलता गुप्त जी को मिली द्विवेदी युगीन अन्य कवियों को नहीं मिल पायी। इस वक्रता से उनका समग्र काव्य श्रेष्ठ बन गया है, भावों में सुष्ठुता आ गई है, प्रत्येक काव्य में विचित्र प्रकार का चमत्कार आ गया, वे अपने युग श्रेष्ठ कवि इसी चमत्कार के कारण बने।

निपात – वक्रता

"निपात ऐसा सहायक शब्द–भेद है, जिसमें वे शब्द आते हैं जिनके प्रायः अपने शब्दावलि सम्बन्धी तथा वस्तुपरक अर्थ नहीं होते हैं। निपातों का अन्य शब्द भेदों से इस बात का अन्तर है कि अन्य शब्द भेदों अर्थात् संज्ञाओं, विशेषणों, सर्वनामों, क्रियाओं, क्रिया–विशेषणों आदि का अपना अर्थ होता है, किन्तु निपातों का नहीं। योजकों तथा विभक्ति चिन्हों के द्वारा जिस प्रकार से वाक्य में व्याकरणपरक सम्बन्ध व्यक्त होते हैं, निपातों के विषय में वैसी बात नहीं है। निपातों का प्रयोग निश्चित शब्द, शब्द समुदाय या पूरे वाक्य को अतिरिक्त भावार्थ प्रदान करने के लिए होता है।

निपात वस्तुतः अव्युत्पन्न पद होते हैं, कुशल कवि रस–निषेक के लिए उनका भी कलात्मक प्रयोग करता है। कुन्तक की तरह क्षेमेन्द्र ने भी निपातों के महत्व को रेखांकित किया है। उनके अनुसार–उचित स्थान पर नियुक्त उपयोगी सचिवों के कारण जिस प्रकार राज्य–लक्ष्मी निश्चल हो जाती है, उसी प्रकार उचित स्थान पर प्रयुक्त उपयोगी निपातों के प्रयोग से काव्य की अर्थ–संगति ठीक हो जाती है। निपातों के प्रयोग से वाक्य का समग्र अर्थ प्रभावित होता है,

---

1. चन्द्रहास–प्रथम – 25

हिन्दी में अधिकांश निपात उस शब्द–समुदाय के बाद आते हैं जिसको वे विशिष्टता या बल प्रदान करते हैं। शब्दों या पूरे वाक्य को निपात जो अर्थ प्रदान करते हैं उनके अनुसार निपातों का वर्गीकरण इस प्रकार है–

(1)	स्वीकारार्थ निपात	–हाँ, जी, जी हाँ
(2)	नकारार्थक निपात	–नहीं, जी नहीं।
(3)	निषेध बोधक निपात	–मत
(4)	प्रश्नबोधक निपात	–क्या–क्यों?
(5)	बल प्रदायक व सीमा बोधक	–तो, ही, भी तक, भर, केवल।
(6)	विस्मयादिबोधक निपात	–काश! हा!

स्वीकारार्थक और नकारार्थक निपात अपेक्षया कम चमत्कारी होते हैं। वे जीवन के व्यवहार से सम्बन्धित होते हैं, और कविताओं में उनका चमत्कार नहीं के बराबर देखा जाता है; किन्तु निश्चयात्मक रूप से यह सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया जा सकता कि कोई कुशल कवि उनका रमणीय प्रयोग ही नहीं करेगा। श्री गुप्त ने समस्त निपातों का सुन्दर प्रयोग अपने काव्यों में किया है, इसी आधार पर विवेचन प्रस्तुत है।

(1) "हाँ जन कर भी मैने भरत को न जाना!
सब सुन लें, तुमने स्वयं अभी यह माना।।"[1]
यहाँ स्वीकारार्थ निपात है।

(2) "ठहरों मत रोको मुझे, कहूँ सो सुन लो!
पाओ यदि उसमें सार उसे सब चुन लो।"[2]
यहाँ आज्ञावाचक तथा निषेधात्मक निपात है।

(3) "हा! वह हमारा पुत्र प्यारा फिर मिलेगा क्या कभी–कभी?
अभिमन्यु को मृत देखकर भी हाय! मैं जीती रही।"[3]
यहाँ विस्मयादि शोक निपात है।

---

1. साकेत 5 अष्टम सर्ग – पृ0 सं0 – 120
2. वही – वही – वही
3. जयद्रथ – वध – तृतीय सर्ग – 38

(4) "है विरह यह दुस्सह तुम्हारा हम इसे कैसे सहें?
अर्जुन, सुभद्रा, द्रौपदी से हाय! अब हम क्या कहें?"[1]
प्रश्न बोधक निपात

(5) "अपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे सच जानिए।
मत जाइए सम्प्रति समर में प्रार्थना यह मानिए।"[2]
निषेधात्मक निपात।

(6) हे पार्थ! प्रण पालन करो, देखो अभी दिन शेष है।"[3]
आज्ञावाचक निपात

(7) "सबका स्वागत–सत्कार करो तुम तब लौं।
मैं करूँ स्वयं करणीय कार्य सब जब लौं।"[4]
आज्ञावाचक निपात

(8) "निफल रव रोर चीरता – 'किसमे है वह वीर्य वीरता?"[5]
प्रश्न निपात

(9) "हुए क्यों मौन फिर तुम हाय! बोलो।
उठो, आदेश दो निज नेत्र खोलो।"[6]
विस्मयादि (शोक) निपात।

(10) "इन पर भी तो प्रिये लताएँ चढ़ रहीं।
मानो फिर वे इन्हें हराकर, बढ़ रहीं।।"[7]
सीमा बोधक निपात

---

1. जयद्रथ वध – द्वितीय सर्ग – 23
2. वही – प्रथम सर्ग – 6
3. वही – षष्ठ सर्ग – 71
4. साकेत – अष्टम सर्ग – 117
5. साकेत – दशम सर्ग – पृ0 सं0 –192
6. साकेत – तृतीय सर्ग – पृ0 सं0 –37
7. साकेत – पंचम सर्ग – पृ0 सं0 –76

(11) "चुप रह चुप रह हाय अभागे।
रोता है अब किसके आगे?"[1]
आज्ञावाचक, शोक एवं प्रश्न निपात

(12) "बार–बार धिक्कार किन्तु यदि रहे मृत्यु का शेष दाय।
अमृत पुत्र उठ, कुछ उपाय कर, चल चुप हार न बैठ हाय।।"[2]
आज्ञा, शोक निपात

(13) "फिर क्या पूरा पहचाना? मैने मुख्य उसी को जाना।।[3]
प्रश्न निपात

(14) "नाथ तुम जाओ किन्तु लौट आओगे, आओगे, आओगे,।"[4]
आज्ञा निपात

(15) "शुभे बताओं कि तुम कौन हो? और चाहती हो तुम क्या।"[5]
प्रश्न निपात

(16) "चलो नदी को घड़े उठा लो, करो और पुरुषार्थ क्षमा।।"[6]
आज्ञावाचक निपात।

(17) "किन्तु हाय! स्वार्थी संसार। कब तक रहता उच्च्व उदार।"[7]
शोक प्रश्न निपात।

(18) "कहाँ तुम्हारा वह उत्साह? क्यों ने नसों में रुधिर– प्रवाह?
हुई निराशा क्यों यह घोर? उदासीन तुम अपनी ओर।"[8]
प्रश्न निपात।

---

1. यशोधरा – पृ0 सं0 – 46
2. वही 5 पृ0 सं0 – 13
3. वही 5 पृ0 सं0 – 21
4. वही 5 पृ0 सं0 – 23
5. पंचवटी – 34
6. वही – पृ0 – 47
7. हिन्दू – 36
8. वही – पृ0 सं0 – 81

(19) "न डरो जाति न होगी भ्रष्ट, बढ़ो करो जड़ता नष्ट।
यात्रा के अनुभव–आनन्द, प्राप्त करो, विचरो स्वच्छन्द।"[1]
आज्ञावाचक निपात।

(20) "रख न सके हम उसे यत्न आदर करके भी।
जी न भरा हम देख रहे थे जी भरके भी।
पा सकते है नहीं कदाचित अब मरके भी।
रह सकते हा! आज कहीं धीरज धरके भी।"[2]
सीमाबोधक तथा शोक निपात।

(21) "हत भाग्य हाय! हम हैं कांटों–भरे पड़े जो,
सबने स्वभाग्य भोगे।
हा तात! जा रहे तुम आज टूटकर यों, परवश नहीं तुम्हारा
हम रह गये गहन में क्यों हाय! छूटकर यों, पर दोष क्या हमारा।।"[3]
शोक निपात

(22) "हाय आर्य! उद्योग छोड़कर हुए भाग्यवादी क्या आप।"[4]
प्रश्न निपात।

(23) "हा स्वामी कहना था क्या क्या, कह न सकी कर्मों का दोष।"[5]
प्रश्न तथा शोक निपात।

(24) "निकल यहाँ से शत्रु–शरण जा, जिसके गुण पर लुब्ध हुआ।"[6]
आज्ञा निपात।

(25) आप किस द्वीप के नरेन्द्र–कुल–दीप हैं।"[7]
प्रश्न निपात

---

1. हिन्दू – 209
2. उच्छ्वास – 14
3. वही – – 54
4. प्रदक्षिणा – 23
5. वही –
6. वही – 61
7. लीला – 90

(26) "यह क्या, यह क्या, मुने! अहा! ये तो बालक है।"[1]

विस्मयादि निपात।

(27) "अब भी खाने जनतीं हीर, अब भी हैं रघुवंशी वीर।
अब भी सागर बना अथाह, अब भागीरथी–प्रवाह।"[2]

सीमाबोधक निपात

(28) "हाय सखी तूने यह क्या कर दिया अभी।
कैसी एक हूक–सी उठा दी इस उर में।"[3]

प्रश्न विस्मयादि निपात

(29) "मीरा यों अधीरा न हो, ऐसा नरदेव क्या,
देखा कभी तूने? अभी देखते ही इसको।"[4]

आज्ञा तथा सीमाबोधक निपात।

(30) "देखो इन दो में है तुम्हारा जन कौन–सा।"[5]

प्रश्न निपात।

(31) " न संकोच देते हैं तुझे, अहा! कौन सा महोदार है।"[6]

विस्मयादि बोधक निपात।

(32) "करेगा जो कर्त्ता अनुचित न होगा कभी।
उसी में प्रकटित होंगे हमारे शुभ सभी।"[7]

सीमाबोधक निपात।

(33) इस समय न छेड़िए, मुझे काम है।"[8]

निषेध निपात।

---

1. लीला – 25
2. वही – 103
3. विष्णुप्रिया – 17
4. विष्णुप्रिया – 103
5. वही – 102
6. चन्द्रहास – प्रथम – 32
7. वही – द्वितीय – 59

(34) "इतनी मूर्च्छित हुई हाय! मति मोहमयी।
तेरी करुणा पुनः हँसी में बदल गयी।"[1]
शोक निपात

(35) "सब कहें अपनी, सुनै तब कौन किसकी बात।
जाय तम का द्वन्द्व कैसे मोह की है रात।"[2]
प्रश्न निपात।

(36) "आ बन्धु इतना बोध, देगा तुम्हें पथ–शोध
होगा अवश्य सुधार, समझो इसे उपहार।"[3]
हर्ष निपात।

(37) "मानो न और प्रमाद, यह आज की है याद।
है वर्ग जिनका सैन्य, अनुचित उन्हें है दैन्य।"[4]
आज्ञा निपात।

(38) "कौन जानता मौन भाग्य का भेद है।"[5]
प्रश्न निपात।

(39) "पर हाय इस उद्यान का कुछ दूसरा ही हाल है!
पतझड़ कहें या सूखना, काया पलट या काल है।।"[6]
शोक निपात।

(40) "तुम कौन जिनके लिए हमको यहाँ अवकाश हो,
सुख भोगते हैं हम हमें क्या जो किसी का नाश हो।"[7]
प्रश्न निपात।

---

1. झंकार – 64
2. वही – 58
3. अनघ – 14
4. वही – 15
5. वही – 116
6. भारत–भारती – 13
7. भारत–भारती – पृ० सं० –120

(41) "खाओ-पिओ, मौजें करो, खेलो-हँसो सो ठीक है।"[1]

आज्ञा निपात।

(42) "आह चीरती हुई अभागे की यह छाती।
वह पुकार की प्रखर धार थी, धँसती आती।।"[2]

शोक निपात।

(43) क्या क्षत्रिय-तन नहीं किया मैने भी धारण?
रण में दोनों ठीक मरण हो चाहे मारण।।"[3]

प्रश्न निपात।

(44) "पिता अभी कह गये, "सदा तू सच्चा रहना।
स्वयं जो न कर सके, दूसरे से मत कहना।।"[4]

आज्ञा निषेध निपात।

(45) "हा! हा! खाती हूँ न हाय! तुम यों कहो!
शान्त रहो दुर्भाग्य जानकर सब सहो।"[5]

शोक निपात।

(46) "न लो लूट का नाम, पाप है पाप ही।
फल पावेंगे सभी किये का आप ही।"[6]

निषेध निपात।

(47) "नर होकर भी हाय सताता है नारी को।
अनाचार क्या कभी उचित है बलधारी को?"[7]

शोक, प्रश्न निपात।

---

1. भारत - भारती - पृ0 सं0 -121
2. अजित - 15
3. वही - 21
4. वही - 72
5. किसान - 28
6. किसान - पृ0 सं0 - 29
7. सैरन्ध्री - पृ0 सं0 - 22

(48) "मुझे न उसके पास भेजिए, यही विनय है।
क्योंकि धर्म के लिए वहाँ जाने में भय है।"[1]
निषेध निपात।

(49) "हाय! हम जैसे पाँच-पाँच पुत्र रहते।
जननी हमारी सहे ऐसे दु:ख दहते।"[2]
शोक निपात।

(50) "और क्या हो, कोई जो न पागल हो ऐसे में।
रहना तो था ही, रही जैसे बना, जैसे में।"[3]
प्रश्न निपात।

(51) "कुछ कर सकते नहीं, विवश हैं बैठे हैं हम हार।
छिने हाय घर-बार हमारे, छिने सभी अधिकार।"[4]
विस्मयादि (शोक) निपात।

(52) "यह क्या?, यह क्या? कहकर दानव हुए सशंक सभीत।"[5]
प्रश्न निपात।

(53) "नियम का पालन किसके संग? प्रश्न है कृष्णा सव्यंग।
किन्तु वह है आत्मा का अंग, करे हम उसका कैसे भंग?"[6]
प्रश्न निपात।

(54) "देखकर तुमको सम्मुख हाय! क्रोध उनका न कहीं जग जाय।
रहेगा तो फिर कौन उपाय? न समझो तुम उनको असहाय।"[7]

---

1. सैरन्ध्री - पृ0 सं0 - 22
2. हिडिम्बा - पृ0 सं0 - 9
3. वही - पृ0 सं0 - 35
4. शक्ति - पृ0 सं0 - 5
5. वही - पृ0 सं0 - 11
6. वन-वैभव - पृ0 सं0 -30
7. वही - पृ0 सं0 - 5

(55) "वत्स अर्जुन, सत्वर जाओ! और तुम उन्हें छुड़ा लाओ।"[1]

आज्ञा निपात।

(56) "जा बेटा कदाचित् सदा के लिए "हाय रे"।[2]

शोक निपात।

(57) "रोके नहीं।" ठाकुर ने आज्ञा यह उनकी।"[3]

आज्ञा निपात।

(58) "भोग न था हाय मेरे यौवन के भाग्य में।

यों ही यहाँ आया और यों ही अब मैं चला।"[4]

शोक निपात।

(59) "क्या कह रहे हो तुम, जान नहीं पड़ता।

मेरी भावनाएँ आज यों ही कुछ थोड़ी क्या।"[5]

प्रश्न निपात।

(60) "राम राम! बोली वह नारी घृणा–भाव से

तो फिर तुम्हें ये घर लाये क्यों तुम्ही कहो।"[6]

विस्मयादि (घृणा) प्रश्न निपात।

(61) "भोजन न छोड़े, अहा! अन्न मय प्राण हैं।"[7]

निषेध निपात।

(62) "वैर किंवा प्रेम? यदि वैर ही भाग्य में,

तो क्यों आपकी ही असि आपके विरुद्ध हो।"[8]

प्रश्न निपात।

---

1. वन–वैभव – पृ0 सं0 – 33
2. विकट-भट – पृ0 सं0 – 9
3. विकट भट – पृ0 सं0 – 11
4. अर्जुन और विसर्जन – 4
5. अर्जुन और विसर्जन – पृ0 सं0 – 5
6. सिद्धराज – पृ0 सं0 – 9
7. सिद्धराज – पृ0 सं0 – 17
8. वही पृ0 सं0 – 85

(63) "जाओ बच्चों तुम अनन्त में, विचरो यही विवेक।"[1]
आज्ञा निपात।

(64) "अन्तवन्त हम हन्त! कहाँ से वह अनन्तता लावें।"[2]
प्रश्न निपात।

(65) "अहा! उसी में एक कुसुम-सा यह जन भी खिल जावे।"[3]
हर्ष निपात।

(66) "इतना गौरव कैसे झेले छोटा मेरा वित्त?।"[4]
प्रश्न निपात।

(67) "स्वागत शुभे तुम्हारा, आहा! निरवधि विधि की सृष्टि,
पर अपनी सीमा में आकर रुक रहती है दृष्टि।"[5]
हर्ष निपात।

गुप्त जी के काव्य में निपात वक्रता श्रेष्ठ कोटि की है, जिससे काव्य में चारुता आ गयी है, शब्द सौन्दर्य के साथ भावसौन्दर्य में भी अभिवृद्धि हुई है। जब तक इस तरह का चमत्कार काव्य में न हो,, काव्य-काव्य नहीं कहलाता। श्रेष्ठ काव्य तो वही है जो वक्रता के माध्यम से जनमानस का कंठहार बने। गुप्त जी की अपनी अलग विशेषता है, उनके काव्य की अस्मिता इसी बात से है, उसमें निपातों का सुन्दर सटीक प्रयोग है। इन प्रयोगों ने ही उन्हें श्रेष्ठ कवि बनाया है।

---

1. द्वापर – पृ0 सं0 – 85
2. वही – पृ0 सं0 – 132
3. वही 5 पृ0 सं0 –107
4. पृथ्वी पुत्र – 21
5. पृथ्वी पुत्र – 17

षष्ठ अध्याय

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में वस्तु वक्रता

षष्ठ अध्याय

मैथिली शरण गुप्त के काव्य में वस्तु वक्रता

वाक्य वक्रता सामान्यता वस्तु वक्रता से निःसृत होती है। कुन्तक ने बतलाया है कि पदार्थों का ज्ञान होने पर ही वाक्यार्थ का ज्ञान हो सकता है। अर्थ की वक्रता अथवा वस्तु वक्रता की परिभाषा देते हुए कुन्तक ने लिखा है – "वस्तु का उत्कर्षशाली स्वाभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों का वर्णन अर्थ या वस्तु की वक्रता कहलाती है।" इसके दो भेद हैं – सहजा और आहार्या। सहजा कवि की शक्तिजन्य है और आहार्या व्युत्पत्तिजन्य। वस्तु की शोभा चाहे सहज हो अथवा आहार्य लेकिन वह नवीन कल्पना के कारण लोक प्रसिद्ध पदार्थों को अतिक्रमण करने वाली अवश्य हो (निर्मितिनूतनोल्लेखलोकातिक्रान्तगोचरा) स्वयं कुन्तक बतलाते हैं कि कवि का काम अविद्यमान पदार्थों को उत्पन्न करना नहीं है। आहार्य शोभा अर्थालंकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। लेकिन आधुनिक आलोचना की भाषा का सहारा लें तो आहार्य शोभा अभिव्यंजना का समस्त कौशल है। इस प्रकार वस्तु वक्रता के दो भेद हुए : पदार्थ की सहज शोभा और अभिव्यंजना का कौशल।

सहजा :– सहज शोभा में वस्तु का प्रकृत वर्णन रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि इनके स्वभाविक धर्म प्रकृत्या रमणीय होने चाहिए। जहाँ वस्तु सौन्दर्य का अभाव होता है, वहाँ कवि उसकी पूर्ति अभिव्यंजना के कौशल के द्वारा किया जाता है। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि पदार्थों के स्वभाव की सुकुमारता के वर्णन के प्रसंग में उपमा आदि वाच्य अलंकारों का अधिक उपयोग उचित नहीं हो सकता है। कारण कदाचित यह है कि उसमें पदार्थों के स्वाभाविक सौन्दर्य के अतिशय में मलिनता आने का भय रहता है।

कुन्तक जिसे वाच्य वक्रता या वस्तु वक्रता कहते हैं उसे ही प्राचीन आलंकारिकों ने स्वाभावोक्ति अलंकार के नाम से कहा है। कुन्तक की मान्यता है कि वस्तुएं दो प्रकार की होती हैं – अनुत्कृष्ट धर्म से युक्त।

और उत्कृष्ट धर्म से युक्त। उनका स्पष्ट अभिमत है कि अनुत्कृष्ट धर्म से युक्त रद्दी वर्णनयी अलंकृत करने पर भी आयोग आधारमित्ति पर बनाए हुए चित्र के समान वह अधिक शोभाजनक नहीं हो सकता है। इसलिए अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्म से युक्त उस प्रकार की उस वस्तु को औचित्य के अनुसार यथायोग्य रूपकादि अलंकारों से युक्त करना चाहिए। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि जहाँ वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य का प्राधान्य विवक्षित है उसके लिए रूपकादि अलंकार का अधिक प्रयोग लाभदायक या उपयोगी नहीं होता है। क्योंकि उससे वस्तु के स्वाभाविक सौकुमार्य का अथवा रस आदि के परिपोषण का दब जाना संभव हो सकता है। प्रसंगात् कुन्तक ने यह उदाहरण दिया है कि सुन्दरी स्त्री सब प्रकार से अलंकार्य होने पर भी स्नान के समय अथवा विरह के कारण व्रत लिए होने पर और सुरत के बाद अधिक अलंकारों को सहन नहीं करती है, क्योंकि उन दशाओं में तो उसका स्वाभाविक सौन्दर्य ही रसिकों के हृदय के लिए आह्यादयक होता है। इसी प्रकार स्वाभाविक सौन्दर्य के विवक्षित होने पर अधिक अलंकारों का प्रयोग उचित नहीं होता है। ऐसे अवसरों पर यदि अलंकारों का प्रयोग अधिक होता है तो सहृदय का आकर्षण वस्तु से हटकर अभिव्यंजना पर केन्द्रित हो जाता है।

कविता के कई उच्चतम प्रकार ऐसे होते हैं, जहाँ अलंकारों के अभाव में भी सौन्दर्य का पूर्ण परिस्पन्द रहता है। तात्पर्य यह है कि कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनका प्रकृत रूप ही मन में उल्लास भर देता है। कुन्तक ने वयः सन्धि, ऋतु सन्धि, जल विहार के बाद नारी के विन्यास आदि का उदाहरण देकर यह निर्देश किया है कि नारी अंगों का सौन्दर्य तथा प्रकृति की की रंगोज्जवल छटा अपने स्वाभाविक रूप में ही रमणीय होती है। सुकुमार स्वाभाव का कवि अपनी सहज प्रतिभा के द्वारा इन पदार्थों का चयन और उनकी रमणीय विशेषताओं का उद्घाटन करने में समर्थ होता है।

कुन्तक का यह मत सौन्दर्यशास्त्र के सबसे गहन और जटिल प्रश्न को उपस्थित कर देता है। प्रश्न यह है कि सौन्दर्य वस्तु की विशेषता है

अथवा यह कविकर्म की प्रसूति है। अवश्य ही कुन्तक के मत में वदतोव्याघात है। एक ओर वे सौन्दर्य को कविकर्म से व्युत्पन्न मानते हैं और दूसरी ओर वे वस्तु की रमणीयता को भी स्वीकार करते हैं। काव्य यदि कवि का कर्म है तब कवि किसी भी वस्तु में सौन्दर्य का उन्मेष कर सकता है। ऐसी स्थिति में मुख्य वस्तु नहीं वरन मुख्य है कवि की सरस्वती। लेकिन यदि वस्तु में रमणीयता है तब कवि का योगदान क्या है? कुन्तक के काव्यशास्त्र में इस वदतोव्याघात का निदान क्या है?

इस सदी के आरम्भ में क्रोचे ने अपने सौन्दर्य शास्त्र में इस समस्या पर कुछ नया चिन्तन प्रस्तुत किया है। क्रोचे ने बतलाया है कि सुन्दरता वस्तु की नहीं, वरन् मन की विशेषता है। यह एक आध्यात्मिक क्रिया है। वस्तु के नैसर्गिक सौन्दर्य का भी अन्वेषण होता है। कल्पना योग के बिना प्रकृति का कोई भी अंश सुन्दर नहीं दीखता है। यह तो हमारी कल्पना है जो वस्तु की अनेक छवियों का अंकन करती है। प्रकृति में ऐसा कुछ नहीं है जिसे एक कलाकार थोड़ा संशोधित नहीं कर दे। इस प्रकार स्वभावोक्ति भी वस्तु दर्शन का एक कोण ही सिद्ध होती है। इस दृष्टि से विचार करने पर कुन्तक की अपेक्षा क्रोचे सत्य के अधिक समीप दीखते हैं। कुन्तक वस्तु में ही रमणीयता का विधान करते हैं। किन्तु रमणीयता मन का गुण है। मन का रुझान जैसा और जिस ओर होता है, वस्तु के उसी पक्ष की शोभा व्यक्ति के मन में उभरती है। लेकिन तब क्या कारण है कि बहुत दिनों से कुछ विशेष चीजें अधिक सुन्दर मानी जाती हैं? क्रोचे कहता है कि यह पुराना संस्कार भर है। सामाजिक, सांस्कृतिक संस्कारों के कारण हम कुछ वस्तुओं को अधिक सुन्दर मानते आये हैं। यदि हमारे संस्कार परिवर्तित हो जाते हैं तब हम फिर उन वस्तुओं को सुन्दर नहीं कहते हैं।

इस प्रकार वस्तु की जो सहज शोभा है वह भी कवि कर्म से उत्पन्न है। शोभा कवि का मानसिक उत्पादन है लेकिन कवि जहाँ वस्तु की वक्रता

का ही अन्वेषण करने में अधिक सजग होता है। वहाँ वह उपमा आदि वाच्य अलंकारों का अधिक उपयोग नहीं करता है। तात्पर्य यह है कि वस्तु वक्रता में कवि वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव के उद्घाटन में अधिक तत्पर रहता है, न कि अभिव्यंजना के चमत्कार को उपस्थित करने में।

कविता नव्य मिथक और यथार्थ का सहज सृजन कर सकती है। लेकिन वस्तुवक्रता अर्थात् स्वभावोक्ति में यह संसार को ताजे कोण से देखती है। स्वभावोक्ति का असल सामर्थ्य यही है। वस्तु दर्शन के क्षेत्र में यह कल्पना का प्रसार है। यहाँ कल्पना योग से उन वस्तुओं का भी दर्शन होता है जिन्हें सामान्यतया आँखे देख नहीं पाती हैं। यानी स्वभावोक्ति दैनंदिनी जीवन की वस्तुओं में चारुत्व का नव्य संचार है। कल्पना के रंगों के संस्पर्श से वस्तुओं में सहज किन्तु मोहक आकर्षण का संचार हो जाता है। तात्पर्य यह है कि रमणीयता वस्तु में सन्निहित हो, सो बात नहीं है। रमणीयता का संचरण वस्तु दर्शन के कोण से होता है। सौन्दर्य अन्ततः कवि कर्म का ही प्रपंच ठहरता है।"[1]

वस्तु के क्षेत्र में कवि दृष्टि की सिद्धि ताजगी के संधान में है, इस ताजगी का संधानपर्यवेक्षण का परिणाम है –

" चूमता था भूमितल को अर्द्ध विधु–सा भाल।
बिछ रहे थे प्रेम के दृग–जाल बन कर बाल।
छत्र सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ'।।[2]

निम्न पंक्तियों में वस्तु दर्शन के यथार्थवादी रूप का सा साक्षात्कार होता है –

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 – 405
2. साकेत – प्रथम सर्ग, पृ0 सं0 – 27

कटि के नीचे चिकुर – जाल में
उलझ रहा था बायाँ हाथ,
खेल रहा हो ज्यों लहरों से
लोल कमल भौरों के साथ।
दायाँ हाथ लिये था सुरभित
चित्र–विचित्र – सुमन माला
टाँगा धनुष कि कल्प लता पर
मनसिज ने झूला डाला।।"[1]

<u>आहार्या</u> :–

कुन्तक के मत से यह जो आहार्य–वक्रता है वह प्रस्तुत सौन्दर्य–रूपा होने पर भी अलंकारों के सिवा और कुछ नहीं बनती है। इसलिए उनके उसके अनेक प्रकार के भेदों से पदार्थों का व्यवहार बहुत विस्तृत हो जाता है। कथ्य एक ही रहने पर भी कवि उसका वर्णन भिन्न–भिन्न ढंग से किया करता है। भिन्न–भिन्न ढंग से यह वर्णन ही कवि का आहार्य कौशल है।

यह आहार्य कौशल कवियों के लिए बड़े काम की चीज है। दुनिया बहुत पुरानी हो चुकी है। धरती पर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे कवि ने अपनी कविता में उतारा नहीं हो। विषयों का यह प्रत्यावर्तन कविताओं में चला ही करता है। प्रतिभाशाली कवि की पहचान यह होती है कि पुरानी वस्तु में भी किंचित परिवर्तन उपस्थित कर उसे नूतन काष्ठा की ओर ले जाता है। अभिव्यंजना की नयी प्रणाली का आविष्कार इस कारण प्रत्येक युग में होता रहता है। वस्तु बहुत कुछ वही रहती है तब भी प्रत्येक युग नयी सरस्वती का आह्वान करता है। अलंकार विधान के अनन्त स्वरूप इसी के उपलक्षण मात्र हैं। कविता में पूर्ण मौलिकता नाम की चीज नहीं

---

1. पंचवटी – पृ0 सं0 – 16

होती है। ज्यादातर मौलिकता से तात्पर्य अभिव्यंजना की ताजगी से होता है।

आहार्य कौशल कविता की बड़ी शक्ति है अवश्य, किन्तु उसका अतिरेक स्पृहा के योग्य नहीं है। आहार्य कौशल की शक्ति कसावट में निखरती है। अभिव्यंजनावाद वस्तुतः आहार्य कौशल का स्खलन है। कविताओं की शक्ति कल्पना की सघनता से बढ़ता है न कि उनके फैलाव से। बहुत अधिक उपमाओं का विधान कवि तब करता है जब उसकी प्रतिभा घनीभूत नहीं रहती है। अभिव्यंजनावाद प्रतिभा के स्खलन की कविता है। आचार्य शुक्ल की मुद्रा क्लैशिक थी और उनका अभिबोध महान काव्यों के अनुशीलन से परिष्कृत हुआ था। इसलिए उन्होंने छायावादी काव्य में अभिव्यंजना के अतिरेक का विरोध किया है।

श्री गुप्त जी के साहित्य में कसावट व निखार क्रमशः विकास प्रस्तुत हुआ है –

1. "जिनके सुधामय विमल जल कोमल–सुगन्धित सने हुए,
कुण्डादि सलिलाशय रुचिर थे ठौर–ठौर बने हुए
जोड़े मिलिन्दों के मुदित जिनसे मनोज़ मिले हुए
नलिनी–नलिन आदिक जलज थे एक साथ खिले हुए।"[1]

2. "उसी वन में था एक तड़ाग,
जहाँ उड़ता था पद्म–पराग।
वहाँ का हरा–भरा भू–भाग,
आप उपजाता था अनुराग।
चौखटे में ज्यों हरे जड़ा,
धरा पर हो सुर–मुकुर पड़ा।"[2]

---

1. जयद्रथ वध, चतुर्थ सर्ग, पृ0 सं0 – 42
2. वन वैभव, पृ0 सं0 – 21

3. "आँखे के आगे हरियाली,
रहती है हर घड़ी यहाँ
जहाँ तहाँ झाड़ी में झिरती
है झरनों की झड़ी यहाँ।
वन की एक–एक हिम कणिका
जैसी सरस और शुचि है,
क्या सौ–सौ नागरिक जनों की,
वैसी विमल रम्य रुचि है।"[1]

कुन्तक ने वर्णीय वस्तु के कुछ और भेद बतलाये हैं वस्तु तो पहले चेतन होती है, दूसरा भेद है अचेतन। चेतन पदार्थ के भी दो भेद होते हैं, प्रधान तथा अप्रधान। प्रधान में सुर–असुर गन्धर्व और मनुष्य आते हैं। अप्रधान में सिंह हिरण आदि पशु। कुन्तक का विचार है कि मुख्य चेतन देव आदि का सुन्दर इत्यादि के परिपोष से मनोहर और अपनी जाति के योग्य स्वभाव के वर्णन से अत्यन्त सुन्दर स्वरूप का वर्णन महाकवियों की वर्णना का प्रथम मुख्य विषय होता है। श्री गुप्त जी ने देव पात्रों और मानव पात्रों का सुन्दर विवेचन किया है।

नारी पात्र :–

(1) **उर्मिला** – उर्मिला लक्ष्मण की पत्नी है। साकेत और प्रदक्षिणा में उनका चरित्र मिलता है। पहली विशेषता है –

(क) **प्रेम प्रगल्भा** –

1. "मत्त गज बन कर विवेक न छोड़ना, कर कमल कह कर न मेरा तोड़ना।"[2]

(ख) **उत्सर्ग शीला** –

---

1. पंचवटी, पृ0 सं0 – 11
2. साकेत, प्रथम सर्ग – पृ0 सं0 – 25

2. "मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी,

मैं बाँध न लूँगी तुम्हें तजो भय भारी।"[1]

(ग) **वीर पत्नीत्व :-**

3. "ठहरो, यह मैं चलूँ कीर्ति – सी आगे–आगे।"[2]
प्रदक्षिण में उसका विरहणी रूप के साथ
सदाशयता का रूप चित्रित हुआ है –

"दे न सका संसार हमें कुछ,

हमीं उसे कुछ दे जाव।"[3]

2. <u>सीता :-</u> मैथिलीशरण गुप्त ने सीता के चरित्र चित्रण में नयी रेखाएं अंकित की हैं, साकेत के द्वितीय सर्ग में वे पति की प्रिया ही नहीं रही सहधर्मिणी के रूप में राजविषयक चर्चा भी करती हैं। अष्टम सर्ग में सीता के चारित्र्य की नवीनता दृष्टिगति होती है। पर्णकुटी के वृक्षों को सींचती हुई सीता अपने नए आवास को राजभवन के समान प्रिय मानती हैं। उनका जीवन परिपूर्ण है, किसी भाव या अभाव से उन्हें क्लेश या संताप नहीं है। उनके स्वावलंबी जीवन का यही आनन्द है।

"औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ।

अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ

श्रम–वारि बिन्दु–फज स्वास्थ्य–शुक्ति फलती है

अपने अंचल से व्यजन आप झलती हूँ।"[4]

प्रदक्षिणा में सीता के सहधर्मिणी रूप को चित्रित किया गया है–

"चले राम, सीता भी उनके पीछे चली गहन वनको।"[5]

---

1. साकेत – अष्टम् सर्ग – पृ0 सं0 – 193
2. वही– द्वादश सर्ग – पृ0 सं0 315
3. प्रदक्षिणा – पृ0 सं0 – 26
4. साकेत – पृ0 सं0 – 158
5. प्रदक्षिणा – पृ0 सं0 –24

(3) **कैकेयी** :– उर्मिला के पश्चात् कैकेयी को कवि ने चारित्रिक उत्कृष्ट देने की चेष्टा की है। सर्वप्रथम 'भरत से सुत पर सन्देह, बुलाया तक न उसे जो गेह' उक्ति के द्वारा राम के राज्याभिषेक के अवसर पर भरत की अनुपस्थिति को कवि ने कैकेयी के सन्देह का विषय बनाया है। राम वनवास के समय वह तपस्विनी के रूप में वैधव्य की पीड़ा झेलती रही। उसे वीरांगना के रूप में भी उपस्थित किया गया है। साकेत–सेना के साथ उर्मिला प्रस्थानोद्यत है और कैकेयी :

"भरत जायेगा प्रथम और यह मैं जाऊँगी,
ऐसा अवसर भला दूसरा कब पाऊँगी।"[1]

(4) **कौशल्या** :– कौशल्या मूर्तिमती ममतामयी माता है। कभी वह सीता को युवराज्ञी के योग्य उपदेश देती है और कभी देवार्चन करती है। राम वनगमन के अवसर पर उनका मातृत्व ही सबसे अधिक पीड़ित है और वे राम की भीख तक माँगने को उद्‌धृत हैं, यथा–

"भरत राज्य की जड़ न हिले, मुझे राम की भीख मिले।"[2]

कौशल्या राम और भरत में भेद नहीं मानती–

"राम भरत में भेद नहीं।"[3]

(5) **सुमित्रा** :– सुमित्रा के चारित्र्य में क्षात्र–तेज का आधिक्य है। वे अपने पुत्रों की भाँति उग्र भी हैं। कथांत में उन्होंने कहा है:

"किन्तु तुम्हें ही सौंप चुकी हूँ राम इसे मैं,
लूँ फिर कैसे उसे, दे चुकी, आप जिसे मैं,

---

1. साकेत द्वादश सर्ग – 301
2. साकेत चतुर्थ सर्ग– पृ0 सं0 – 75
3. वही – पृ0 सं0 – 75

लिया अन्य का भार भरत ने, मैं सब हल्की,

तुमको पाया रही कामना फिर किस फल की।"[1]

यह उत्सर्ग–भाव उनके जीवन की कृत–कृत्यता हैं। वे 'सिंही–सदृश क्षत्रियाणी' है और वे कहती है:

"हम पर–भाग नहीं लेंगी, अपना त्याग नहीं देंगी।

वीरों की जननी हम हैं, भिक्षा–मृत्यु हमें सम है।

राघव शान्त रहोगे तुम, क्या अन्याय सहोगे तुम।"[2]

(6) <u>मांडवी</u> :– मांडवी का चरित्र नई कल्पना–सृष्टि है। एकादश सर्ग में वे उपस्थित होकर भरत के साथ संलाप करती है। वे पतिव्रता ही नहीं कुलवधू भी हैं और राज परिवार की सारी चिन्ता उन्हें ग्रस्त किये हुए है। वे अपने पारिवारिक कर्तव्य का मनोयोगपूर्वक निर्वाह करती हैं।

"किन्तु हलाहल भवसागर का शिवशंकर ही पीते हैं।"[3]

(7) <u>श्रुतिकीर्ति</u> :– श्रुतिकीर्ति को कवि ने अंतिम सर्ग में उपस्थित किया है। वे वीर पत्नी हैं और शत्रुघ्न को विदा करते हुए यही कहती हैं।

"जाओ, स्वामी, यही माँगती मेरी मति है,

जो जीजी की, उचित वही मेरी गति है।"[4]

मांडवी और श्रुतिकीर्ति को कवि ने उपेक्षित नहीं रहने दिया। पारिवारिक वातावरण में वे ही सहज ही उपस्थित हो सकती है और हुई भी।

'शक्ति काव्य में गुप्त जी ने दुर्गा को दुष्ट दलना के रूप में चित्रित किया है–

---

1. साकेत – द्वादश सर्ग–331
2. वही – चतुर्थ सर्ग – पृ0 सं0 – 76
3. वही – एकादश सर्ग – पृ0 सं0 – 269
4. वही – द्वादश सर्ग – पृ0 सं0 302

जब तक मेरा खड्ग न करले तेरा शोणित-पान,

तब तक और गरज ले क्षण भर अरे अधम, अज्ञान।

यह कह कर फेंका देवी ने उस पर पाश महान,

बाँधा उस नर-पशु को उसमें, खींचा उसको तान।"[1]

द्वापर की राधिका प्रेयसी है। लेकिन वे मार्ग में बाधा नहीं बनना चाहती है-

"मेर तृप्त प्रेम से तेरी,

बुझ न सकेगी क्षुधा हरे।

निज पथ धरे चला जाना तू,

अलं मुझे सुधि-सुधा हरे।"[2]

माँ यशोदा का पुत्र वत्सला रूप जग प्रसिद्ध है। द्वापर में इसी रूप को चित्रित किया गया है-

"उसे सुलाती थी हाथों पर

जब मैं हिला-हिला के

जीने का फल पा जाती हूँ,

प्रतिदिन उसे खिला के।"[3]

यशोधरा काव्य में यशोधरा विरहणी है, लेकिन स्वामी चोरी से गये इस बात का उन्हें दुख है-

"सिद्धि हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात,

पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।

सखि वे मुझसे कहकर जाते,

कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ बाधा ही पाते?"[4]

---

1. शक्ति - पृ0 सं0 - 15
2. द्वापर - पृ0 सं0 - 12
3. वही - पृ0 सं0 - 16
4. यशोधरा - पृ0 सं0 - 21

स्त्री पात्रों की चर्चा करने के पश्चात् पुरुष पात्रों की चर्चा की जायेगी।

(1) <u>लक्ष्मण</u> :- लक्ष्मण प्रेमी पति हैं और ललित कला के प्रशंसक। उन्होंने अपने प्रेम को त्याग और तपस्या के द्वारा समुज्ज्वल बनाया है। उनकी कर्तव्य-निष्ठा का मूल्य और महत्व भी कम नहीं है। वे उर्मिला पर आसक्त हैं, पर राम के अनुज, सेवक और भक्त भी हैं। उनमें उग्रता और वाचलता अधिक है। राम ही उन्हें बराबर संयत रखते हैं। वे विश्रुत वीर हैं और उनका शौर्य देवताओं से भी श्रेष्ठ हैं। वे राम के शब्दों में "तपस्पृही", "बनवासी" और "निर्मोही" हैं :-

"मेरे लिए विषाद व्यर्थ है, धन्य मैं,
सुप्त नहीं हूँ, सतत सजग, चैतन्य मैं।
मैं तो निज भव-सिन्धु कभी का तर चुका,
राम चरण में आत्म समर्पण कर चुका।"[1]

लीला और पंचवटी के लक्ष्मण वीर हैं -

"जाग रहा यह कौन धनुर्धर
जब कि भुवन भर सोता है?
भोगी कुसुमायुध योगी-सा
बना दृष्टिगत होता है।।"[2]

"अंग स्फूर्ति, लक्ष्य - लघुता भी
उससे कैसी आती है!
मेरी इच्छा है कि सिंह से
आज नियुद्ध मचाऊँ मैं,

---

1. साकेत पंचम सर्ग, पृ0 सं0 - 101

2. पंचवटी, पृ0 सं0 - 6

दोनों पिछले पंजो के बल

उसको नाच नचाऊँ मैं।"[1]

2 राम :–

श्री गुप्त जी ने राम के देवोपम एवं मानवीय रूप को प्रस्तुत किया है। उन्होंने आर्य सभ्यता का प्रचार और आर्य धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की। राम ने स्वयं अपने बारे में कहा है –

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया।

जन–सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया।

सुख–शांति–हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया।

विश्वासी का विश्वास बचाने आया।

मैं आया उनके हेतु कि जो तापित है;

जो विवश, विकल, बल–हीन, दीन शापित है।

हो जायँ अभय वे जिन्हें कि भय भासित है।"[2]

प्रदक्षिणा के राम वीर है –

"राम चन्द्र ने इन्द्रधनुष सा,

चाप चढ़ाकर छोड़े बाण,

रहा राक्षसों के शोणित की

वर्षा का फिर क्या परिणाम।"[3]

लीला के राम क्षात्र धर्म से सुशोभित हैं –

"जिनमें तुम सब सुख पाओ,

खेलो कोई खेंल प्रेम से

किन्तु इसे न भूल जाओ

मृगया क्षत्रिय कुल का गुण है,

---

1. लीला, पृ0 सं0 – 11
2. साकेत, अष्टम सर्ग पृ0 सं0 – 110
3. प्रदक्षिण, पृ0 सं0 – 37

किन्तु अधिकता भली नहीं;

दया खलों पर दुर्बलता है,

किन्तु अधिकता भली नहीं।"[1]

3. <u>भरत :-</u>

भरत का साधु व्यक्तित्व सकरुण है। राम ने उनके श्रेष्ठत्व की व्यंजना इस प्रकार की है -

"उठा भाई, तुल सका न मुझसे, राम खड़ा है,

तेरा पलड़ा बड़ा, भूमि पर आज पड़ा है।" [2]

वे सात्विक प्रवृत्तियों के व्यक्ति हैं तथा तपस्यागी भी। उनकी मातृ - भर्त्सना में लोक-भीरुता, धर्म-निष्ठा, आत्म-ग्लानि और भ्रातृ - भावन का चरमोत्कर्ष दिखाई पड़ता है। वे राम की ही प्रति कृति हैं - "मिले भरत में राम हमें"। चित्रकूट सभा में वे प्रमुखता न पा सके, पर वहाँ भी उनका मानवीय पक्ष ही प्रधान है। उनका शोक-संताप अथवा आत्म-दाह साकेत में सर्वत्र व्याप्त है। मांडवी की उनके सम्बन्ध में यह सार्थक उक्ति है -

"नाथ, न तुम होते तो यह व्रत कौन निभाता, तुम्हीं कहो

मनुष्यत्व का सत्व-तत्व यों किसने समझा-बूझा है

सुख को लात मार कर तुम सा कौन दुख से जूझा है।"[3]

4. <u>दशरथ :-</u> साकेत में दशरथ ममत्व शील और स्नेहार्द्र पात्र हैं। उनका विलाप ही प्रधान है। उनकी सत्यनिष्ठा तथा धर्म भावना की अपेक्षा उनका पुत्र प्रेम प्रमुख हो उठा है। राम के वियोग में मरण तक वरण करते हैं।

"मुझे बन्दी बना कर वीरता से, करो अभिषेक-साधन धीरता से,

स्वयं निःस्वार्थ हो तुम, नीति रखो, न होगा दोष कुछ, कुल रीति रखो।"[4]

---

1. लीला, पृ0 सं0 - 16
2. साकेत, द्वादश सर्ग, पृ0 सं0 - 328
3. साकेत, एकादश सर्ग, पृ0 सं0 - 271
4. साकेत, तृतीय सर्ग, पृ0 सं0 - 42

लीला में श्री गुप्त जी ने दशरथ के पुत्र प्रेम को ही चित्रित किया है –

किन्तु पुत्र, तुम मुझे प्राण से भी हो प्यारे,
हो सकते है प्राण कहीं प्राणों से न्यारे?
बड़े व्रतों से से हाय! हुए हैं जन्म तुम्हारे,
आँखो से क्या अलग करूँ आँखो के तारे।"[1]

5. **परशुराम :–** लीला में गुप्त जी ने परशुराम को क्रोधी शिवभक्त के रूप में चित्रित किया है –

अरे अधम, उद्धत, अज्ञान, तू मुझको वह ब्राह्मण जान
जिसने बल से बारंबार, किया क्षत्रियों का संहार।"[2]

6. **कृष्ण :–** कृष्ण में लोक रंजक सृजन कर्ता का रूप छिपा हुआ है यद्यपि वह अर्जुन के सारथी हैं लेकिन पग–पग में सहायक भी हैं –

सन्तुष्ट तूने है किया निज धर्मपालन से मुझे,
सौभद्र! निज सामीप्य मैं देता को हूँ तुझे।
पर और भी कुछ माँग तू वर वृत्त तेरा गेय है;
अपने जनों के अर्थ – मुझको कौन वस्तु अदेय है।"[3]

7. **बलराम :–** बलराम शक्ति सम्पन्न वीर है हर तरह की चुनौती उन्हें स्वीकार है –

रही चुनौती आज हमारी,
अधिक क्या कहूँ, यम को;
नई सृष्टि के लिए प्रलय भी
प्रेक्षणीय हो हमको।"[4]

---

1. लीला, पृ0 सं0 – 28
2. लीला, पृ0 सं0 – 113
3. जयद्रथ वध: चतुर्थ सर्ग, पृ0 सं0 – 45
4. द्वापर – पृ0 सं0 – 46

8. <u>सिद्धार्थ</u> :– सिद्धार्थ संसार की असरत: को समझते थे इसी कारण से उन्होंने प्रणायन किया दार्शिनिकों की भाँति उन्होंने इस भौतिक वादों झंझावतों को समझा था –

वह जन्म–मरण का भ्रमण–भाषण,
मैं देख चुका हूँ अपरिमाण।
निर्वाण–हेतु मेरा प्रयाण?
क्या बात–वृष्टि – क्या शीत – धाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!"[1]

9. <u>चैतन्य महाप्रभु</u> :– चैतन्य महाप्रभु को देव कोटि का पात्र माना गया है, कृष्ण और राधा के वियोग में कृष्ण–राधा रटते–रटते वे अचेत हो जाते थे। कृष्ण और राधा ही उनके आराध्य हैं –

बहती सदैव रही अश्रु–धारा उनकी,
कभी कृष्ण–योग कभी राधिका – वियोग में।
कीर्तन में मग्न हुए नाचते ही नाचते,
होकर अचेत प्राय: गिर पड़ते थे वे।"[2]

10. <u>मघ</u> :– मघ भगवान बुद्ध का एक साधना अवतार है वे सुधारक हैं उन्हें स्वयं की नहीं दूसरों की चिन्ता है। इस ब्याज स्तुति में मघ की प्रशंसा छिपी है –

"अजी, यह मघ है अच्छा सनकी,
जिसे तन की सुध है न बदन की।
गाँव भर के सुधार का सारा,
लिये बैठा है आप इजारा।

---

1. यशोधरा, पृ0 सं0 – 19
2. विष्णु प्रिया, पृ0 सं0 – 34

न करके उन्नति अपने घर की,

फिक्र करता है वह बाहर की।"[1]

देव स्त्री तथा पुरुष पात्रों के चरित्र का विश्लेषण करने के पश्चात् मानव – स्त्री, पुरुष पात्रों का चरित्र विश्लेषण प्रस्तुत है।

1. **<u>सैरन्ध्री :–</u>** सैरन्ध्री पतिव्रता है, कामुक कीचक उसे तरह का प्रलोभन देकर वशीभूत करना चाहता है, वह किसी भी प्रलोभन में नहीं पड़ती उसे अपने पाँच पतियों के बाहुबल का ज्ञान है –

मेरे पति हैं पाँच देव अज्ञात निवासी,

तन मन धन से सदा उन्हीं की हूँ मैं दासी।

बड़े भाग्य से मिले मुझे ऐसे स्वामी हैं,

धर्म रूप वे सदा धर्म के अनुगामी है।"[2]

2. **<u>हिडिम्बा :–</u>** हिडिम्ब की सहोदरा हिडिम्बा अपने भाई की आज्ञा से मानव मांस प्राप्त करने के लिए आयी है लेकिन भीम के स्वरूप को देख कर वह मोहित हो जाती है और भीम को बचाने का प्रयास करती है –

सोदर हिडिम्ब मेरा रक्षः कुल दीप है,

उसने मनुष्य गन्ध पाके मुझे भेजा है,

आके तुम्हें देख कैसा हो उठा कलेजा है!

मारने को आई थी, बचाऊँगी तुम्हें अहो!

होने से विलम्ब किन्तु डरती हूँ, जो न हो।"[3]

---

1. अनघ, पृ0 सं0 – 17
2. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 7
3. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 16

3. **मीलनदे :-** स्वर्गवासी कर्ण देव की पत्नी, सिद्धराज जयसिंह की माँ, मीलनदे अतिसय उदार हैं। सोमनाथ की यात्रा के लिए जाती हैं, वहाँ पहुँचने पर ज्ञात होता है कि सोमनाथ मंदिर के दर्शन करने के लिए सामान्य जनता से कर लिया जाता है तो वे प्रतिज्ञा करती हैं कि वे सोमनाथ तभी जाएंगी जबकि मंदिर के कपाट जन सामान्य के लिए खुल जायेंगे -

"दर्शन किये बिना - ?"
किसके? तुम्हारी उस पत्थर की पिण्डी के,
जिसको दिखाकर कमाते तुम लाखों हो?
मन्दिर का द्वार जो खुलेगा सबके लिए
होगी तभी वहाँ मेरी विश्वम्भर - भावना।"[1]

1. **अभिमन्यु :-** अर्जुन पुत्र अभिमन्यु अतिशय वीर है, साहसी है, पराक्रमी है। उसकी पत्नी उत्तरा जब उसे युद्ध में जाने से मना करती है तो वह क्षत्रिय धर्म की बात कहता है और कहता है कि उसका जन्म कौरवों को दण्ड देने के लिए हुआ है -

वीरः स्नुषा तुम वीर - रमणी, वीर गर्भा हो तथा,
आश्चर्य जो मम रण गमन से हो तुम्हें फिर भी व्यथा!
हो जानती बातें सभी कहना हमारा व्यर्थ है,
बदला न लेना शत्रु से कैसा अधर्म अनर्थ है?
निज शत्रु का साहस कभी बढ़ने न देना चाहिए,
बदला समर में बैरियों से शीघ्र लेना चाहिए।
पापी जनों को दण्ड देना चाहिए समुचित सदा,
वर वीर क्षत्रिय-वंश का कर्तव्य है यह सर्वदा।।
इन कौरवों ने हा! हमें सन्ताप कैसे हैं दिए,
सब सुन चुकी हो तुम इन्होंने पाप जैसे हैं किए।

---

1. सिद्धराज प्रथम सर्ग, पृ0 सं0 - 18

फिर भी इन्हें मारे बिना हम लोग यदि जीते रहें,

तो सोच लो संसार भर के वीर हमसे क्या कहें?"[1]

2. **सिद्धराज :–** सिद्धराज काव्य में जयसिंह का चरित्र उच्च होते होते हुए भी आदर्श नहीं है। कवि ने उसके पतन का भी निर्देश किया है और वह अपनी कुप्रवृत्तियों पर विजय पाकर ही श्रेष्ठ चरित्र बना है। गुप्त जी की चरित्र – सृष्टि में यह सब विशिष्ट परिवर्तन है। वे पात्रों को गिरने देते हैं और गिरते हुए पात्रों को पुनः उठाते हैं। यह छायावाद युग की यथार्थोन्मुख काव्य चेतना का परिणाम है। नायक का यह नव्य रूप मनोवैज्ञानिक वास्तविकता के काव्य में प्रवेश पा जाने के कारण दिखाई पड़ा। छायावादी काव्य में मानसिक घात–प्रतिघात की व्यंजना की जाती थी तथा नाटकों और उपन्यासों में अन्तर्द्वन्द्ध की योजना प्रमुखता पा रही थी।

सिद्धराज जहाँ एक ओर वीर है –

"दिया हाथी ललकार कर वीर ने

प्रबल चलाचल यश–पटह नाम का

मारकर टक्कर चिंघाड़कर उसने

दुर्ग के किवाड़ फाड़ डाले तोड़–तोड़ के।

आड़ में उसी की वच वैरियों को मारते,

घुस गये सैनिक प्रचंड नाद करके।"[2]

वहीं दूसरी ओर वह निष्ठुर भी हैं। राना के सुकुमार पुत्रों को यह कहकर मार दिया –

"साँप के सँपुलिए भी छोड़े नहीं जाते हैं।"[3]

3. **जगद्देव :–** राना की विधवा रानकदे सती होना चाहती है लेकिन सिद्धराज उसे अपनी प्रेयसी बनाना चाहता है तो जगद्देव रानकदे को

---

1. जयद्रथ वध प्रथम सर्ग, पृ0 सं0 – 7
2. सिद्धराज, प्रथम सर्ग, पृ0 सं0 – 31
3. सिद्धराज, तृतीय सर्ग, पृ0 सं0 – 53

अपनी बहन बना लेता है उसकी हर तरह से रक्षा करता है, सिद्धराज को पतन के मार्ग से बचाता है –

"भार है सती के पर्यवेक्षण का मुझको।"

किससेनियुक्त तुम?"

"जेता जयसिंह से।

मैं वह नहीं हूँ?"

तुम कोई व्यभिचारी हो

कामी – कूर – कापुरुष।"

सिद्धराज क्या हुआ?"

"मर गया हाय! तुम पापी प्रेत उसके।"

ओंठ काटे राजा ने -------- "अभी मैं बतलाता हूँ,

मृत हूँ या जीवित हूँ, प्रेत हूँ, या सत्य हूँ।"

"सत्य जो तुम्हीं हो जयसिंह देव सोलंकी,

हाय! तो आरक्षित है अब हम सबके

अन्त:पुर। महाराज, अब भी समय है,

शाप न लो आप क्षमा माँगो सती देवी से।

देव होते होते तुम दैत्य हो उठे हो क्यों?"

"जैसे राजभक्त राजद्रोही तुम हो उठे।"

"यदि यह राजद्रोह,तो मैं राज विद्रोही,

लाख बार, साख के बिना ही किसी और की।

कोई कहे, कौन बड़ा धर्म आज इससे?"

"मेरे सामने से हट जाओ तुम, दूर हो।"

"काल भी समर्थ नहीं वीर को हटाने में,

किन्तु कहां जाऊँ, किसे मुख दिखालाऊँ मैं?

वध्य मानता हूँ तुम्हें, तो भी अन्य मार्ग है

मेरे रक्षणीय तुम, मेरी यह असि लो,
और मार डालो मुझे, पतन तुम्हारा मैं
देख नहीं सकता हूँ। बस मारता हुआ।"[1]

4. **मदन वर्मा :–** मदन वर्मा महोबा नरेश हैं सच्चे अर्थों में प्रजा पालक हैं। प्रजा के हर सुख दुख की चिन्ता उन्हें है। वे एक योगी की तरह राज्य करते हैं। सिद्धराज उनके वैभव को देखकर ईर्ष्यालु हो उठता है –

श्रीयुत मदन वर्मा सदन सुकर्मों का,
शौर्य में भी, वीर्य में भी इन्द्र हैं महोबे का।
संगर विनोद, राग–रंग–मोद दोनों में
एक–सा कुशल है कृती जो गुण–गौरवी।
मन से वरुण है, कुबेर वह धन से,
देता और भोगता है शूर दोनों हाथों से,
रात में भी जागता है, सोती है सुखी प्रजा।"[2]

5. **कीचक :–** विराट नरेश का साला सुदेष्णा का भाई कीचक यद्यपि प्रधान सेनापति हैं द्रौपदी के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है। सारी पद प्रतिष्ठा की बात भूल जाता है और अति शय कामी के रूप में उपस्थित होता है –

रौरव में भी तेरे लिए जा सकता हूँ हर्ष से।
यह कह कर कीचक भी गया मानो विजयोत्कर्ष से।"[3]

6. **भीम :–** महाभारत के पात्र भीम अतिशय बलशाली हैं, वीर साहसी हैं, श्री गुप्त जी ने भीम के परम्परित, विश्रुत रूप को प्रस्तुत किया

---

1. सिद्धराज, तृतीय सर्ग, पृ0 सं0 – 57
2. सिद्धराज, पंचम सर्ग, पृ0 सं0 – 81
3. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 39

है। सैरन्ध्री के भीम बलशाली हैं –

"पल में खल पिस उठा भीम के आलिंगन से।
दाँत पीसकर लगे दबाने वे घन घन से।।"[1]

"हिडिम्बा" के भीम, साहसी एवं वीर हैं –

"भीम हँसे – "आ गया मृगव्य आप मेरा है।
अन्य बलिदान वाली पूजा है अशक्तों की,
ईश चाहता है आत्मबलि ही स्वभक्तों की।
राक्षस, सहायता मैं दूँगा तुझे इसमें,
आज तुझे छोड़ के विनोद मेरा किसमें?"[2]

7. <u>युधिष्ठर :–</u> सत्यनिष्ठ युधिष्ठिर अतिशय उदार धर्मज्ञ एवं वन्धुवत्सल हैं। दुर्योधन ने उन्हें अज्ञातवास भोगने के लिए विवश कर दिया, लेकिन दुर्योधन जब गन्धर्वों से पराजित हो गया, उसे बन्दी बना लिया गया तो युधिष्ठिर सारा वैर भाव भूल कर अर्जुन को आदेश देते हैं कि वे दुर्योधन को छुड़ाकर लाएं –

"वत्स अर्जुन, सत्वर जाओ। और तुम उन्हें छुड़ा लाओ।।
शत्रु समझो तो भी आओ। द्विगुण जय यों उन पर पाओ।।
भीम, सहदेव, नकुल सब लोग। करो जाकर समुचित उद्योग।।"[3]

8. <u>सबल सिंह :–</u> "विकट भट" के पात्र सबल सिंह, वास्तव में सबल हैं, अपमान का बदला लेने के लिए वे कुछ ही साथियों के साथ पोकरण दुर्ग में प्रवेश किया, युद्ध में जूझते हुए वीर गति प्राप्ति की।

---

1. सैरन्ध्री, पृ0 सं0 – 40
2. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 19
3. वन – वैभव, पृ0 सं0 – 33

"टुकड़ी ने झंझा ने समान जोधपुर के
घोर दल – बादल को छिन्न – भिन्न करके
और भली भांति से उड़ाके धूलि उसकी
रण में सबल सिंह – युक्त गति वीरों की।"[1]

इतने पात्रों का विवेचन करने के पश्चात् कुछ गौण पात्र ही शेष रह जाते हैं। पात्रों का चारित्र्य विश्लेषण करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त जी के वस्तु–विन्यास की भांति उनका चरित्र–चित्रण सदोष नहीं है। चित्रण पद्धति के अन्तर्गत प्राचीन नाट्य–शिल्प की युग्म प्रणाली नवीन युग की अभिनयात्मक प्रणाली और कवि–कथन की वर्णन–प्रणाली का सुप्रयोग प्रकट होता है। पात्र भी परस्पर, एक दूसरे के चरित्र पर टिप्पणी करते जाते हैं। गुप्त जी ने अपने पात्रों को चारित्र्य–सम्पन्न और व्यक्तित्वपूर्ण बनाया है। चरित्र निर्माण की कला ही उनका साध्य और कथा–शिल्प का प्रतिपाद्य रही है, पर कवि की सरलता और भावनाशीलता उसके पात्रों में सर्वत्र परिलक्षित होती है।

अचेतन वस्तु – प्रकृति आलंबन के रूप में

कुन्तक का कहना कि बहुत से जड़ पदार्थों का भी स्वरूप रस के उद्दीपन विभाव के रूप में कवियों की वर्णना का विषय होता है। जड़ अर्थात् अचेतन जल, वृक्ष, पुष्प और समय इत्यादि का इस प्रकार रस के उद्दीपन के सामर्थ्य के प्रदर्शन से मनोरम स्वरूप वर्णनीयता को प्राप्त होता है। पुराने काव्यशास्त्र ने वस्तुतः मनुष्य को अधिक महत्त्व दिया और उसके परिवेश का महत्त्व मनुष्य की सापेक्षता में ही रेखांकित किया। जीवन सामन्ती संस्कारों के कारण प्रणय और विरह में इतना बद्ध हो गया कि प्रकृति का स्वतन्त्र महत्त्व रहा ही नहीं। प्रकृति सदा मनुष्य के प्रणय–विरह को उद्दीप्त करने के ही आती रही। कोई भी काव्य शास्त्र अपने युग के काव्य की कुक्षि से जन्म लेता है, चूंकि आलम्बन के रूप में केवल नर–नारी ही काव्य में सीमित

---

1. विकट भट, पृ0 सं0 – 7

रह गये, इसलिए आचार्यों ने बाह्य–प्रकृति को उद्दीपन विभाव के खाते में डाल दिया। तात्पर्य यह कि प्रकृतिभाव के आलम्बन के योग्य नहीं, केवल उसे उदीप्त करने में समर्थ होती है। उद्दीपन के रूप में वस्तु का सीमित हो जाना वस्तु की महिमा का क्षय है। वस्तु भी स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान् होती है, वस्तु की असल चरितार्थता को स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान् बनने में ही सिद्ध होती है। मध्यकालीन कवियों ने प्रकृति को उद्दीपन बना कर वस्तुतः उसकी चरितार्थता को समाप्त कर दिया था। कवि वस्तु के तत्त्वों का सूक्ष्म उन्मूलन करने में तब प्रवृत्त होता है, जब वह भाव का आलम्बन होती है। इसीलिए नदी, वन, पर्वत, झाड़ी, समीर आदि नाम गिनाने के लिए रह गये।

प्रकृति का उद्दीपन रूप ही उसकी सच्ची तस्वीर नहीं है, जब मनुष्य नहीं था तब भी प्रकृति थी, और जब इस नक्षत्र से मानवीय अस्तित्व का लोप हो जाएगा तब भी किसी न किसी रूप में प्रकृति रहेगी। आज भी प्रकृति मनुष्य के परिवेश का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। मनुष्य की कोई भी तस्वीर प्रकृति से विलग होकर खड़ी नहीं हो सकती। बदलते हुए ऋतु–चक्र हमारे मन को प्रभावित करते हैं। अनादिकाल से प्रकृति की गोद में पलने वाले मनुष्य को प्रकृति से सहज स्नेह होता है। अतएव प्रकृति को केवल उद्दीपन के रूप में उपस्थित करना भाव संकोच है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने झुंझला कर लिखा है कि, "जो प्राकृतिक दृश्यों को केवल कामोद्दीपन की सामग्री समझते हैं, उनकी रुचि भ्रष्ट हो गयी है।"

प्रकृति प्रेम का मुख्य कारण है साहचर्य की भावना। आदिमकाल से मनुष्य प्रकृति के बीच रहता आया है। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जिसमें साहचर्य के कारण गहन प्रेम का जन्म होता है। मातृभूमि के प्रति प्रेम–साहचर्य भावना के प्रसार के अतिरिक्त और क्या है? जिस मिट्टी के साथ हम अधिक दिनों तक रह जाते हैं उससे जुड़ जाते हैं, हमें प्रेम हो जाता है, यह अपनत्व – ममत्व स्वाभाविक होता है। इस प्रेम की

जड़े हृदय की गहराई तक पहुँचती हैं। साहचर्यगत प्रेम अहेतुक और निर्व्याज होता है।

द्विवेदी युग के कवियों ने प्रकृति का चित्रण तो किया पर आलम्बन के रूप में प्रकृति का अपना व्यक्तित्व नहीं उभर सका। कोई भी वस्तु हमारे भावों का आलम्बन हो सकती है, बशर्ते कि उसके प्रति हमारा रागात्मक ऐश्वर्य पूरी तरह उभर सके। किसी भी वस्तु के प्रति रागात्मक ऐश्वर्य के उभरने के मूल में हमारा जीवन–दर्शन प्रच्छन्न रहता है। वस्तु–दर्शन का कोण अन्ततः जीवन–दर्शन से निःसृत होता है। द्विवेदी युग के कवियों ने अभिषिक्त हृदय से प्रकृति को नहीं देखा। उन्होंने प्रकृति के माध्यम से कथा की घटनाओं और पात्रों के मनोभावों की अनुकूलता व्यंजित की है। उन्होंने प्रकृति के द्वारा अपने जीवन और मनः स्थितियों का चित्रण नहीं किया है। प्रकृति भी जीवित प्राणी की भांति होती है। उसके भी हास, अश्रु और पुलक होते हैं। वह भी समय–समय पर रंग बदलती रहती है।

बदलती हुई प्राकृतिक छटा का अवलोकन श्री गुप्त जी ने कलाकार की भांति किया है। प्रकृति वर्णन में वे द्विवेदी युगीन कवियों से अलग–अलग दिखते हैं। उन्होंने समस्त चराचर को एक नव्य राग बोध से सिक्त कर देखा। इस विशाल ब्रह्माण्ड में ऐसा कुछ नहीं है, जिसके प्रति उनका प्रेम प्रकट नहीं हुआ। आकाश और तारे, सलिल और अनिल, पर्वत और मेघ, ऊषा और संध्या, निदाघ और हेमन्त ज्ञात और अज्ञात सबके प्रति उनका मतत्व उमड़ा, यद्यपि कुछ आलोचक उनके प्रकृति वर्णन को लचर कहते हैं, मैं स्पष्ट रूप से कहना चाहूँगी आवश्यकता है व्यापक दष्टिकोण की, तभी दद्दा के साहित्य का सही मूल्यांकन किया जा सकता है।

वास्तव में प्रबन्ध काव्य के अंतर्गत संश्लिष्ट प्रकृति–चित्र, अंकित किए जाते हैं, पर वे सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हो सकते, उनकी प्रबंधान्तर्गत संगति आवश्यक होती है। वे कथा वस्तु के लिए पृष्ठ भूमि उपस्थित करते हैं अथवा

पात्रों के क्रिया–कलापों की रंगभूमि। छोटे चित्र प्रायः माननीय भावों को उद्दीप्त करते हैं अथवा जीवन स्थितियों को आवश्यक उभार देते हैं। कभी–कभी पात्र अपनी भावना का आक्षेप भी प्रकृति पर कर देते हैं। प्रकृति अलंकरण सामग्री के रूप में भी प्रयुक्त की जाती है, क्योंकि कवि कल्पना केवल मानव व्यापारों में ही केन्द्रित नहीं होती, उसे सौन्दर्य–सृष्टि के लिए मानव जीवन ही नहीं विस्तृत जगत् के दृश्य पदार्थों की काव्यानुभूति भी होती है।

आशय यह है कि गुप्त जी के वृहत् चित्र वर्णनात्मक है और उनकी अपेक्षा छोटे प्रकृति चित्र संश्लिष्ट तथा मार्मिक हैं। उनको प्रकृति का रम्य रूप ही प्रभावित करता है, उग्र अथवा भयानक रूप नहीं :–

<u>आलम्बन रूप :–</u>

नाचो मयूर, नाचो कपोत के जोड़े
नाचो कुरंग, तुम लो उड़ान के तोड़े।
गाओ दिवि, चातक, चटक भृंग भय छोड़े
वैदेही के वनवास – वर्ष हैं थोड़े।
तितली, तू ने यह कहाँ चित्रपट पाया।
मेरी कुटिया में राज–भवन मन भाया।"[1]

(क) **ग्रीष्म :–**

लपट से झट रुख जले जले। नद–नदी घट सूख चले चले।।
विकल वे मृग मीन मरे मरे। विकल ये दृगदीन भरे – भरे।।
या तो पेड़ उखाड़ेगा, या पत्ता न हिलायगा।
बिना धूल उड़ाये हा। उपमानिल न जाएगा।।[2]

---

1. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ0 सं0 – 105
2. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 146

वर्षा –

"दरसो परसो घन, बरसो,
सरसो जीर्ण शीर्ण जगति के तुम नव यौवन, बरसो।
घुमड़ उठो आषाढ़ उमड़ कर पावन सावन, बरसो।
भाद्र – भद्र आश्विन के चित्रित हस्ति, स्वातिधन, बरसो।
सृष्टि दृष्टि के अंजन रंजन, ताप विभंजन, बरसो
व्यग्र उदग्र जगज्जननी के अयि अग्रस्तन, बरसो।"[1]

शरद –

"निरख सखी, ये खंजन आये।
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये।
फैला उनके तन का आतप, मन ने सर सरसाये,
घूमे ये इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये।
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काये,
फूल उठे हैं कमल, अधर–से ये बन्धूक सुहाये।
स्वागत–स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु अर्ध्य भर लाये।"[2]

हेमन्त –

"आलि, काल है काल अन्त में,
उष्ण रहे चाहे वह शीत,
आया यह हेमन्त दया कर,
देख हमें सन्तप्त – सभीत।"[3]

---

1. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 148
2. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 152–153
3. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 156

शिशिर :–

उर्मिला के वियोग वर्णन में षटऋतु का अनुबन्ध स्वीकार किया गया है। गुप्त जी ने षटऋतु की वस्तु परिगणना मात्र नहीं की है। वरन् ऋतुओं की विशेषताओं के साथ–साथ वियोगावस्था का पूर्ण सामंजस्य दिखाया है। शिशिर ऋतु की सामग्री, उदाहरणार्थ – उर्मिला की देह में ही उपलब्ध हो गई है –

"शिशिर, न फिर गिरि – वन में,
जितना माँगें, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में,
कितना कम्पन तुझे चाहिए ले मेरे इस तन में।
सखी कह रही, पाण्डुरता का क्या अभाव आनन में
वीर जमा दे नयन – नीर यदि तू मानस – भाजन में!"[1]

बसन्त :–

"होली – होली – होली।
ऋतु ने रवि–शशि के पलड़ों पर तुल्य प्रकृति निज तोली,
सिहर उठी सहसा क्यों मेरी भुवन–भावना भोली?
होली – होली – होली।
गूँज उठी तितली कलियों पर अड़ अलियों की रोली,
प्रिय की श्वास – सुरभि दक्षिण से आती है अनमोली।"[2]

गुप्त जी के अन्य काव्यों में भी प्रकृति के आलम्बन रूप चित्रित हुए हैं –

1. "कुण्डादि सलिलाशय रुचिर थे ठौर–ठोर बने हुए।
नलिनी नलिन आदिक जलज थे एक साथ खिले हुए
जिन पर कहीं मणि की शिलायें, तृण–वितान कही–कही

---

1. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 159

2. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 162

छोटे बड़े क्रीड़ादि थे शोभायमान कहीं–कहीं।"[1]

2. "पवन कुसुम – पट झटक रहा है,
भौंरे को यह खटक रहा है,
दोनों का मन अटक रहा है,
ऐसे में अनुकूलो,
आओ हृदय – दोल पर झूलो।"[2]

3. "फूल काँटे एक से कृतज्ञ होके विधि के,
पाषर्द बने थे निज जीवन के निधि के,
किरणें चमकती थी उसमें नहा नहा,
उनमें उमड़ता था वह भ हा रहा।
खेलता था चारो ओर दूब में बहा बहा।"[3]

4. "घनघोर वर्षा हो रही है, गगन गर्जन कर रहा।
घर से निकलने को कड़ककर वज्र वर्जन कर रहा।"[4]

5. "कुसुमित हरित भरित उपवन है,
सुरभित मलयज मृदुल पवन है।
पिक कुल – कलकल कलित गगन है,
ललित समय कृत विलुलित मन है।।"[5]

6. "शीतल, सुगन्ध – परिपूर्ण, मन्द,
करती है मानो नेत्र बन्द।
वह चारु चन्द्रिका, रजत – रात,

---

1. जयद्रथ बध – चतुर्थ सर्ग, पृ0 सं0 – 42
2. झंकार, पृ0 सं0 – 49
3. हिडिम्बा, पृ0 सं0 – 11
4. भारत – भारती, पृ0 सं0 – 105
5. चन्द्रहास, पृ0 सं0 – 72

चन्दन चर्चित – सा गगन –गात।"[1]

7. "खिले हमारे आसपास हैं आज सुमन ही।
हरियाली में श्वेत, अरुण, पीले या नीले,
रस से हँसते हुए, ओस से गीले–गीले।"[2]

8. "आया अब यह ऋतुराज, फूल
फूले हैं वन उपवन में,
मारी कोयल ने कूक, प्रेम की
हूक उठी जन – जन में।"[3]

9. "बौरे महुए थे वहाँ और आम मौरे थे।
फूले थे असंख्य फूल, भौंरे सुध भूले थे,
आ गयी थी ऊष्णता खगों के कल–कष्टों में,
गन्ध छा गया था मन्द–शीतल समीर में।"[4]

10. "इसी समय पौ फटी पूर्व में,
पलटा प्रकृति – पटी का रंग,
किरण कण्टकों के श्यामाम्बर
फटा, दिवा के दमके अंग।
कुछ – कुछ अरुण, सुनहली कुछ – कुछ,
प्राची की अब भूषा थी।"[5]

---

1. लीला , पृ0 सं0 – 44[illegible]
2. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 119
3. विष्णु प्रिया, पृ0 सं0 – 91
4. सिद्धराज, पंचम सर्ग, पृ0 सं0 – 82
5. पञ्चवटी, पृ0 सं0 – 26

11. पत्तों पर मोती – हिमकण से प्रात:काल चमकते थे,
सन्ध्या को ऊपर तारागण कैसे दिव्य दमकते थे।
आते जाते समय हमारा मानस हंस मोद पाता,
देख भरा भण्डार प्रकृति का ग्लानि और श्रम मिट जाता।"[1]

12. "खेलो खुलकर सरस बसन्त,
हो जावे अवनति का अन्त।
रूखे खन के सूखे पत्र,
अपने आप झड़ें सर्वत्र।"[2]

13. "यह सन्ध्यातप का सहज सुनहला
मुकुट बाँध वृक्षाली,
पथ देख रही है खड़ी सजाये
फल – फूलों की डाली।
अम्बर की लाली पकड़ रही है
धरती की हरियाली।"[3]

14. "निर्मल – नीलाकाश हासमय
चमके चन्द्र – विकास में
दमके कल – जल, गमके थल–थल
कोमल – कुसुम – पुवास में।
लय से बँधा अराल काल भी,
डूबे रासोल्लास में।"[4]

---

1. किसान, पृ0 सं0 – 11
2. हिन्दू, पृ0 सं0 – 87
3. अनघ, पृ0 सं0 – 34
4. द्वापर, पृ0 सं0 – 53

15. "ऊपर सुनील नभ, नीचे है हरी धरा,

मंद गंध मारुत से मध्य भाग है भरा।"[1]

<u>उपदेशात्मक रूप :-</u> उपदेश निष्ठता सौन्दर्य वर्धक नहीं होती पर कविगण प्रकृति का ऐसा प्रयोग भी प्रायः कर देते हैं ऐसे स्थलों पर प्राकृतिक रमणीयता मानव चिन्ता से आक्रान्त हो उठती है। प्रकृति के सौन्दर्य की अनुभूति नहीं हो पाती कि जीवन का कोई सूत्र डण्डा लिए हुए खोपड़ी पर सवार हो जाता है -

1. "पास-पास ये उभय वृक्ष देखो, अहा,

फूल रहा है एक, दूसरा झड़ रहा।"

है ऐसी ही दशा प्रिये, नरलोक की,

कहीं हर्ष की बात, कहीं पर शोक की।

काँटो का भी भार यही माता सहे,

जिसमें पशुता यहाँ तनिक डरती रहे।"[2]

2. "पत्थर लेकर माघ - निशा के मेघ! न गरजो,

सन सन करके तिमिर - पवन! तुम वृथा न बरजो।

जिसका जो शीतोष्ण, वही उसको झेलेगा,

प्राणों का ही खेल आज यह जन खेलेगा।"[3]

<u>उद्दीपन रूप :-</u>

मैं निज अलिन्द में खड़ी थी सखि, एक रात,

रिमझिम बूँदे पड़ती थीं घटा छाई थी,

---

1. पृथ्वीपुत्र, पृ0 सं0 - 31

2. साकेत, पंचम सर्ग, पृ0 सं0 - 69

3. अजित, पृ0 सं0 - 73

गमक रहा था केतकी का गन्ध चारों ओर,

झिल्ली झनकार यही मेरे मन भाई थी।

करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपरों से,

चंचला थी चमकी, घनाली गहराई थी,

चौंक देखा मैंने, चुप कोने में खड़े थे प्रिय,

माई! मुख–लज्जा उसी छाती में छिपाई थी।"[1]

संवदेनात्मक रूप :–

1. "वह कोइल, जो कूक रही थी, आज हूक भरती है,

पूर्व और पश्चिम की लाली, रोष–वृष्टि करती है,

लेता है निश्वास समीरण, सुरभि धूलि चरती है,

उबल सूखती है जलधारा, यह धरती मरती है।"[2]

2. "जिसके आल– वाल में मैंने

मानस का रस भरा – भरा

सूखा तू मेरे गृह – वन का

प्यारा पौधा हरा – हरा।

कहीं जानता कि इस लोक का

वायु तुझे अनुकूल नहीं,

तो तेरी उस कांट – छाँट का

करता मैं यह भूल नहीं।"[3]

3. "उड़ गया किन्तु वह रंग, राग ही

शेष रहा इस मन में!

---

1. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 150
2. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 139
3. उच्छ्वास, पृ0 सं0 – 30

झोली ही प्रिय के हाथ, हाय!

पद रुधिर – भरे रोते हैं।"[1]

4. "हेम पुञ्ज हेमन्तकाल के इस आतप पर वारूँ,
प्रियस्पर्श की पुलकावलि मैं कैसे आज विसारूँ?
किन्तु शिशिर, ये ठण्डी साँसें हाय! कहाँ तक धारूँ?
तन गारूँ, मन मारूँ, पर क्या मैं जीवन भी हारूँ?"[2]

<u>वातावरण निर्माण रूप :–</u>

1. "नागरिक – गण गोष्टियों से हीन, आज उपवन है विजन में लीन।
वृक्ष मानों व्यर्थ वाट निहार, झँप उठे हैं झीमं, झुक, थक, हार!
कर रही सरयू जिसे कुछ रुद्ध, बह रही है वायु – धारा शुद्ध।
पर किसे हैं आज इसकी चाह? भर रही यह आप ठण्डी आह!
जा रहा है व्यर्थ सुरभि समीर, है पड़े हत–से सरो के तीर।"[3]

2. "आली, पुरवाई तो आई, पर वह घटा न छाई
खोल चंचु–पट चातक, तूने ग्रीवा वृथा उठाई।
उठकर गिरा शिखण्ड, शिखी ने गति न गिरा कुछ पाई,
स्वयं प्रकृति ही विकृति बने तब किसका वश है माई।"[4]

<u>दूत रूप :–</u>

"तुझ पर – मुझ पर हाथ फेरते साथ यहाँ,
शशक विदित है तुझे आज वे नाथ कहाँ?
तेरी ही प्रिय जन्मभूमि में, दूर नहीं,

---

1. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 91
2. यशोधरा, पृ0 सं0 – 42
3. साकेत, सप्तम सर्ग, पृ0 सं0 – 89
4. यशोधरा, पृ0 सं0 – 113

जा तू भी कहना कि उर्मिला क्रूर वहीं।"[1]

मानवीकरण रूप :–

1. ओहो! मरा वह वराक बसन्त कैसा?
ऊँचा गला रुँध गया अब अन्त जैसा।
देखो बढ़ा ज्वर, जरा – जड़ता जगी है,
लो ऊर्ध्व साँस उसकी चलने लगी है।"[2]

2. "अब ऋतु – विपर्यय तो यहाँ आवास ही–सा है किये,
होती प्रकृति में भी विकृति हा! भाग्यहीनों के लिए।
हेमन्त में बहुधा घनों से पूर्ण रहता व्योम है,
पावस – निशाओं में तथा हँसता शरद का सोम है।"[3]

3. "लताएँ वहाँ चित्त को हैं फँसाती,
कभी है खिजातीं, कभी हैं हँसाती,
खुली खेलती हैं, पिकी को खिलातीं,
भुला के नये भृंग को हैं हिलातीं।"[4]

4. "चारु चन्द्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल–थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है
अवनि और अम्बरतल में।
पुलक प्रकट करती है धरती
हरित तृणों की नोकों से

---

1. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 140
2. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 145
3. भारत – भारती, पृ0 सं0 – 103
4. चन्द्रहास, पृ0 सं0 – 67

मानों झूम रहे हैं तरु भी

मन्द पवन के झोंकों से"[1]

5. "मानों पयोधर से धरा के दुग्ध–धारा छूटती
निद्रित दशा में सृष्टि सारी पा रही विश्राम है,
निस्तब्ध निश्चल – प्रकृति की शोभा परम अभिराम है।
भूषण सदृश उडुगण हुए मुखचन्द्र शोभा छा रही,
विमलाम्बरा रजनी वधू अभिसारिका – सी जा रही।
खग – वृन्द सोता है अतः कलख नहीं होता जहाँ,
बस मन्द मारुत का गमन ही मौन है खोता वहाँ।"[2]

<u>प्राकृतिक अलंकरण :–</u>

प्रतीक व्यंजना भावाक्षेप का ही एक प्रकार है पर उसमें अलंकरण की प्रवृत्ति प्रधान हो उठती है अपनी भावना को स्पष्टता व्यंजित करने के लिए कवि कल्पना प्रतीकों का आश्रय लेती है। बाह्य वस्तु पर कवि दृष्टि केन्द्रित हो जाती है पर वह कवि के आत्मजगत् से अप्रथक् भी रहती है। प्रतीक व्यंजना का गुप्त जी ने व्यवहार किया है और मुख्यतः उर्मिला विरह को सजीव बनाने के लिए –

"किसने मेरी स्मृति को बना दिया है निशीथ में मतवाला
नीलम के प्याले में तारक बुद् बुद् देकर उफन रही वह हाला।"[3]

आकाश नीलम का प्याला है और अंधकार का स्मृति को उन्मत्त बनाने के कारण प्रतीक है हाला। कहीं–कहीं गुणों के आधार पर भी प्रतीक कल्पना हुई है। सारूप्य ही नहीं, साधर्म्य भी उसका आधार हुआ है, यथा :

---

1. पंचवटी, पृ0 सं0 – 5
2. जयद्रथ वध, चतुर्थ सर्ग, पृ0 सं0 – 41
3. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 218

ऊषा – सी आई थी जग में, संध्या सी क्या जाऊँ?

श्रांत पवन से वे आवें, मैं सुरभि समान समाऊँ।"[1]

गुप्त जी ने अप्रस्तुत – विधान के लिए भी प्राकृतिक उपयोग किया है। पूर्णपमा का यह उदाहरण –

"चौका वह इस बार, देखकर राम को।

शैवल–परिवृत यथा सरोरुह श्याम को"[2]

यह अलंकरण अर्थग्रहण ही नहीं बिंब ग्रहण भी कराता है। इसी प्रकार कैकेयी का विक्षुब्ध रूप भी प्रत्यक्ष किया गया –

"पड़ी थी बिजली सी विकराल,

लपेटे थे घन जैसे बाल।"[3]

गुप्त जी का काव्य मनुष्य और प्रकृति के नये सम्बन्ध का प्रामाणिक काव्य है। कविता का नया आन्दोलन नयी भावनाओं के उन्मेष से जन्म लेता है। अभिव्यंजना में जो नयी वक्रता आती है, मूल में यही भावोन्मेष रहता है। मानव और वस्तु के सम्बन्ध की विवृत्ति ही भावोन्मेष है। प्रत्येक युग में वस्तु के साथ मनुष्य के सम्बन्ध का नया स्वरूप दीख पड़ता है। यही सम्बन्ध नये काव्य की अंतरंग विशिष्टता बन जाता है। गुप्त जी का प्रकृति वर्णन नये स्वरूपों को धारण किये हुए है, यही उनकी विशेषता है।

---

1. साकेत – नवम सर्ग– पृ0 स0 – 235
2. साकेत – पंचम सर्ग – पृ0 सं0 – 98
3. साकेत – तृतीय सर्ग – पृ0 सं0 –46

सप्तम् अध्याय

प्रकरण वक्रता एवं गुप्त जी के काव्य

सप्तम अध्याय

प्रकरण वक्रता एवं गुप्त जी के काव्य

प्रकरण वक्रता में कुन्तक ने वस्तुतः प्रबन्ध काव्यों के कथानक के संगठन और स्वरूप की मीमांसा की है। यह मीमांसा बहुत गहराई तक गयी हो सो बात नहीं है, तो भी कुन्तक को यह श्रेय अवश्य दिया जायेगा कि उन्होंने प्रबन्ध-शिल्प की अनेक दिशाओं का उद्घाटन किया है, उनकी मीमांसा कथानक-संगठन की मीमांसा है। लेकिन उससे भी महत्त्व की बात यह है कि इससे अनेक अनुद्घाटित कौशल भी अक्षिप्त किये जा सकते हैं। कुन्तक का अध्ययन बुनियादी अध्ययन है और किसी भी बुनियादी अध्ययन की तरह इसका भी लक्ष्य केवल प्रस्तुत विषय का विवेचन विश्लेषण ही न होकर कितने अप्रस्तुत विषयों के अध्ययन का रास्ता भी खोल देता है। इस दृष्टि से उनके विवेचन की गरिमा की हम सही परख कर सकते हैं।

"प्रबन्ध के एक देश अथवा कथा के एक प्रसंग को प्रकरण कहते हैं। यानी प्रकरण कथा की सबसे छोटी इकाई है। इन्हीं इकाइयों के संयोजन से प्रबन्ध का निर्माण होता है। यानी कथा का एक प्रसंग प्रकरण है और उनके समुच्चय का का नाम ही प्रबन्ध है। प्रकरण विशेष का सौन्दर्य सम्पूर्ण प्रबन्ध को संगठन, शक्ति और दीप्ति प्रदान करता है। अतएव प्रबन्ध के एकदेश की रमणीयता ही प्रकरण-वक्रता है। प्रकरण को चमत्कृत, सरस या रोचक बनाने वाले अनेक प्रसंग होते हैं, जिनका चयन तथा परिपोषण रस-सिद्ध कवि के लिए आवश्यक है। एक देश अथवा एक अंग के सदोष होने पर अंगी भी निर्दुष्ट नहीं रहता है। अतएव प्रकरण-वक्रता का भी अत्यन्त महत्त्व है और कोई भी प्रबन्धकार कवि उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता है।

प्रकरण-वक्रता प्रबन्ध-विधान का ही अंग है। प्रबन्ध विधान के कई अंग होते हैं – कथानक, चरित्र चित्रण, विचार-तत्त्व, पदरचना आदि। अवश्य

ही प्रबन्ध विधान के सभी अंगों पर विचार न कर कुन्तक ने केवल कथानक के संगठन पर ही विचार किया है, किन्तु जैसा कि अरस्तू ने कहा है कि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है घटनाओं का संगठन। कवि आभ्यंतरिक सामंजस्य का सामर्थ्य किस कोटि का है, इसका पता घटनाओं के संगठन से भी लगता है। घटनाओं का संगठन ही प्रबन्ध को स्थापत्य प्रदान कर देना है। एक नवोदित कवि ओर एक प्रौढ़ कवि का अन्तर सबसे अधिक कथानक के संगठन अथवा घटनाओं के विन्यास में ही दीख पड़ता है। अरस्तू का कहना है कि नवोदित कलाकार भाषा के परिष्कार तथा चरित्र-चित्रण की अन्वर्थता में तो पहले सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, पर कथानक का सफल निर्माण करने में उन्हें समय लगता है। अतः कथानक का संगठन ही प्रबन्ध-शिल्प की वास्तविक रीढ़ है। इसके अभाव में प्रबन्धकार कवि का सारा कौशल बिखर जाता है। कथानक की अस्त-व्यस्तता और घटनाओं की विशृंखलता से प्रबन्ध उसी प्रकार विच्छुरित हो जाता है जिस प्रकार इतस्ततः जल के छीटे पड़ने से चित्र की रंग-योजना। प्रकरण वक्रता कथानक के इसी संगठन के अध्ययन का वैज्ञानिक प्रयास है।

प्रकरण वक्रता के प्रकार

1. **भावपूर्ण स्थिति की उद्‌भावना :-** कुन्तक ने प्रकरण वक्रता के नौ उपभेदों का विवेचन-विश्लेषण किया है। यह विवेचन विश्लेषण संस्कृत प्रबन्ध काव्यों को ध्यान में रख कर किया गया है, अतएव उन सभी भेदों को गुप्त जी की प्रबन्ध रचनाओं में ढूँढ निकालना सम्भव नहीं है। उसमें पहली वक्रता है भावपूर्ण स्थिति की उद्‌भावना। वस्तुतः प्रकरण का लक्ष्य घटनाओं का अंकन नहीं प्रत्युत भावपूर्ण स्थितियों की उद्‌भावना ही होती है। काव्यों और विशेषकर प्रबन्धकाव्यों का लक्ष्य रसोद्‌बोध ही होता है। आधुनिक समीक्षा की भाषा में कह सकते हैं कि रागदीप्त कर देना ही प्रबन्ध-कविताओं का मुख्य काम है। कुन्तक के शब्दों में जहाँ अपने अभिप्राय को अभिव्यक्त करने वाली और अपरिमित उत्साह के व्यापार से शोभायमान कवियों की व्यावृत्ति होती है वहाँ और प्रारम्भ

से ही निःशंक रूप से उठने की इच्छा होने पर प्रकरण में वह कुछ अपूर्व वक्रता असीम रूप से प्रकाशित हो उठती है। कुन्तक की भाषा किंचित पुरानी है किन्तु वे इस प्रकरण वक्रता के द्वारा प्रबन्ध रचना के सबसे महत्त्वपूर्ण गुण की ओर इशारा कर रहे हैं। कवितओं में कवि का हृदय ही खुलता–खिलता है। इसी के खुलने–खिलने पर भावपूर्ण स्थिति की उद्‌भावना संभव है। हृदयोल्लास ही जब शतधा होकर विकीर्ण हो उठता है, तब प्रबन्ध रचना विलक्षण मार्मिकता से मंडित हो उठती है। पं0 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जब प्रबन्ध काव्यों में मार्मिक स्थलों की पहचान का सिद्धान्त देते हैं, तब वे नयी भाषा में यही पुरानी उद्‌भावना प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार, प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मार्मिक स्थलों को पहचान सका है या नहीं। यहाँ मार्मिक स्थलों की पहचान में मार्मिक स्थलों की उद्‌भावना को भी समाहित समझना चाहिए। इस भावुकता के अभाव में कथा का अपने आप में कोई महत्व नहीं है। कथा तो शुष्क रेगिस्तान है। उसमें सरसता का समावेश भावुकता की स्रोतस्विनी से ही होता है। भावुकता कथा को मार्मिक बनाती है, रंग देती है, उसे पूरी तरह जीवन्त बना डालती है। इसीलिए प्रत्येक श्रेष्ठ कवि भावपूर्ण स्थितियों की उद्‌भावना करता है। ये ही वे प्रकरण हैं जिन पर सामाजिक का मन बार–बार लौट कर आता है।

भावुकता व्यापक जीवनानुभूति का ही दूसरा नाम है। प्रबन्धकार कवि विराटता में जीवन की उपलब्धि करता है। उसे जीवन का एक ही पक्ष देखते रहना पसन्द नहीं है। वह जीवन के क्षण–क्षण बदलने वाले परिदृश्य का भोक्ता और चितेरा होता है। अपनी भावना के प्रसार में वह उन वस्तुओं का भी भावन करता है, जिनका प्रत्यक्ष अनुभव उसे नहीं है। यानी दूसरे के अनुभव का मानसिक प्रत्यक्षीकरण उसकी विशेषता होती है। पूर्ण भावुक की यही पहचान है। श्री रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे

श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें। सर्वांगपूर्ण भावुकता की यही व्याख्या हो सकती है।

"परानुभाव के मानसिक प्रत्यक्षीकरण को हमें रुक कर समझ लेना चाहिए। यह जीवनानुभाव से कटी हुई कोई चीज नहीं है। एक अनुभव दूसरे अनुभव के लिए संबुद्धि और बुद्धि के धरातल पर मार्ग तैयार करता है। जिसको जीवन का कोई अनुभव नहीं है, वह परानुभव का भावन नहीं कर सकता है। अतएव दूसरे के अनुभव का मानसिक प्रत्यक्षीकरण व्यापक जीवनानुभूति से ही सम्भव हो पाता है। यानी जिस कवि की जीवनानुभूति जितनी विस्तृत होगी, उस कवि में भावपूर्ण स्थितियों की उद्‌भावना की शक्ति उतनी अधिक होगी। यही जीवनानुभूति कवि का कच्चा माल है। नयी समीक्षा इसी को अनुभूति की प्रमाणिकता कहती है।"[1] अनुभूति की प्रामाणिकता से तात्पर्य यह नहीं है कि दूसरे के अनुभव का मानसिक प्रत्यक्षीकरण इसके बाहर की वस्तु है। उससे तात्पर्य इतना ही है कि कवि कल्पना का महल जिस नींव पर उठा रहा है वह नींव काल्पनिक नहीं है। कविताओं की नींव जीवनानुभूति की होती है। किन्तु उस पर झरोखे, मेहराब बनाने का काम कल्पना करती है। कल्पना की आँख के द्वारा ही कवि दूसरे के हृदय की स्थिति को झाँक आता है। अतएव जीवनानुभूति में जब कल्पना का योग हो जाता है तब भावुकता की परिधि पूर्ण हो जाती है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल की सूक्ति है कि "कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को ढालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। दूसरे शब्दों में मानव स्थितियों का व्यापक भावन प्रबन्ध कविताओं में इन्हीं मानव स्थितियों से सम्पर्क पाने की व्यापक भूमि रहती है। यहाँ जीवन का प्रत्येक फैलाव हमारे वर्णन की परिधि में आ सकता है। कवि की भावुकता के प्रसार के लिए यहाँ पूरा क्षेत्र मिलता है। कवि यदि सचमुच

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद, पृ० सं० – 431

का नहीं वरन् बना हुआ होता है तो यहाँ उसकी दुर्बलता उभर आती है।

जब हम भाव–प्रसार की शक्ति की बात करते हैं तब हमारा तात्पर्य भावों के विस्तार और तीव्रता दोनों से है। इसी को व्यापकता गहराई कहते हैं। व्यापकता और गहराई परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं। भाव की ये ही दो विधाएं हैं और इनसे भाव–चक्र की सम्पूर्ण परिधि का बोध हो जाता है।

हमें इस बात का बोध है कि कुन्तक ने प्रकरण वक्रता के प्रथम भेद में इतनी दूर तक विचार नहीं किया। उन्होंने भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना को मुख्यतया पात्र–प्रवृत्ति के ही रूप में ग्रहण किया है। किन्तु इस चीज को पात्र–प्रवृत्ति तक ही सीमित करने को हम बाध्य नहीं हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण सौन्दर्यशास्त्रीय उद्भावना है, जिसका परीक्षण व्यापक मानव स्थिति के प्रसार में होना चाहिए। यों, कुन्तक के मंतव्य का सही मतलब भी यही है। आखिर पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष भी तो ऐसी ही भावपूर्ण स्थितियों में हुआ करता है। पं0 शुक्ल ने रामकथा के मर्मस्पर्शी स्थलों में इन्हें रेखांकित किया है – राम का अयोध्या त्याग, पथिक के रूप में वन गमन, चित्रकूट में राम–भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य ग्रहण, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप, भरत की प्रतीक्षा। आखिर ये ही तो वे स्थल हैं जहाँ राम और भरत के चरित्र को उत्कर्ष प्राप्त हुआ। अयोध्या त्याग और वन–गमन के समय राम के, चित्रकूट में राम भरत के, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम के और भरत की प्रतीक्षा में भरत के चरित्र को अनन्य साधारण उत्कर्ष प्राप्त हुआ।

इन्हीं बिन्दुओं के आधार पर गुप्त जी के काव्य का मूल्यांकन प्रस्तुत है –

1. **साकेत :-** साकेत ऐसा महाकाव्य है जिसमें कई स्थलों पर मार्मिकता की झलक मिलती है। प्रथम प्रसंग है – "भरत से सुत पर भी सन्देह। बुलाया तक न उन्हें जो गेह।"[1] कैकेयी के मन में बार–बार विचार उमड़ते–घुमड़ते हैं कि क्या ऐसा भी हो सकता है।

दूसरा प्रकरण राम–वन गमन का है –

"बहू बहू माँ चिल्लाई, आँखे दूनी भर आई।
हाथ हटा, ये वल्कल हैं, मृदुतम तेरे करतल हैं
यदि ये छू भी जावेंगे, तो छाले पड़ जावेंगे।
कोसल–वधू विदेह लली, मुझे छोड़कर कहाँ चली?"[2]

तीसरा प्रकरण है – **कैकेयी का पश्चाताप –**

थूके, मुझपर त्रैलोक्य भले ही थूके, जो कोई जो कह सके कहे – क्यों चूके।
युग–युग तक चलती रहे कठोर कहानी।
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा।
धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।"[3]

चतुर्थ प्रकरण है – **उर्मिला का विरह –**

"इन्द्र बधू आने लगी क्यों निज स्वर्ग विहाय?
नन्ही दूर्बा का हृदय निकल पड़ा यह हाय।
बता मुझे नखरंजिनी तू किस भाँति अरी,
होकर भी भीतर अरुण बाहर हरी–हरी।"[4]

---

1. साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ0 सं0 – 29
2. साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृ0 सं0 – 53
3. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ0 सं0 – 121
4. साकेत, नवम् सर्ग, पृ0 सं0 – 149

पंचम प्रकरण है – ऊर्मिला की लंका – तैयारी –

मेंटू अपने जड़ी भूत जीवन की लज्जा।

उठो, इसी क्षण शूर, करो सेना की सज्जा।

वीरों, पर यह योग भला क्यों खोऊँगी मैं,

अपने हाथों घाव तुम्हारे धोऊँगी मैं।"[1]

2. **जयद्रथ वध :–** जयद्रथ वध में भावपूर्ण स्थल है। सर्वप्रथम उत्तरा अभिमन्यु को रण में जाने से रोकती है –

"कहती हुई यों उत्तरा के नेत्र जल से भर गये,

हिम के कणों से पूर्ण मानों हो गये पंकज नये।

निज प्राणपति के स्कन्ध पर रखकर वदन वह सुन्दरी

करने लगी फिर प्रार्थना नाना प्रकार व्यथा–भरी।।"[2]

दूसरा प्रकरण उत्तरा विलाप –

"क्या बोलने के योग्य भी अब मैं नहीं लेखी गई?

ऐसी न पहले तो कभी प्रतिकूलता देखी गई।

वे प्रणय सम्बन्धी तुम्हारे प्रण अनेक नये नये,

हे प्राण वल्लभ, आज हा! सहसा समस्त कहाँ गये।"[3]

तीसरा प्रकरण अर्जुन की प्रतिज्ञा –

"सूर्यास्त से पहले न जो मैं कल जयद्रथ–वध करूँ।

तो शपथ करता हूँ स्वयं मैं ही अनल में जल मरूँ।।"[4]

3. **यशोधरा :–** **"साकेत"** में जो स्थिति ऊर्मिला की है वही यशोधरा की भी है। प्रथम प्रकरण है **–यशोधरा का करुण विलाप** –

---

1. साकेत, द्वादश सर्ग, पृ0 सं0 – 235
2. जयद्रथ वध, प्रथम सर्ग, पृ0सं0 – 7.
3. जयद्रथ वध, द्वितीय सर्ग, पृ0 सं0 – 19
4. जयद्रथ वध, तृतीय सर्ग, पृ0 सं0 – 33

हुआ न यह भी भाग्य अभागा। किस पर विफल गर्व अब जागा।।

जिसने अपनाया था त्यागा, रहे स्मरण हो आते।"[1]

दूसरा प्रकरण है – **राहुल द्वारा पिता आगमन की बात पूछना –**

"अम्ब तात कब आएँगे?

"धीरज धर बेटा, अवश्य हम उन्हें एक दिन पाएँगे।

मुझे भले ही भूल जायँ वे तुझे क्यों न अपनाएँगे।।[2]

तीसरा प्रकरण – **यशोधरा द्वारा पुत्र दान –**

"कृतकृत्य हुई गोपा।

पाया यह योग, भोग, अब जा तू!

आ राहुल, बढ़ बेटा,

पूज्य पिता से परम्परा पा तू।"[3]

<u>**विष्णु प्रिया**</u> :–विष्णु प्रिया में भावनात्मक अनेक स्थल हैं, प्रथम प्रकरण है – महाप्रभु का प्रस्थान एवं पत्नी का विलाप –

"स्वामी त्याग गये हैं गेह, प्रस्तुत हूँ मैं तज दूँ देह।

मुझे प्रयोजन अब किस धन का? फल क्या मेरे इस जीवन का?

शेष नहीं कुछ तन का मन का, जला रहा है जलता स्नेह।।"[4]

5. <u>**सिद्धराज :–**</u> जगद्देव द्वारा रानक दे की रक्षा – प्रथम भावनात्मक स्थल है –

"भार है सती के पर्यवेक्षण का मुझको।

किससे नियुक्त तुम? जेता जयसिंह से।

xxx और मार डालो मुझे पतन तुम्हारा मैं

देख नहीं सकता हूँ। बस मरता हुआ।।"[5]

---

1. यशोधरा, पृ0 सं0 – 22
2. यशोधरा, पृ0 सं0 – 54
3. यशोधरा, पृ0 सं0 – 127
4. विष्णुप्रिया, पृ0 सं0 – 51
5. सिद्धराज, तृतीय सर्ग, पृ0 सं0 – 57

दूसरा प्रकरण है रानक दे द्वारा जयसिंह को शाप –

"तो क्या तुम चाहते हो प्रभु से मनाऊँ मैं –
यौवन बिगाड़ने तुम्हारी रानी का
आवे नहीं कोई शिशु–पुत्र कभी कोख में।।"[1]

6. <u>लीला</u> :– इस काव्य में कई भावपूर्ण स्थल हैं – प्रथम प्रकरण है, विश्वामित्र द्वारा राम लक्ष्मण की याचना पर दशरथ विह्वलित हो उठते हैं –

"किन्तु पुत्र, तुम मुझे प्राण से भी हो प्यारे।
"हो सकते हैं प्राण कहीं प्राणों से न्यारे?
बड़े व्रतो से हाय! हुए हैं जन्म तुम्हारे,
आँखो से क्या अलग करूँ आँखों के तारे।"[2]

(7) <u>भारत – भारती</u> :– इस काव्य में भारत–दुर्दशा के परिप्रेक्ष्य में भावनात्मक स्थल आए हैं–

"आनंद–नद में मग्न थे जिस देश के वासी सभी।
सुर भी तरसते थे जहाँ पर जन्म लेने को कभी;
हा! आज उसकी यह दशा, सन्ताप छाया सब कहीं।
सुर क्या असुर भी अब यहाँ जन्म चाहेंगे नहीं।"[3]

(8) <u>द्वापर</u> :– इस काव्य में कई भावात्मक स्थल है, कंस के आमन्त्रण पर कृष्ण जाना चाहते हैं, देवकी भाव विह्वलित हो उठती हैं–

"अरे तनिक ठहरो, ठहरो तुम, अब भी छोटे छोटे।
उधर कंस के भाव हुए हैं, पहले से भी खोटे।"[4]

---

1. सिद्धराज – तृतीय सर्ग–पृ0सं056
2. लीला – पृ0 सं0 – 28
3. भारत–भारती – 101
4. द्वापर – पृ0 सं0 – 67

उद्धव, गोपिकाओं का ब्रह्म ज्ञान का उपदेश देते हैं, गोपिकाओं को वह स्वीकार नहीं, कृष्णमय बने रहना ही अपनी श्रेष्ठ नियति मानती हैं–

"सिर माथे ही उस मनोज्ञ को, हमने यहाँ लिया था,
लोक और परलोक सभी कुछ अपना सौंप दिया था।"[1]

(9) **हिन्दू** :– इस काव्य में भारतीय सभ्यता–संस्कृति पर प्रकाश डाला गया, आज उसकी अक्षुण्णता कहीं खतरे में है, पाश्चात्य कुसंस्कार, समावेशित हो रहे हैं, आवश्यकता इस बात की है, अपनी अस्मिता को सुव्यवस्थित रखा जाए।

"वह साधन, वह अध्यवसाय, नही रहा हममें अब हाय!
इसीलिए अपना यह ह्रास–ह्रास, चारों ओर त्रास ही त्रास त्रास।।[2]

(10) **प्रदक्षिणा** :– राम–कथा 'प्रदक्षिणा' में वर्णित है, वनवास केवल राम का ही नहीं समग्र जनता का है, जनता प्रभु राम के साथ जायेगी, ऐसा अयोध्यावासी करने के लिए तत्पर हैं–

"जहाँ राम राजा हम सबके, वहीं रहेंगे हम सब भी।
बार–बार समझाया प्रभु ने, पीछे चली प्रजा तब भी।।"[3]

लक्ष्मण, अचेत हैं, राम विलाप कर रहे हैं–। राम का विलाप भाव–पूर्ण प्रकरण है–

तुच्छ रक्त क्या, इस शरीर में डालों कोई मेरे प्राण।
गत सुनकर भी मुझे जानकी पावेगी दुःखों से त्राण।।"[4]

(11) **उच्छ्वास** :– शोक निमग्न कवि की भावनाओं का सुन्दर प्रकाशन उच्छ्वास में हुआ है, 'पुष्पांजलि श्री सियाराम शरण के किशोर बालक पुरुषोत्तम

---

1. द्वापर – पृ0 सं0 – 67
2. हिन्दू – पृ0 सं0 – 23
3. प्रदक्षिणा – पृ0 सं0 – 27
4. वही – पृ0 सं0 – 72

की सहसा मृत्यु पर लिखी गयी, 'समाधि' मुंशी अजमेरी के निधन पर लिखी गयी, इन्हीं भावनाओं का समग्र संकलन है। उच्छ्वास–

"उषा ने अपना उदय किया, दीपक ने निज निर्वाण लिया।
मारुत ने जग को जगा दिया, देखा कि दे गया हृदय–शूल।।[1]

{12} **अजित** :– आत्मकथात्मक शैली में रचा गया समसामयिक जीवन से सम्बद्ध चरित्र प्रधान खण्ड काव्य, इसकी मूलवर्ती काव्य चेतना राजनीतिक है। इसमें कवि ने जेल–जीवन का यथार्थ चित्रण भी उपस्थित किया है। ग्रामीण जीवन की भूमि, स्त्री और धन विषयक समस्याओं का सुन्दर चित्रण किया गया है–

"सारा देश दरिद्र हुआ जीता मरता है।
मनुज पेट के लिए यहाँ सब कुछ करता है।
हम क्या थे हा! हमें इन्होंने क्या कर डाला!
किसकी ज्वाला जला हमें कर बैठी काला।"[2]

{13} **वक्र संहार** :– वक्र संहार में कुन्ती का चरित्रोकर्ष व्यंजित है, साथ ही वक का वध अध्याहार में रखा है, इस प्रकार भीम को वीरत्व को चित्रित नहीं किया। सत्याग्रह–दर्शन में न्याय निष्ठा सर्वोपरि होती है, गुप्त जी इसी को अपना प्रमुख लक्ष्य बनाते हैं–

"क्या जन्म भू है हाय, सो निज मृत्यु–भू बन जाय तो,
विस्तीर्ण वसुधी भर हमारे अर्थ है।
पर शक्ति हममें चाहिए, अनुरक्ति हममें चाहिए।
निर्बल जनों का विश्व में कोई नहीं।"[3]

{14} **वन–वैभव** :– महाभरत की कथा के माध्यम से गुप्त जी ने हिन्दू–मुसलमानों को उपदेशित किया है कि वे भाई–भाई हैं, अतएव चेष्टा हो कि

---

1. उच्छ्वास – 19
2. अजित – 41
3. वकसंहार – पृ0 26

विदेशी शासन आपसी फूट का लाभ न उठा पाये–

जहाँ तक है आपस की आँच, वहाँ तक वे सौ है, हम पाँच
किन्तु यदि करें दूसरा जाँच, गिने तो हम एक सौ पाँच।।"[1]

भाव प्रकरण है–

"झुका दुर्योधन की भी भाल, अंक में भर उसको तत्काल।
युधिष्ठिर बोले आँसू डाल, कुल–व्रत पालो हे कुल पाल।"[2]

(15) **हिडिम्बा** :– हिडिम्बा का चरित्र प्रधान है, पारिवारिक वातावरण में उसे कुल वधू और वीर प्रसविनी ही नहीं वैष्णवी भी बनाया गया है, उसका मानवीय चरित्र चित्रित हुआ है, राक्षसी रूप नहीं–

"होकर मैं राक्षसी अन्त में तो नारी हूँ।
जन्म से मैं जो भी रहूँ, जाति से तुम्हारी हूँ।।"[3]

सुन्दर भाव प्रकरण है– राक्षसों में मानवता प्रतिष्ठित करना–

"तुम भी डरावने से बनते हो डाह में, हम भी सुचारु रूप रखते हैं चाह में।
तुम हमें घृण्य, हम तुच्छ तुम्हें मानते, एक दूसरे को ठीक दोनों नहीं जानते।।"[4]

(16) **सैरन्ध्री** :– इसमें पतिव्रत की पवित्रता, नारी की सच्चरित्रा, दुराचारी का अंत और विपत्तियों के संघर्ष निरूपित करना कवि का लक्ष्य रहा है। भावपूर्णस्थिति–

"जिसके पति हो पाँच पाँच ऐसे बलशाली।
सुरपुर में भी करे कीर्ति जिनकी उजियाली।
काली हो अरि क्रान्ति देखकर जिनकी लाली
सहूँ लाञ्छना प्रिया उन्हीं की मैं पांचाली।

---

1. वन – वैभव – 33
2. वही – 38
3. हिडिम्बा – 43
4. वही – 42

कहती कहती यों द्रौपदी रह न सकी मानो खड़ी,

मूर्च्छित होकर वह भीम के चरण–शरण में गिर पड़ी।"[1]

(17) **किसान** :– इस काव्य में तीन वस्तु स्थितियाँ हैं, किसानों की दुर्दशा, फीजी की कुली प्रथा, महायुद्ध में सैनिकों का हताहत होना। इसमें मानवतावाद का प्रसार है–

"हमें स्वदेशियों के शोणित में यह शर्करा सनी है।

हाय! हड्डियाँ पिसी हमारी तब यह यहाँ बनी है।"[2]

(18) **शकुन्तला** :– गुप्त जी की नारी चरित्र प्रधान कृति। प्रेम की आदर्श गार्ह्यस्थिक परिणित व्यंजित हुई है, जो कर्तव्य पालन और उत्कट प्रेमामिलाप के द्वारा परिपुष्ट की गयी है।

"पैरों पर गिर पड़े प्रिया के भूपवर।

शकुन्तला ने कहा क्षमा का रूप धर।

उठो नाथ, वह कुछ न तुम्हारा दोष था,

मुझ पर ही अज्ञात दैव का दोष था।"[3]

(2) उत्पाद्य लावण्य

उत्पाद्य लावण्य वक्रता का दूसरा नियामक है। ख्यात वृत्त में कल्पित कथांश का सन्निवेश ही उत्पाद्य लावण्य है। वस्तुतः कवि कर्म की दृष्टि से यह इतिहास अथवा पुराण में कवि कल्पना का योग है। कवि कर्म का ऐसा कोई पक्ष नही है, जिसमें कल्पना का योग नहीं होता है।

"कुन्तक ने कथा में कल्पना के इस योग की बड़ी ही स्वच्छ मीमांसा की है। उनके अनुसार इतिहास में वर्णित कथा के वैचित्र्य के मार्ग में तनिक

---

1. सैरन्ध्री – 37
2. किसान – 37
3. शकुन्तला – (मिलन) – 41

से कल्पना–प्रसूत अंश के सौन्दर्य से कुछ और ही अपूर्व चमत्कार हो जाता है। उस तनिक से परिवर्तन से इतना सौन्दर्य काव्य में आ जाता है जिससे वह प्रकरण, चरम सीमा को पहुँचते हुए रस से परिपूर्ण होकर सारे प्रबन्ध का प्राण सा प्रतीत होने लगता है। "अवश्य ही जैसा ने कुन्तक ने बतलाया कि रसोद्रेक ही इस उत्पाद्य लावण्य का लक्ष्य है। कवि रसोद्रेक का ध्यान रखते हुए ख्यात वृत्ति में स्वेच्छया या तो कुछ जोड़ देता है या कुछ घटा देता है।

प्रबन्ध काव्यों के क्षेत्र में यह एक महत्वपूर्ण सौन्दर्य शास्त्रीय उद्‌भावना है और इसे व्यवस्थित रूप से पहली बार उपस्थित करने का श्रेय आनन्दवर्धन को मिलना चाहिए। लगता है कुन्तक को यह दृष्टि वहीं से मिली है। आनन्दवर्धन ने बतलाया है कि प्रबन्धगत रस के अभिव्यंजक पाँच हेतुओं में पहला यह है कि ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल कथांशादि को छोड़कर बीच में अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करके भी कथा का संस्करण किया जाता है। कथा का यही संस्कार तो कुन्तक की भाषा में उत्पाद्य लावण्य है। कथा का यह संस्कार वस्तुतः कवि की स्वेच्छा का परिणाम है। किन्तु आनन्दवर्धन ने इस स्वेच्छा की सीमा को अच्छी तरह रेखांकित किया है। उनका कहना है कि कथाओं के आश्रय जो रामायणादि इतिहास हैं उनके साथ रस विरोधिनी स्वेच्छा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। आनन्दवर्धन का स्पष्ट मत है कि ख्यात वृत्ति में कल्पना के योग का उद्‌देश्य रसोचित्य की ही प्राप्ति है। उनके अनुसार प्रबन्ध काव्य के रसाभिव्यंजकत्व का यह भी कारण है कि ऐतिहासिक परम्परा से प्राप्त होने पर किसी प्रकार भी रस विरोधी कथांश को छोड़कर और बीच में कल्पना करके भी अभीष्ट रसोत्रित कथा का निर्माण करना चाहिए। उनका कहना है कि काव्य का निर्माण करते समय कवि को पूर्ण रूप से रसपरतंत्र बन जाना चाहिए।"[1]

इसलिए यदि इतिहास में रस के विपरीत स्थिति देखें तो उसको

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद – पृ० सं० – 438

तोड़कर स्वतन्त्र रूप रस के अनुरूप दूसरी कथा बना ले।

कथा तो वह खूँटी है जिस पर कवि अपनी कल्पना, भावना, विचार और चिन्तन के परिधान लटकाता है। अतः यह उपेक्षणीय नहीं है। साहित्य ठोस होता है, अतएव कथा की आवश्यकता सब दिन बनी रहेगी, लेकिन जैसा कि आनन्दवर्धन ने कहा है कि इतिवृत्त का निर्वाह कर देने मात्र से कवि का कोई लाभ नहीं है। कवि को आत्मपद का लाभ तो रसोद्रेक से ही होता है। अतएव उत्पाद्य लावण्य का समग्र लक्ष्य रसोद्रेक ही है। इसके बिना वह बेमानी है। कथा के इस संस्कार को अरस्तू ने कवि–कर्म से जोड़ दिया है। उनका कहना है कि, "कवि का कर्तव्य–कर्म से जो कुछ हो चुका उसका वर्णन करना नहीं वरन् जो हो सकता है, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के अधीन सम्मत है उसका वर्णन करना है। यही संभाव्यता उत्पाद्य लावण्य की सृजन भूमि है। अरस्तू इतिहासकार और कवि के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि, (वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका और दूसरा उसका जो घटित हो सकता है। इसी सम्भावना का सूत्र पकड़कर कवि कथा संस्कार की ओर प्रवृत्त होता है। अतएव जैसा कि अरस्तू ने कहा कि यह आवश्यक नहीं कि हम, जैसे भी हो परमपरागत दन्त कथाओं को ही ग्रहण करें, वैसे त्रासदी का आधार प्रायः ये ही होती है। इसका स्पष्ट निष्कर्ष यह निकला कि कवि अर्थात् रचियता को पद्य की अपेक्षा कथानक का रचियता होना चाहिए, क्योंकि कवि वह इसलिए है कि अनुकरण करता है और जिसका अनुकरण करता है वह है कार्य। और, यदि संयोग से वह कोई एतिहासिक विषय भी ग्रहण कर ले तब भी उसका कवि रूप अक्षुण्ण रहता है क्योंकि ऐसा कोई कारण नहीं है कुछ घटनाएँ जो वास्तव में घटी हैं, सम्भव और सम्भाव्य के नियम के अनुकूल न हो और उनको इसी गुण के नाते वह उनका कवि या स्रष्टा होता है। कथानक के क्षेत्र में इस उत्पाद्य लावण्य के कारण कवि को सृष्टा के पद का आत्म लाभ होता है। अतएव उत्पाद्य लावण्य का समग्र

लक्ष्य रसोद्रेक ही है। इसके बिना वह बेमानी है। इसी के लिए कवि ख्यातवृत्त में संस्कार करता है। कुन्तक ने अन्त श्लोक में कहा है।

"निरन्तर रसोद्गार गर्भ सन्दर्भ निर्भराः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्र माश्रिताः।।

अर्थात् निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों से परिपूर्ण महाकवि की वाणी केवल (इतिहास में प्रसिद्ध) कथामात्र के आश्रय से ही नहीं जीवित रहती है। 'वहाँ' कवि कल्पना के संचरण की अनेक भूमियाँ उठ खड़ी होती है।

कथा के इस संस्कार को अरस्तू ने कवि कर्म से जोड़ दिया है। उसका कहना है कि "कवि का कर्तव्य कर्म–जो कुछ हो चुका है उसका वर्णन करना नहीं है वरन् जो हो सकता, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के अधीन सम्मत है उसका वर्णन करना है।" यही सम्भाव्यता उत्पाद्य लावण्य की सृजन भूमि है। अरस्तू इतिहासकार और कवि के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए लिखता है कि "वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा जो घटित हो सकता है। इसी सम्भावना का सूत्र पकड़कर कवि कथा–संस्कार की ओर प्रवृत्त होता है। अतएव जैसा कि अरस्तू ने कहा है कि यह आवश्यक नहीं है कि हम, जैसे भी हो, परम्परागत दन्त कथाओं को ही ग्रहण करें – वैसे त्रासदी का आधार प्रायः ये ही होती हैं। .... इसका स्पष्ट निष्कर्ष यह निकला कि कवि अर्थात् 'रचयिता' को पद्य की अपेक्षा कथानक का रचियता होना चाहिए क्योंकि कवि वह इसलिए है कि अनुकरण करता है और जिसका अनुकरण करता है वह है कार्य। और, यदि संयोग से वह कोई ऐतिहासिक विषय भी ग्रहण कर ले तब भी उसका कवि रूप अक्षुण्ण रहता है– क्योंकि ऐसा कोई कारण नहीं है कि कुछ घटनाएँ जो वास्तव में घटी है सम्भव और सम्भाव्य के नियम के अनुकूल न हों और उनके इसी गुण के नाते उनका कवि या स्रष्टा होता है।" कथानक के क्षेत्र में इस उत्पाद्य लावण्य के कारण कवि को स्रष्टा के पद का आत्म लाभ होता है।

तो, काव्य में मुख्य है रस सृष्टि। कवि इसी उद्‌देश्य से ख्यातवृत्त का संस्कार करता है। ऐतिहासिक कथा में इस संस्कार के मनोविज्ञान की मीमांसा करते हुए रवि बाबू लिखते हैं। "यह बात नहीं है कि इस तरह की घटनाएँ आद्यन्त कल्पना के द्वारा नहीं बनाई जा सकती है, किन्तु जो स्वभावतः ही हमसे दूरस्थ है, जो हमारी अभिज्ञता से बाहर है, उसे किसी बहाने से यदि हम प्रकृत के साथ मिला दें तो लेखकों के लिए पाठकों के हृदय में विश्वास उत्पन्न करना सुगम हो जाता है। इसकी सृष्टि ही उद्‌देश्य है। अतएव उसको उत्पन्न करने के लिए ऐतिहासिक उपकरणों की जिस मात्रा में आवश्यकता होती है, कवि लोग उतनी ले लेने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करते।" तात्पर्य यह कि कवि इतिहास का उतना ही अंश ग्रहण करता है जितना रस सृष्टि में सहायक सिद्ध होता है। इसका मतलब यह है कि इतिहास का जो अंश रस विरोधी है, कवि उसका परित्याग कर देता है। उसका ग्रहण और त्याग रस सापेक्ष होता है। रवीन्द्र नाथ आगे लिखते हैं : "अर्थात लेखक चाहे इतिहास को अखण्ड रखकर रचना करें या तोड़ फोड़ कर, यदि वे ऐतिहासिक रस की अवतारणा कर सकें, तो उन्हें अपने उद्‌देश्य में कृतकार्य समझना चाहिए।" इस प्रसंग में रवीन्द्रनाथ ख्यातवृत्त में पूर्ण परिवर्तन की सम्भावना पर भी विचार करते हैं। रस–सृष्टि की दृष्टि में विचार करते हुए उनका स्पष्ट मत है कि, "इसलिए यदि कोई रामचन्द्र को नीच और रावण को साधू के रूप में चित्रित करे, तो क्या कोई दोष न होगा? दोष होगा; किन्तु वह दोष इतिहास के पक्ष में नहीं होगा, काव्य के पक्ष में ही होगा। सर्वजन–विदित सत्य को एकदम उल्टा कर देने से रसभंग हो जाता है, मानो पाठकों के सिर पर एकदम लाठी पड़ जाती है। उसकी एक ही चोट से काव्य एकदम चित होकर गिर जाता है।"

उत्पाद्य लावण्य की कुन्तक ने द्विविध व्याख्या की है। एक है अविद्यमान की कल्पना और दूसरा है विद्यमान का संशोधन। अविद्यमान की

कल्पना के उदाहरण के रूप में उन्होंने **"अभिज्ञान शाकुन्तलम्"** में दुर्वासा के शाप को उपस्थित किया है। वस्तुतः नवीन प्रसंगों की उद्भावना काव्य की आन्तरिक विवशता के कारण ही होती है। नवीन प्रसंगों की अवतारणा कथानक के निर्माण की दृष्टि से कवि प्रतिभा के संचरण का सबसे अच्छा क्षेत्र और प्रमाण है।

1. <u>साकेत :-</u> गुप्त जी ने साकेत के वस्तु-विन्यास में अनेक नई प्रसंगोद्भावनाएं की हैं। उन्होंने राम कथा को आधुनिक परिवेश दिया, उसे पारिवारिक भूमिका पर रक्खा और साकेत में केन्द्रित कर दिया। इस कारण उन्हें रामकथा में ऐसे कई प्रसंगों की अवतारण करनी पड़ी, जो नवीन और मौलिक हैं। कहा गया है कि ये उद्भावनाएं कवि की गम्भीर भावुकता और प्रौढ़ कल्पना का परिचय देती हैं। गुप्त जी ने आधुनिक युग की नारी विषयक उच्चता की भावना से प्रेरित होकर ऊर्मिला, कैकेयी, मांडवी आदि उपेक्षित अथवा अनुज्जवल पात्रों को समुचित चारित्रिक उत्कर्ष दिया। उन्होंने प्रेम कथा ही नहीं, अभिनव राम कथा लिखने के उद्देश्य से मानस अथवा वाल्मीकि रामायण के उपेक्षित प्रसंगों को समुचित विस्तार भी दिया। नवीन उद्भावनाओं के मूल में आधुनेक बुद्धिवाद, मानवतावाद और सांस्कृतिक पुनुरुत्थानवाद की प्रवृत्तियाँ सक्रिय रहीं।

नवीन प्रसंगोद्भावनाएं निम्नलिखित हैं –

1. ऊर्मिला के पूर्वराग, संयोग, वियोग और पुनर्मिलन विषयक समस्त घटनावली और प्रसंग-कल्पना कवि की अपनी उद्भावना है। उसे प्रायः रामकथा के अनेक स्थलों पर उपस्थित ही नहीं किया गया, मुखर भी बनाया गया।

2. चित्रकूट सभा में कैकेयी अपने वात्सल्य की दुहाई देती है और अपने कृत्य पर यद्यपि उसके मानसिक अंतर्द्वन्द्व का गांभीर्य पूर्ण स्पष्ट न हो सका, तो भी उसके भावनाशील चरित्र को उज्ज्वल बनाने का पूरा आयोजन हुआ। वह तपस्विनी हो गई। अंतिम सर्ग में उसकी कार्य तत्परता दिखाई

पड़ती है तथा भरत के साथ लंका पर चढ़ाई करने के लिए वह उद्यत होती है।

3. चित्रकूट–मिलन के पश्चात् सभी घटनाएं घटित नहीं, वर्णित हुई हैं। बालकांड की कथा ऊर्मिला ने अरण्यकांड की शत्रुघ्न ने और किष्किंधा, सुन्दर तथा लंकाकांड की कथा हनुमान ने कही। युद्ध का दृश्य वसिष्ठ ने दिखलाया। ग्रंथ का नाम साकेत होना और ऊर्मिला का नायिका, इस परितर्वन के लिए उत्तरदायी है।

4. मांडवी के चरित्र को अंतिम सर्गों में आवश्यक उभार देने का प्रयत्न हुआ।

5. हनुमान आकाश मार्ग से आते जाते हैं और उन्हें संजीवनी बूटी साकेत में ही मिल जाती है। आकाश मार्ग से उड़ने के लिए योग–सिद्धि संबंधी विश्वास को प्रकट किया और इस लोकोत्तर व्यापार का समाधान हुआ।

6. साकेत की रणसज्जा के द्वारा कवि ने अपनी राष्ट्र–प्रेम की भावना को प्रस्तुत किया तथा ऊर्मिला चरित्र के वीरांगना–पक्ष को उद्घाटित।

7. कैकेयी मंथरा–संवाद को मनोवैज्ञानिक भित्ति दी गई।

8. दशरथ कैकेयी से स्वयं वर माँगने का अनुरोध करते हैं, जिसे वह विस्मृत कर चुकी है।

9. भरत की अनुपस्थिति का कारण दशरथ ने प्रकट किया और लक्ष्मण ऊर्मिला संवाद में उसे स्थान मिला।

10. दशरथ की मृत्यु का वर्णन "मानस" की अपेक्षा यहाँ विस्तृत है और रानियाँ सती होने का अपने पद गौरव के अनुकूल प्रस्ताव करती हैं।

11. पारिवारिक हास–परिहास यत्र तत्र नियोजना हुई, यथा – प्रथम, अष्टम और पंचम सर्ग में।

12. सीता को स्वालंबिनी बनाया गया और अष्टम सर्ग में उसके चरित्र को नया सौंदर्य दिया गया।

13. चित्रकूट–सभा को एक पारिवारिक घटना का स्वरूप प्राप्त हुआ।

14. राम रावण युद्ध में प्रत्युत्पन्न मतित्व का विनियोग किया गया और कुंभकर्ण–वध के प्रसंग को नई भाव भूमिका दी गई। लक्ष्मण को शक्ति के पश्चात् राम सहसा क्रोधांध होकर भीषण मार–काट मचाते हैं और **"भाई का बदला भाई ही"** कहकर कुंभकर्ण का वध कर डालते हैं। रावण को मूर्च्छित देखकर उन्हें लक्ष्मण की मूर्च्छा का स्मरण हो आता है और वे रावण की सहृदयता की प्रशंसा करते हैं। राम चरित की यह मानवीय भूमि कवि की अपनी कल्पना है। यहाँ आधार ग्रन्थों की भांति शोकाभिभूत राम विलाप मात्र नहीं करते हैं।

15. राम का संपूर्ण चरित्र मानवीय है। उनमें लोकोत्तरत्व की प्रतिष्ठा नहीं की गई। कवि ने मानव की ईश्वरता दिखाई, ईश्वर की मानवता नहीं।

साकेत की ये मौलिक प्रसंगोद्भावनाएं हैं। नारी पात्रों की नई वस्तु कल्पना, उपेक्षित स्थलों की पहचान, राम का मानवतादर्श, लोकोत्तर घटनाओं की बुद्धि निष्ठ और विश्वासमयी व्याख्या तथा प्रेम कथा और आधुनिक जीवनादर्श का भावनामय निरूपण साकेत की कथावस्तु को नवीन आधार प्रदान करता है। कवि ने अस्वाभाविक प्रसंगों को मनोवैज्ञानिक भित्ति दी है तथा नवयुग के राष्ट्रप्रेम को कथात्मक अभिव्यक्ति। नारी को कवि ने जीवन के विस्तृत क्षेत्र में रखा है और मानव व्यक्तित्व को चरमोत्कर्ष की प्राप्ति में सक्षम सिद्ध किया है। अतएव साकेत अभिनव रामकथा की संज्ञा पा सका है। निश्चय ही कवि ने रामाश्रयणीय मान्यताओं पर नवीनता प्रेम के कारण कहीं कोई आघात नहीं किया।

2. **<u>पंचवटी :–</u>** पंचवटी में राम कथा के ऐसे प्रसंग की उद्भावना की

गई है, जिसमें लक्ष्मण को प्रमुखता प्राप्त हो सके। इसके पूववर्ती खण्डकाव्यों में ख्यातवृत्त को प्राय: ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेने की पद्धति अपनाई गई थी। उनमें जहाँ तहाँ गौण संकेत मात्र कवि ने अपनी ओर से रक्खे थे। पंचवटी उसकी परवर्ती रचनाओं में वस्तु शोधन हुआ है और नवीन प्रसंगोद्‌भावनाएँ की गई हैं।

पंचवटी के कथानक में ही नवीनता का प्रचुर मात्रा में विनियोग हुआ है। शूर्पणखा न केवल तामसी वृत्ति के कारण, वरन् अपने नैशक्रिया–कलापों के द्वारा भी निशाचरी चित्रित हुई है। असत् पक्ष के प्राबल्य के रूप में रात्रि का और उस पर सत् पक्ष की विजय के रूप में प्रभात का वातावरण रक्खा गया है। रामकथा के प्रस्तुत अंश को कवि ने स्वच्छन्द प्रकृति के वातावरण में तथा पारिवारिक परिवेश में, उसके सम्पूर्ण माधुर्य, कारुण्य और मानवीय आदर्श के साथ चित्रित किया है। लक्ष्मण का आत्मसंलाप, शूर्पणखा का उनसे एकांत मिलन और उसकी प्रणय याचना, दोनों की तर्कमयी उक्तिमत्ता, लक्ष्मण की अपेक्षा राम को कोमल समझकर उन्हीं के प्रति शूर्पणखा का प्रणय निवेदन, एक ही आदर्श को तर्क के रूप में प्रस्तुत करके राम और लक्ष्मण दोनों के द्वारा उस प्रस्ताव की अस्वीकृति, शूर्पणखा के कथन, कृत्य और उग्र रूप, लक्ष्मण के द्वारा शूर्पणखा का विरूपीकरण, पारिवारिक उल्लास, देवर भाभी परिहास, पात्रों की स्वाभाविक चेष्टाएँ, परिस्थितियों तथा मनोभावनाओं का घात–प्रतिघात, आदि पंचवटी में विन्यस्त हैं। इनमें से केवल शूर्पणखा के नासिकाच्छेदन के अतिरिक्त सभी प्रसंगों की नवीन उद्‌भावना की गई है। तुलसीदास जी ने शूर्पणखा उपाख्यान को राम के वीरत्व विषयक कार्य के एक प्रासंगिक घटना सूत्र के रूप में चित्रित किया है। इसे उन्होंने पताका स्थानक का भी गौरव नहीं दिया। गुप्त जी ने इसी प्रसंग को नवीन प्रबन्ध के रूप में कल्पित किया है और नारी, सदाचार, नैतिकता, प्रेम आदि विषयोंकेआदर्श रूप का विवरण दिया है। आशय यह है कि प्राख्यात घटना को कवि ने एक पारिवारिक काव्य के रूप में रचा है। मानसकार को इस घटना का परिणाम दिखाना अभीष्ट है

और गुप्त जी को लक्ष्मण का चरित्र्योन्नयन करना उद्दीष्ट। संक्षेप में पंचवटी के कथानक को नव्य रूप में विन्यस्त करके कवि ने पात्रों के सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहा है, वरन् उनके कथन, कृत्य और चरित्र के द्वारा उन्हें कथा प्रवाह में निर्मित होने के लिए छोड़ दिया है।

पंचवटी चरित्र प्रधान खण्डकाव्य है। अतएव उनमें चरित्रों के चित्रण द्वारा ही कथानक विकसित हुआ है। इस कारण कवि ने वर्णनात्मक पद्धति को अभिनयात्मक पद्धति में रूपान्तरित किया है। फलतः कथा प्रसंगों को स्वाभाविकता और पात्रों को मानवीय रूप प्राप्त हुआ है। अतिमानवीय गुणों का आग्रह कम हुआ है और जीवन की वास्तविकता का आग्रह स्पष्ट है। गुप्त जी ने वस्तुगत आदर्श, चरित्रगत कृत्य और प्रसंगगत भावों को मानवीय आधार दिया है। उनकी भक्ति–भावना भी अधिक आत्मस्थ होकर प्रकट हुई है। वह मानवता के प्रकर्ष अर्थात् उसके ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति करती है। पंचवटी के कथाक्रम को माध्यम बनाकर कवि ने आत्म संयम और वासना का संघर्ष चित्रित किया है। कामातुरता या भोगलिप्सा अस्थिर और अशक्त होती है, अतएव शूर्पणखा का लक्ष्य तक स्थिर न रह सका और वह अकृतकार्य हुई। शूर्पणखा का रूप परिवर्तन अतमानवीय वस्तु है, जिसे कवि ने यथावत स्वीकार किया है।

उत्पाद्य लावण्य के दो उदाहरण पर्याप्त हैं।

रोचक प्रकरणों की अवतारणा :– प्रकरण वक्रता का तीसरा नियामक प्रासंगिक अथवा प्रस्तुतोचित सूर्योदय, सूर्यास्त – प्रभृति ऐसे प्रसंगों की अवतारणा है जो प्रबन्ध के सौन्दर्य की अभिवृद्धि में सहायक होते हैं। कुन्तक ने बतलाया है कि सर्गबन्धादि के कथा–वैचित्र्य का सम्पादक जो जल क्रीड़ा आदि अंग काव्य सौन्दर्य के लिए वर्णित किया जाता है वह भी उस प्रकरण वक्रता को प्राप्त करता है। इसका सारांश यह हुआ कि प्रबन्ध काव्यों में जल क्रीड़ा, कुसुमावचय इत्यादि प्रसंग प्रकृत कथा के अनुरूप वर्णित होकर सौन्दर्य –सम्पत्ति के कोष बन जाते हैं।

प्रबन्ध काव्य का लक्ष्य जीवन के समग्र विस्तार को समेटना रहता है। इस कारण कभी–कभी घटना–प्रवाह से ऊबा हुआ कवि सामाजिक आनन्द के लिए

रोचक प्रसंगों की अवतारणा किया करता है। ये सभी सरस प्रसंग उत्पाद्य लावण्य से मंडित होते हैं। संस्कृत के काव्य शास्त्र में तो ऐसे प्रकरण महाकाव्य के लक्षणों में ही समाविष्ट कर दिये गये हैं। दण्डी के अनुसार महाकाव्यों में नगर का, समुद्र का, पर्वत का, ऋतुओं का चन्द्रोदय–सूर्योदय एवं चन्द्रास्त–सूर्यास्त, उद्यान विहार का जलक्रीड़ा का मधुसेवन तथा सम्भोग का वर्णन होना चाहिए। भोज ने इसे ही प्रबन्धगत अर्थालंकार कहा है। उनके अनुसार नगर, आश्रम, शैल्य. सैन्य संचालन, समुद्र आदि का वर्णन, ऋतु रात–दिन, सूर्यस्त, चन्द्रोदय आदि का वर्णन, मंत्र, दूत, प्रयाण, संग्राम, अभ्युदय आदि का वर्णन, वन–विहार, जल–क्रीड़ा, मधुपान, मानापमान, रतोत्सव आदि का वर्णन ये काव्यगत अर्थालंकार है। विश्वनाथ ने बतलाया है कि महाकाव्य के अन्तर्गत संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रातःकाल, मध्यान्ह, मृगया. पर्वत, ऋतु, वन–उपवन, समुद्र, संभोग, विप्रयोग मुनि, स्वर्ग, नगर यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, सामाद्युपाय, चतुष्टय, पुत्र जन्म आदि का यथा सम्भव वर्णन किया जाता है। तात्पर्य यह कि जीवन के समग्र विस्तार से कवि अपने प्रस्तुत के अनुरूप सरस प्रसंगों को चुन लेता है और उनका बड़ा ही रसावह वर्णन करता है।

ऐसे रोचक प्रसंग चार तरह से वर्गीकृत किये जा सकते हैं – समय और ऋतु विषयक, स्थान विषयक और कार्य विषयक। समय और ऋतु विषयक प्रसंगों के अन्तर्गत प्रत्यूष, ऊषा, मध्यान्ह, सूर्यास्त, प्रदोष , अन्धकार, चाँदनी, चन्द्रोदय, सूर्योदय, रात–दिन और ऋतुएँ आदि आती हैं। विलास विषयक के अन्तर्गत कुसुमावचय, उद्यान. विहार, जलक्रीड़ा, मधुसेवन, मान और सम्भोग आते हैं। स्थान विषयक के अन्तर्गत आश्रम, नगर, शैल, नदियाँ और समुद्र तथा कार्य विषयक के अन्तर्गत मंत्र–पाठ, दूत–प्रेषण, मृगया, पुत्र– जन्म, अभ्युदय और संग्राम आदि के वर्णन आते हैं। लेकिन यह तालिका भी उपलक्षण मात्र है। कवि ऐसे नवीन प्रसंगों की अवतारणा कर सकता है, किया करता है।

गुप्त जी के काव्यों में रोचक प्रकरणों की सुन्दर अवतारणा है–

(1) <u>साकेत</u> :– इस महाकाव्य में अयोध्या नगरी का सुन्दर वर्णन है–

"देख लो साकेत नगरी है यही, स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही।

केतु–पट अंचल सदृश हैं उड़ रहे, कनक–कलशों पर अमर दृग जुड़ रहे।

सोहती है विविध–शालाएँ बड़ी, छत उठाए मित्तियाँ चित्रित खड़ी।"[1]

साकेत में संयोग–वियोग के सुन्दर उदाहरण हैं, संयोग शृंगार का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है–

हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये ओर बोले एक परिम्भण प्रिये।

सिमिट–सी सहसा गई प्रिय की प्रिया, एक तीक्ष्ण उपांग ही उसने दिया।

किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया, आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया।"[2]

श्री गुप्त जी ने प्रकृति के सुन्दर चित्र उकेरे हैं–

मैं निज अलिन्द में खड़ी थी सखि, एक रात,

रिमझिम बूँदे पड़ती थी, घटा छाई थी।

गमक रहा था, केतकी का गन्ध चारों ओर,

झिल्ली झनकार यही मेरे मन भाई थी।

करने लगी मैं अनुकरण स्व नुपुरों से,

चंचला थी चमकी, घनाली घहराई थी।

चौंक देखा मैने चुप कोने में खड़े थे प्रिय,

माई मुख लज्जा उसी छाती में छिपाई थी।"[3]

प्रकरण वक्रता के अन्तर्गत चन्द्रोदय वर्णन भी आता है। साकेत में चन्द्रोदय का सुन्दर वर्णन है, यह उर्मिला के लिए पीड़ा जन्य है–

---

1. साकेत सर्ग – प्रथम सर्ग – 12
2. वही – वही – 26
3. वही – नवम सर्ग – 150

"हा मेरे! कुंजों का कूजन रोकर निराश होकर सोया।

यह चन्द्रोदय उसको उड़ा रहा है धवन वसन–सा धोया।"[1]

(2) **जयद्रथ वध** :– इस काव्य में प्रकरण वक्रता के उदाहरण हैं– सूर्यास्त का उदाहरण प्रस्तुत है–

"मार्तण्ड अस्ताचल निकट घन मुक्त–सा देखा गया।

है जान सकता कौन हरि का कृत्य नित्य नया–नया?

था पार्थ के हित के लिए यह खेल नटवर ने किया,

दिन रहते सूर्य को था अस्त–सा–दिखला दिया।।"[2]

युद्ध के सुन्दर दृश्य इस काव्य में प्रस्तुत किये गये हैं–

"उस अर्द्धचन्द्राकार शर ने छूट कर को दण्ड से ,

छेदन किया रिपु–कण्ठ तत्क्षण फलक धार प्रचण्ड से।

होता हुआ इस भाँति भासित शीश उसका गिर पड़ा।

होता प्रकाशित टूटकर नक्षत्र ज्यों नभ में बड़ा।"[3]

(3) **पंचवटी** :– इस काव्य में प्रकृति के मनोरम चित्र हैं–

"चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही है जल–थल में,

स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है, अवनि और अम्बर तल में।

पुलक प्रकट करती है धरती, हरित तृणों की नोकों से ,

मानों झूम रहे हैं तरु भी, मन्द पवन के झोंकों से।"[4]

"(4) **सिद्धराज** :– इस काव्य का प्रारम्भ ही सन्ध्या वर्णन से हुआ है–

"सन्ध्या हो रही है नील नभ में शरद के,

शुभ्र घन तुल्य हरे वन में शिशिर के।

---

1. साकेत – नवम सर्ग – 154
2. जयद्रथ वध – षष्ठ सर्ग – 71
3. वही – प्रथम सर्ग – 11
4. पंचवटी – 5

स्वर्ण के कलश पर अस्तंगत भानु का,

अरुण प्रकाश पड़ झलक रहा है यों,

झलक रहा हो भरा भीतर का वर्ण ज्यों।

फहर रहा है केतु उस पर धीरे से ।"[1]

युद्ध के वर्णन भी इस काव्य में हैं–

"दिया हाथी ललकार वीर ने

प्रबल चलाचल यश–पटह नाम का।

मारकर टक्कर, चिघाड़कर उसने

दुर्ग के किवाड़ फाड़ डाले तोड़–तोड़के।

आड़ में उसी की बच वैरियों को मारते,

घुस गये सैनिक प्रचंड नाद करके।"[2]

(5) **वन वैभव** :– इस काव्य में युद्ध का सुन्दर वर्णन है–

"शीघ्र उस शर का पड़ा प्रभाव, हुआ सब कौरव–दल हतहाव।

चढ़ा तब गन्धर्वों को चाव, उन्होंने किया विकट वर्ताव

कि सारे शूरों को पकड़ा, विमानों से बाँधा जकड़ा।"[3]

(6) **उच्छवास** :– समुद्र वर्णन

"मथित है हृत रत्न है फिर नहीं तू दीन।

देवकार्य–निमित्त था वह योग एक नवीन।

पूछ देख, अनन्त कवि तेरे हृदय में लीन।

अचल–सा यह विश्व है तुच्छातितुच्छ–विहीन।।"[4]

(7) **द्वापर** :– 'कुब्जा की भावनाओं के माध्यम से श्रृंगार वर्णन–

"गड़े हुए धन सा, मन में ही, रक्खूं क्या मैं तुझको?

तो यह मेरा तन क्यों तूने, दिया बनाकर मुझको?

---

1. सिद्धराज – प्रथम सर्ग – पृ0 सं0 –6
2. सिद्धराज – प्रथम सर्ग – 31
3. वन–वैभव – 27
4. उच्छवास – 77

रोम रोम बस तुझे पुलक–सा–पाकर जड़ रह जावे
और उन्हीं चरणों में जीवन स्वेद बना बह जावे।
तुझसे मिलने को अपने से, आप बिछुड़ती हूँ मैं।
और बड़ा कौतुक तो यह तू, यहीं कहीं बैठा है।"[1]

(8) **हिडिम्बा** – युद्ध वर्णन–

"छूटी चिनगारियाँ सी वार–वार वारो से, सारा वन गूँज उठा दारुण हुंकारों से
एक दूसरे की रेल–पेल दोनों झेलते, मानो प्रतिपक्षी–संग भूमि को भी ठेलते।
कर धरते थे कर किंवा अजगर थे, करते अमानुषिक नाट्य वे दो नर थे।"[2]

(9) **प्रदक्षिणा** :– युद्ध वर्णन–

"आँधी में उड़ते पत्तों से, दलित हुए सब सेनानी।
पर उस मेघनाद के बदले, आया कुम्भकर्ण मानी।
भाई का बदला भाई ही, गरज उठे वे घन गम्भीर।
गज पर पंचानन–सम उस पर टूट पड़े उसका दल चीर।"[3]

(10) अनघ :– **युद्ध वर्णन–**

"यों करो तुम वार/मैं मघ खड़ा तैयार
हम चार को ललकार/अब तो हुआ विश्वास,
था व्यर्थ वह आयास/जो उठा उसका मुण्ड
रह जायेगा बस रुण्ड।"[4]

(11) **शक्ति**– युद्ध वर्णन –

"पटके पैर दैत्य दुर्द्धर ने धँसी मेदिनी मूक।
पटकी पूँछ जलधि चिल्लाया निज मर्यादा चूक।

---

1. द्वापर – 112–13
2. हिडिम्बा – 22–23
3. प्रदक्षिणा – 69
4. अनघ – 13

उछला असुर–हुए शृंगों से मेघों के सौ टूक।

मारी जो हुंकार महर्षि ने उठी प्रलय की हूक। xxx

जब तक मेरा खड्ग न कर ले तेरा शोणित–पान।

तब तक और गरज ले क्षण भर अरे अधम अज्ञान।"[1]

(12) <u>यशोधरा</u> :– इस काव्य में प्रकृति को सादृश्य कर दिया गया है–

"वर्ण वर्ण के फूल खिले थे।

झलमल पर हिम बिन्दु मिले थे।

हलके झोंके हिले मिले थे।

लहाराता था पानी।"[2]

इन तमाम उदाहरणों से स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी के काव्य में सुन्दर प्रकरण वक्रता है। इस दृष्टि से अन्य द्विवेदी युगीन कवि उनके समकक्ष नहीं वे अपने युग के श्रेष्ठ सर्जक कवि हैं।

---

1. शक्ति – पृ0 सं0 – 15
2. यशोधरा – पृ0 सं0–59

अष्टम अध्याय

मैथिलीशरण गुप्त के काव्यों में प्रबन्ध-वक्रता

मैथिलीशरण गुप्त के काव्यों में प्रबन्ध–वक्रता

प्रबन्ध–वक्रता वस्तुतः समग्र प्रबन्ध कौशल का ही दूसरा नाम है। यह कवि अथवा नाटककार की निर्माण–कुशलता और प्रतिभा का ही पर्याय है। प्रबन्ध–निर्माण के कौशल की तुलना में पद, पदांश वाक्यादि के निर्माण का कौशल हीन हुआ करता है। प्रबन्ध निर्माण का सामर्थ्य बड़ी क्षमता का परिचायक है।

साकेत में प्रबन्धात्मकताः– प्रबन्ध काव्य साहित्य की वह विधा है, जिसमें माला के मनकों की तरह विभिन्न घटनायें सुसम्बद्ध होकर एक क्रमबद्ध कथा के रूप में विद्यमान रहती है। प्रबन्ध काव्य एक ऐसी विस्तृत वनस्थली है, जिसमें सुन्दर सरोवर, रमणीक पुष्पोद्यान, मनोरंजक बिहार स्थल, चित्ताकर्षक लता कुंजे, मनोहर पशु पक्षी, घनी झाड़ियाँ, शान्तिदायक तपोवन, अनेक पेड़–पौधे आदि–आदि शोभायमान रहते हैं और देखने पर सभी मिलकर सामूहिक रूप से हृदय पर अपनी एक अमिट छाप छोड़ जाते हैं। इसमें एक ऐसी सानुबंध एवं शृंखलाबद्ध कथा रहती है, जिसमें अनेक अवान्तर कथाएँ एवं घटनाएँ रहती है, परन्तु उन सभी अवान्तर कथाओं एवं घटनाओं का प्रवाह धारावाहिक रूप से चलता रहता है। यदि एक अवान्तर कथा कहीं समाप्त होती है, तो तुरन्त ही दूसरी कथा आकर प्रबन्ध काव्य के मुख्य कथा के प्रवाह को आगे बढ़ा देती है। ऐसे ही यदि एक घटना कहीं समाप्त होती है, तो तुरन्त ही दूसरी घटना आकर उस प्रवाह को अविच्छिन्न बना देती है। इस तरह जब तक दूसरी कथा या घटना आकर उसे सहारा नहीं देती, तब तक कथा का प्रवाह अविरल रूप से नहीं चलता। यही कारण है कि प्रबन्ध काव्य पूर्वा पर निरपेक्ष न होकर सापेक्ष होता है और उसके उत्तरार्द्ध या पूर्वार्द्ध अथवा मध्य भाग के पढ़ने मात्र से काम नहीं चलता। उसमें आदि से लेकर अन्त तक डुबकी लगाये बिना आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। प्रबन्ध काव्य की यह कथा वर्णनात्मक होती है। इसका मूल कारण यह है कि प्रबन्ध काव्य में विषय की प्रधानता रहती है, जिससे उसकी कथा में वर्णनात्मकता आ जाती है और उसका सम्पूर्ण कलेवर वस्तु–वर्णनों से भरा रहता है। इस वर्णनात्मकता के लिए कवि जन दोनों प्रणालियों का प्रयोग करते हैं; अर्थात् कुछ कवि तो स्वयं ही वर्णन करते चलते हैं और कुछ विभिन्न पात्रों के कथोपकथनों द्वारा वर्णन करते हैं। इन वस्तु वर्णनों को सरस एवं मोहक बनाने के लिए प्रबन्ध काव्य में भावात्मक स्थलों का समावेश किया जाता है। प्रायः जिन कवियों को कथा के गम्भीर एवं मार्मिक स्थलों की जितनी अधिक पहचान होती है, उनके प्रबन्ध काव्यों में

उतने ही सुन्दर भावात्मक स्थल रहा करते हैं और उनके काव्य उतने ही अधिक सहृदयों के हृदयों को आह्लादकारी होते हैं। इन भावात्मक स्थलों के समावेश से ही प्रबन्ध काव्य में रसात्मकमता आती है और वह कोरा इतिवृत्तात्मक न रहकर मर्मस्पर्शी बनता है, इतना ही नहीं, यदि उन स्थलों में देशगत एवं स्थानगत विशेषताओं का पुट और दे दिया जाता है, तो वह प्रबन्ध काव्य पाठकों की निजी वस्तु बन जाता है, क्योंकि उसमें अपने जीवन की प्रतिच्छाया दिखाई देने लगती है।

इस तरह प्रबन्ध काव्य कवि की एक ऐसी सुसम्बद्ध रचना है जिसमें कवि की दृष्टि अर्न्तमुखी न होकर बर्हिमुखी होती है और वह संसार की ओर उन्मुख होकर उसके विविध रूपों, नाना दृश्यों, विभिन्न भावों, अनेकानेक सौन्दर्यमयी झाँकियों आदि का चित्रण बड़े मनोयोग के साथ करता है। साथ ही वर्णन की विभिन्न प्रणालियों का प्रयोग करता हुआ अपनी सम्पूर्ण कथा को घटनाओं के अनुरूप विभाजित करता है। घटनाओं का यह विभाजन प्रबन्ध काव्य में सर्गों के रूप में विद्यमान रहता है। इससे वस्तु वर्णनों की एकसूत्रता घटनाओं की क्रमबद्धता, कथा–प्रभाव की धारावाहिकता आदि में सन्तुलन बराबर बना रहता है तथा 'कार्य' की दृष्टि से सम्पूर्ण कथा में एकरूपता आ जाती है। प्रबन्ध काव्य के इस विवेचन के आधार पर अब यह सुगमता से पता चल सकता है कि उसमें कौन कौन सी प्रमुख विशेषताएँ होती हैं, जिनके आधार पर कोई काव्य प्रबन्ध काव्य कहलाने का अधिकारी होता है। साधारणतया एक प्रबन्ध काव्य के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक होती हैं:–

1. उसमें एक सानुबन्ध कथा हो, जिसमें वर्णनात्मकता का प्राधान्य हो,
2. उसमें अवान्तर कथाओं एवं घटनाओं की योजना हो,
3. उसमें भावात्मक स्थलों सहित वस्तु वर्णनों का प्राधान्य हो, जिनमें देशगत एवं स्थानगत विशेषताएँ हो,
4. अवान्तर कथाओं एवं वस्तु वर्णनों का मुख्य कथा के साथ सम्बन्ध–निर्वाह हो, और

5. 'कार्य' की दृष्टि से उसकी सम्पूर्ण कथा में एकरूपता हो।

(1) **सानुबन्ध कथा** :– उक्त विशेषताओं के आधार पर जब हम 'साकेत' काव्य के बारे में विचार करते हैं तब ज्ञात होता है कि 'साकेत' का निर्माण उर्मिला के उपेक्षित जीवन को वाणी प्रदान करने के लिए हुआ है। अतएव इसकी मुख्य कथा उर्मिला–लक्ष्मण के वियोग एवं संयोग से सम्बद्ध है, जिसमें सानुबन्ध कथा के लक्षण विद्यमान हैं। इसके लिए कथा में आदि, मध्य और अवसान का होना अपेक्षित है। 'साकेत' में प्रथम सर्ग के अन्तर्गत लक्ष्मण और उर्मिला की हास–परिहासपूर्ण वार्ता से लेकर अष्टम सर्ग के अन्दर चित्रकूट की पर्णकुटी में उनके क्षणिक मिलन तक कथा का आदि है, नवम् और दशम् सर्ग के विरह वर्णन में कथा का मध्य है और एकादश से लेकर द्वादश सर्ग में लक्ष्मण–उर्मिला के मिलन तक का कथा अन्त है। इस तरह कवि ने लक्ष्मण–उर्मिला के हास–परिहासपूर्ण आनन्दमय जीवन की झाँकी देकर पहले उर्मिला के संयोग–सुख की ओर संकेत किया है, फिर लक्ष्मण के वन चले जाने पर उसके जीवन में वियोग की विषम वेदना को प्रविष्ट होते हुए दिखलाया है और चित्रकूट पर क्षणिक मिलन दिखाकर उस वेदना को और भी गहन और गम्भीर बनाने की चेष्टा की है। तदनन्तर सीता–अपहरण एवं लक्ष्मण शक्ति के प्रसंगों द्वारा उस वेदना को चरम सीमा पर पहुँचा दिया है, जिससे वह वियोगिनी निरन्तर आँसू बहाना भूलकर अपने प्रियजनों पर आने वाले कष्ट का प्रतिकार करने के लिए तत्पर दिखाई देती है। तदुपरान्त मिलन की तैयारी हो जाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण कथा एक सूत्र में आबद्ध है, जिसमें पर्याप्त वर्णनात्मकता है, क्योंकि कवि ने सभी स्थानों पर या तो स्वयं ही कथा का वर्णन किया है या किसी न किसी पात्र के मुख से वर्णन कराया है। इतना अवश्य है कि कथा–योजना अधिक सुगठित एवं सुनियोजित नहीं है। उसमें राम कथा भी मिली हुई है, जिससे पहले तो मुख्य कथा गौण–सी दिखाई देती है और अष्टम सर्ग तक ऐसा जान पड़ता है कि कवि उर्मिला की कथा न कहकर राम–कथा में तल्लीन है। नवम और दशम सर्ग में अवश्य वह मुख्य कथा की ओर अग्रसर हुआ है, परन्तु फिर वह राम कथा में निमग्न हो जाता है और अन्त में जाकर उसे मुख्य कथा का

का ध्यान आता है। इस तरह 'साकेत' में मुख्य कथा सानुबन्ध तो है, उसमें पूर्वापर सम्बन्ध भी विद्यमान है, वर्णनात्मकता भी है, परन्तु वह सुगठित एवं सुनियोजित न होने के कारण राम कथा के सम्मुख मुख्य न होकर गौण–सी हो गई है। केवल प्रथम, नवम, दशम तथा द्वादश सर्ग के अन्त को देखकर ही ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने उर्मिला की कथा लिखी है, नहीं तो शेष सर्गों में राम–कथा की ही प्रधानता है। फिर भी कथा में सम्बद्धता है। इसलिए 'साकेत' में कथा की दृष्टि से प्रबन्धात्मकता विद्यमान है।

(2) <u>अवान्तर कथा एवं घटनाएँ</u> :– 'साकेत' में अवान्तर कथाओं एवं घटनाओं का संगुम्फन भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। कवि ने राम–कथा के विभिन्न प्रसंगों को यथा–अवसर मुख्य कथा के साथ सम्बद्ध करने की चेष्टा की है, जिससे कहीं तो इन कथाओं को किसी के मुख से कहलवाया है और कहीं कुछ घटनाओं को घटित होते हुए भी अंकित किया है। 'साकेत' के रंगमंच पर पहले राज्याभिषेक की चर्चा से लेकर राम, लक्ष्मण एवं सीता के चित्रकूट–प्रवास की तक की सम्पूर्ण घटनाएं तो घटित होते हुए ही दिखाई गई हैं, परन्तु नवम् सर्ग से द्वादश सर्ग तक कवि ने नवीन ढंग अपनाया है, जिसमें राम–कथा–सम्बन्धी शेष समस्त घटनाएँ किसी न किसी पात्र के मुख से कहलवाने का प्रयत्न हुआ है। जैसे राम, लक्ष्मण आदि चारों भाइयों तथा सीता, उर्मिला आदि चारों बहिनों के जन्म, ताड़का–वध, धनुष–यज्ञ, विवाह आदि की घटनाओं का वर्णन उर्मिला के मुख से कराया गया है। दण्डक वन, शूर्पणखा, खरदूषण आदि से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन शत्रुघ्न के मुख से कराया गया है। सीता हरण, लक्ष्मण शक्ति आदि प्रसंगों का वर्णन हनुमान साकेत में आकर भरत जी से करते हैं। शेष लक्ष्मण–मेघनाद युद्ध, कुम्भकर्ण–वध, राम–रावण युद्ध, लंका विजय, सीता उद्धार आदि से सम्बन्धित घटनाएँ वशिष्ठ जी अपनी योगदृष्टि द्वारा साकेतवासियों को साकेत में ही दिखा देते हैं। इस तरह 'साकेत' में घटनाएँ घटित होते हुए अपेक्षाकृत कम दिखाई गई हैं, जबकि कथन या वर्णन के रूप में अधिक अंकित है। फिर भी राम–कथा

सम्बन्धी लगभग सभी घटनाएँ किसी न किसी रूप में यहाँ आ गई हैं और उन सबको उर्मिला लक्ष्मण की मुख्य कथा से सम्बद्ध कर दिया गया है। इतना अवश्य है कि इन कथाओं एवं घटनाओं के बीच में कवि उर्मिला को नहीं भूला है, उर्मिला किसी न किसी प्रकार प्रत्येक कथा या घटना से प्रभावित होती रहती है। जैसे वनवास के प्रसंग मे राम के साथ लक्ष्मण को वन जाता हुआ देखकर उर्मिला की इच्छा भी अपनी बहिन सीता के साथ वन जाने की होती है, परन्तु लक्ष्मण के 'रहो' रहो, हे प्रिये! रहो' कहने पर बिचारी धैर्य धारण करके रह जाती है, और अपने मन को 'तू प्रिय पथ का विघ्न न बन' कहकर समझाती है। परन्तु लक्ष्मण के जाते ही कवि ने उसे 'कह कर "हाय"! धड़ाम गिरी' हुई भी दिखाया है। इसी तरह राजा दशरथ के मरने पर 'माँ कहाँ गये वे पूज्य पिता' कहती हुई उर्मिला अपनी सुध–बुध खोकर कैकेयी के आगे मूर्च्छित होती हुई भी दिखाई गई है। चित्रकूट पर 'आ' मेरी सबसे अधिक दुखिनी, आ जा' कहकर कैकेयी को भी उर्मिला के ऊपर दु:ख प्रकट करते हुए अंकित किया गया है। लंका की घटनाओं का प्रभाव भी सबसे अधिक उर्मिला पर ही पड़ता है, क्योंकि इसी कारण वह साकेतवासियों के साथ युद्ध–स्थल में जाने के लिए तैयार हो जाती है और अंत में राम–लक्ष्मण के आगमन पर "पाकर अहा! उमंग उर्मिला–अंग भरे थे" कहकर कवि ने उर्मिला को ही इस घटना से सर्वाधिक प्रसन्न एवं प्रफुल्लित होते हुए दिखाया है। इस प्रकार सम्पूर्ण अवान्तर कथाओं एवं घटनाओं का पूरा–पूरा सम्बन्ध उर्मिला की जीवन–गाथा से जोड़ा गया है, जिससे सम्पूर्ण कथा का केन्द्र बिन्दु उर्मिला बन गई है और इसी से काव्य के इतिवृत्त में क्रमबद्धता न होने पर भी समस्त उपकथाओं एवं घटनाओं में क्रमबद्धता आ गई हैं।

(3) <u>भावात्मक स्थलों सहित वस्तु–वर्णन</u> :– किसी प्रबन्ध काव्य में कोई एक कथा तो मुख्य रूप से रहती ही है, परन्तु उसके साथ ही बीच–बीच में कवि ऐसी–ऐसी वस्तुओं एवं व्यापारों का वर्णन भी करता चलता है, जिन्हें

पढ़कर पाठकों के मन आनन्द–उर्मिया उठने लगती है। परन्तु वे सभी वस्तु वर्णन या व्यापार–चित्रण मुख्य कथा से ही सम्बद्ध रहते हैं, उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता और न वे मुख्य कथा से परे अन्य किसी कथा से सम्बन्धित होते हैं, अपितु मुख्य कथा के बीच–बीच में आने वाली वस्तुओं पदार्थों, व्यापारों आदि को सजीवता एवं सरसता प्रदान करने के लिए ही अंकित किये जाते हैं। 'साकेत' में भी ऐसे वस्तु एवं व्यापार सम्बन्धी वर्णनों की कमी नहीं है; जैसे – प्रथम सर्ग के साकेत नगरी के सजीव चित्रण के साथ उर्मिला–लक्ष्मण के विनोदपूर्ण दाम्पत्य–जीवन का वर्णन, द्वितीय सर्ग में मंथरा–कैकेयी के वार्तालाप के साथ–साथ कैकेयी के प्रकोप एवं वर–याचना का वर्णन, चतुर्थ सर्ग में विदाई का वर्णन , पंचम सर्ग में प्रजाजन के प्रेम एवं सोहार्द के साथ–साथ वन में गुहराज के मिलन का तथा गंगा–पार होने का वर्णन, षष्ठ सर्ग में दशरथ मरण का वर्णन, सप्तम सर्ग में भयंकर शोक एवं गहन विषाद में डूबी हुई साकेत नगरी में भरत के आगमन का वर्णन, अष्टम सर्ग में सीता की कुटिया में सुशोभित राजभवन एवं चित्रकूट की सभा का वर्णन, नवम् सर्ग में विरह की तीव्र वेदना से तड़पती हुई उर्मिला की विभिन्न चेष्टाओं एवं व्यापारों का वर्णन, दशम सर्ग में राजा जनक के महलों में होने वाली सीता, उर्मिला आदि की बाल–क्रीड़ाओं का वर्णन, एकादश सर्ग में भरत और मांडवी के त्याग–तपस्यापूर्ण तपोमय जीवन का वर्णन, द्वादश सर्ग में साकेतवासियों की रण–सज्जा का वर्णन आदि आदि। इन सभी वर्णनों में कवि ने वस्तुओं एवं व्यापारों की सजीव झाँकी अंकित करते हुए उनका मानव जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है और उन्हें ऐसे विराम स्थल बनाने की चेष्टा की है जो मानव की रागात्मिका प्रकृति का उद्बोधन करने वाले हैं, हृदयोदधि में भाव–लहरियाँ उठाने वाले हैं और चंचल मन को आकृष्ट करने में पूर्ण समर्थ हैं। निस्संदेह इन भावात्मक स्थलों के कारण ही 'साकेत' में सरसता आ गई है और शृंखला–विहीन इतिवृत्त के रहते हुए भी यह प्रबन्ध काव्य रसात्मक हो गया है।

इतना ही कवि ने इन भावात्मक स्थलों में स्थानगत एवं देशगत विशेषताओं का भी समावेश किया है। उदाहरण के लिए नवम् सर्ग में आया हुआ विरहिणी

उर्मिला का वह कथन इस विशेषता का द्योतक है, जिसमें वह कहती है कि मैने देवर शत्रुघ्न से पूछा कि इस वर्ष कपास, ईख, धान आदि की पैदावार कैसी हुई है? तब उन्होंने कहा कि इस वर्ष वैसे तो इन्द्र भगवान की दुगुनी दया हुई है और जब गाँव के किसानों से पूछा गया तब वे भी यही कहते थे कि इस वर्ष अन्न, गुड़, गोरस आदि की खूब वृद्धि हुई है, फिर भी "किन्तु स्वाद कैसा हे, न जाने, इस वर्ष हाय!" यह कहकर एक किसान की पत्नी रो उठी थी। इसी तरह चित्रकूट की प्रात:कालीन मनोरम झाँकी, षटऋतुओं के मनोहारी वर्णन आदि में स्थानगत एवं देशगत विशेषताओं का चित्रण करके कवि ने इन भावात्मक स्थलों को जीवन से पूर्णतया सम्बद्ध कर दिया है, जिससे समस्त वस्तु वर्णनों में आन्तरिक एवं बाह्य – दोनों दृष्टियों से जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया है। यही कारण है कि इन वर्णनों में आधुनिक भारतीय जीवन मुखरित हो उठा है, जो इस काव्य को प्रबन्ध काव्य का रूप देने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है।

(4) <u>सम्बन्ध निर्वाह</u> :– एक प्रबन्ध काव्य में समस्त अवान्तर कथाओं एवं वस्तु वर्णनों का क्रम इस तरह रखा जाता है, जिससे वे सभी मुख्य कथा से पूर्णत: सम्बद्ध रहते हैं और उसे आगे बढ़ाते हुए उसमें चारुता एवं मनोरंजकता की सृष्टि किया करते हैं। 'साकेत' में भी कवि ने यथाशक्ति सभी प्रासंगिक एवं अवान्तर कथाओं को मुख्य कथा से सम्बद्ध करके ही अंकित किया है। इसकी मुख्य कथा लक्ष्मण–उर्मिला के विरह एवं मिलन की कथा है, जिसमें राम–राज्याभिषेक, कैकेयी की वर–याचना, राम–वन–गमन, निषाद–मिलन, चित्रकूट पर राम–भरत का मिलन, खर–दूषण–वध, लंका–विजय, सीता–उद्धार आदि से सम्बन्धित समस्त कथाएँ यथा अवसर आकर मिलती चली गई हैं और अंत कवि की अपनी योजना के अनुसार मुख्य कथा के साथ संगुम्फित हैं। इतना अवश्य है कि इस सम्बन्ध–निर्वाह के लिए कवि को परम्परागत राम–कथा में भी क्रम भंग करना पड़ा है, क्योंकि यहाँ न तो पहले राम–लक्ष्मण आदि का जन्म दिखाया जाता है और न उनके विवाह आदि की घटनाओं का ही उल्लेख हुआ है; अपितु कथा का आरम्भ लक्ष्मण–उर्मिला की विनोद वार्ता से किया गया है और आगे चलकर दशम सर्ग में सम्पूर्ण बाल–जीवन से सम्बन्धित

घटनाओं को उर्मिला के मुख से कहलवा दिया गया है। इस क्रम भंग को भी कवि ने इस तरह चित्रित किया है कि उस दोष की ओर पाठकों की दृष्टि सहसा नहीं जाती। परन्तु कवि ने नवम् सर्ग का निर्माण इस तरह से किया है कि यदि उसे 'साकेत' में से निकाल भी दिया जाये, तो उसकी कथा में कोई बाधा उपस्थित न होगी, क्योंकि वह तनिक भी विशृंखलित न होगी। प्रायः प्रबन्ध काव्यों में कथायें इतनी परस्पर सम्बद्ध एवं संगुम्फित रहती है कि उनमें से यदि कोई सर्ग निकाल दिया जाये, तो उसकी कथा-शृंखला स्पष्ट रूप से टूटी हुई दिखाई देगी और साधारण पाठक भी उसके क्रम भंग को समझ लेगा। परन्तु 'साकेत' की कथा-योजना कुछ ऐसी है कि जिसमें से नवम् सर्ग ही क्या, यदि दशम् सर्ग को भी निकाल दिया जाये, तो भी न तो कथा-सूत्र ही विशृंखलित होगा ओर न इसमें कहीं क्रम-भंग होता हुआ दिखाई देगा। इतना ही नहीं, इसकी प्रबन्ध धारा इनके न रहने पर भी अविरल गति से बहती रहेगी। अतएव कवि ने सम्पूर्ण अवान्तर कथाओं में घटनाओं को मुख्य कथा से सम्बद्ध करके तो उपस्थित किया है, परन्तु उनकी योजना यथोचित न होने के कारण प्रबन्ध-धारा में गुरुता एवं गम्भीरता नहीं आ सकी है।

(5) <u>'कार्य' की दृष्टि से एकरूपता :- </u>प्रबन्ध काव्यों मे सदैव कोई न कोई एक प्रमुख लक्ष्य या उद्देश्य रहता है जो 'कार्य' कहलाता है और उसी को दृष्टि में रखकर सम्पूर्ण इतिवृत्ति की ऐसी योजना की जाती है, जिससे समस्त कथा का केन्द्र बिन्दु वही 'कार्य' हो जाता है और सारे काव्य में एकरूपता दृष्टिगोचर होने लगती है। 'साकेत' का कार्य है - चौदह वर्ष उपरान्त लक्ष्मण-उर्मिला का मिलन। इसके लिए कवि ने वनवास प्रसंग से लेकर अंत तक उर्मिला के बारे में प्रत्येक पात्र से कुछ न कुछ अवश्य कहलवाया है और उर्मिला की स्मृति को पाठकों के मस्तिष्क में बराबर बनाये रखने की चेष्टा की है इससे स्पष्ट है कि कवि ने उर्मिला को अत्यधिक महत्व दिया है। परन्तु बिचारी उर्मिला का भाग्य राम-कथा से इस तरह लिपटा हुआ है कि कवि राम-कथा को छोड़कर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सका है, जिससे उर्मिला

की कथा प्रमुख होकर भी 'साकेत' में प्रमुख नहीं बन पाई है और जिस 'कार्य को ध्यान में रखकर कवि ने कथा–योजना की थी, उसमें व्याघात उत्पन्न हो गया हे, क्योंकि प्रारम्भिक आठ सर्गों तक तो राम–कथा का ही प्राधान्य है और दशम, एकादश तथा द्वादश सर्ग में कवि का झुकाव रामकथा की ओर अधिक रहा है। वह उर्मिला–लक्ष्मण की कथा को राम–कथा से उन्मुक्त नहीं कर सका है, जिससे कवि के इस काव्य में उद्देश्य की दृष्टि से कार्य–सिद्धि नहीं दिखाई देती। पहले तो कवि अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता हुआ प्रतीत होता है, परन्तु राम–कथा के झंझावत में पड़कर वह लक्ष्य–भ्रष्ट हो जाता है और आठ सर्ग तक बढ़ जाने के उपरान्त नवें सर्ग में उसे अपना लक्ष्य याद आता है। फिर कुछ दूर तक वह लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है, परन्तु उसकी कथा धारा में राम–कथा के रोड़े पुनः व्याघात उत्पन्न कर देते हैं, जिससे वह नई–नई कल्पनाओं एवं नवीन सूझ–बूझों का आश्रय लेता है और इससे उसे वशिष्ठ जी के द्वारा दी गई दिव्य दृष्टि जैसी क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। इससे कथा के सम्बन्ध–निर्वाह में भी व्याघात उत्पन्न हो जाता है। फिर भी कवि ने सम्पूर्ण उपकथाओं एवं घटनाओं को अन्त में अपने लक्ष्य की ओर मोड़ दिया है, जिससे 'साकेत' की प्रबन्ध–कल्पना अस्त–व्यस्त नहीं हुई है और उसकी कथा में एकरूपता आ गई है।

निष्कर्ष यह है कि 'साकेत' में आदि से लेकर अन्त तक एक कथा–धारा अविरल रूप से प्रवाहित हो रही है, भले ही उसमें परम्परागत क्रमबद्धता का अभाव हो फिर भी कवि की योजना के कारण वह विशृंखलित नहीं हुई है, उसकी सभी घटनायें एवं सभी वर्णन माला के मनकों की तरह सर्गों में विभाजित होकर परस्पर एक सूत्र में संगुम्फित है और उनमें 'कार्य' की दृष्टि से भी एकरूपता विद्यमान है। अतः इसे निःसंकोच एक प्रबन्ध–काव्य कहा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि इसमें अन्य प्रबन्ध काव्यों जैसी क्रमबद्धता, गुरुता, गंभीरता, धारावाहिकता एवं विशिष्टता का अभाव है और कवि 'उर्मिला विषयक उदासीनता' के जिस लक्ष्य को लेकर चला था, उसमें भी वह अधिक सफल नहीं हो सका है। फिर भी कवि ने 'साकेत' द्वारा उर्मिला सम्बन्धी काव्य के अभाव की पूर्ति करके आगामी कवियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।"[1]

1. साकेत में काव्य संस्कृति और दर्शन – पृ0 सं0 – 115

जयभारत :– 'जयभारत' में हम कवि के वर्णनों में सजीवता पाते हैं। इनमें वस्तु व्यंजना, रूप और दृश्य चित्रण, संवादात्मकता, नाट्य स्थितियों की सृष्टि, आदि गुणों को रक्खा गया है। कवि ने अपने वर्णनों को चमत्कृत तथा सरस बनाने का प्रयास किया है। ये इतिवृत्त निरूपण ही नहीं है। कवि शील निरूपण के कार्य में यहाँ विशेष रूप से प्रवृत्त हुआ है। उसके चरित्रों की विकास रेखाएँ स्पष्ट और सरल हैं, वक्र और उलझी हुई नहीं। सत् पात्र निरन्तर उन्नति करते गये हैं। असत् पात्रों की दो श्रेणियाँ हैं, एक सुधार क्षम हैं और दूसरे परिष्कार क्षम नहीं है, पर उनमें भी केवल दुर्गुण ही नहीं है, वे सद्गुणों से युक्त भी हैं, जैसे–कर्ण, दुर्योधन और दु:शासन। सत् पात्रों की भी दो कोटियाँ हैं, प्रथम कोटि के पात्रों को मानवीय दुर्बलताएँ घेरती हैं, पर वे उन पर विजयी होते हैं, जैसे–द्रौपदी, भीम और अर्जुन। दूसरी कोटि में वे पात्र आते हैं, जो मानवीय दुर्बलताओं को उभरने तक नहीं देते, जैसे भीष्म, कृष्ण और युधिष्ठिर। कवि ने राक्षसों को मानव रूप में चित्रित किया है। जैसे हिडिम्बा और घटोत्कच तथा मानवों को राक्षस भी बनाया है, जैसे अश्वत्थामा। कथोपकथन स्वगत, संक्षिप्त और प्रलम्ब तीनों प्रकार के रक्खे गये हैं। ये आलाप, संलाप, प्रलाप, संभाषण, वक्तृत्व आदि वर्गों में विभाजित हो सकते हैं तथा बुद्धिनिष्ठ, भावनामय भावोच्छ्वसित आदि अनेक भेद भी दिखाई पड़ते हैं। कवि ने प्रसंग वर्णन, दृश्य चित्रण, शील–निरूपण तथा भाव–व्यंजना के लिए भी इन्हें प्रयुक्त किया है। वातावरण के प्राय: संकेत ही रक्खे गये हैं। यदा–कदा प्रकृति और परिस्थिति का वर्णन भी किया गया हे। कवि ने भाव–व्यंजना और जीवन–मीमांसा का विशेष रूप से ध्यान रखा है। काव्य रचना की औत्सुक्य पूर्ण, सरस और आदर्शनिष्ठ सृष्टि उसका साध्य ज्ञात होती है। इन आख्यान खण्डों को स्पष्ट, सरल और साधु अभिव्यक्ति शैली में रचा गया है, और प्रत्येक खण्ड में छन्द परिवर्तन किया गया है। इनकी रचना में गुप्त जी का भाषा तथा छन्दों पर विपुल अधिकार भी प्रकट हुआ है।

'जयभारत' एक विशिष्ट रचना के रूप में उपस्थित किया गया है। इसे समग्र रचना के रूप में देखने के लिए इसकी प्रभावान्वित को लक्ष्य में रखना होगा। जो विवेचन किया गया है, उसी के आधार पर इस काव्य की समग्रता के संबंध में निम्नलिखित मंतव्य प्रकट किये जा सकते हैं:–

1. जयभारत में मानवता की जय का विवरण प्रस्तुत किया गया है। जो भरत वंशज या भारत अर्थात् युधिष्ठिर के महामानत्व का ही जय–गान है।

(2) इसमें घटना प्रसंगों की क्रमबद्धता रखी गई है। अवश्य ही सर्वांगपूर्ण सुविन्यस्त कथानक का निर्माण नहीं किया गया।

(3) पात्रों की चरित्र रेखाएँ क्रमशः विकसित होती गई हैं। खंड-रचनाओं के कारण पात्रों की चरित्र कल्पना में कोई अन्त र्विरोध नहीं रहने दिया गया हे। अवश्य ही दुर्योधन के औज्वल्य को कथांत में प्रकट किया गया है। दु:शासन का चरित्र–परिष्कार आतिशयिक प्रासंगिक कार्य ज्ञात होता है।

(4) महाभारत की सम्पूर्ण कथा का विवरण देते हुए कवि ने उसके मार्मिक और विशिष्ट प्रसंगों को ही प्रमुखता दी है, पर उनका प्रबंधावयवों की भाँति सानुपातिक वर्णन नहीं किया है।

(5) इसमें कवि का अतीत–प्रेम और उसकी युग चेतना एक–दूसरे से अभिन्न होकर मानवतादर्श की अवतारणा करने के लिए सन्नद्ध रही है। उसने न केवल बुद्धिवाद को ही लक्ष्य बनाया है और न केवल पौराणिक अंध–श्रद्धा को ही व्यक्त किया है। उसने मध्य मार्ग खोज निकाला है और वह है घटनाओं, कार्यों या पात्रों को विश्वसनीय रूप में उपस्थित या चित्रित करना।

(6) यह भारतीय जीवन के उत्थान और पतन का पुनराख्यान है, जिसके द्वारा भारतीय संस्कृति के विकासोन्मुख स्वरूप और उसकी अप्रतिहत चेतना का अभिलेखन किया गया है।

(7) कवि ने देशकाल का ध्यान रखा है, पर उसमें कथा को जकड़ा नहीं है। उसने नवयुग का महाभारतीय काव्य रचने की चेष्टा की है और नारीत्व का वैशिष्ट्य भी व्यंजित किया है।

(8) मानवता के आदर्श की, उसकी उत्थान चेष्टा की एवं उसके लौकिक और आध्यात्मिक स्वरूप की तथा उसके सैद्धान्तिक और व्यवहारिक अभिनत्व की अभिव्यक्ति का काव्योद्देश्य इस काव्य के अन्वित स्वरूप का प्रमुख उपादान है।

(9) यह समग्रता औपचारिक है, वस्तुतः यह अखंड काव्य–रचना नहीं है। इसका महत्व और काव्य–सौन्दर्य खंड–बंधत्व अथवा संकलित प्रबंध के रूप में ही स्पष्ट है और अस्वाद्य भी।

<u>जयद्रथ वध</u> :– जयद्रथ–बध की महाभारतीय कथा–वस्तु सात सर्गों में विभक्त की गई है और उसमें कवि का लक्ष्य उत्साह तथा शोक की व्यंजना करते हुए धैर्य की शिक्षा देना और पूर्वजों के शील का आदर्श उपस्थित करना रहा है। उसका कथन है: 'होगी सफलता क्यों नहीं, कर्तव्य पथ पर दृढ़ रहो।' इस खण्डकाव्य में कथावस्तु का वर्णन करना ही कवि को इष्ट है। उस पर नवीन बुद्धिवाद का प्रभाव अभी नहीं पड़ा है, क्योंकि उसके युधिष्ठिर श्रीकृष्ण को पूर्ण परब्रह्म मानकर ही उनकी वंदना करते हुए दिखाए गये हैं। श्रीकृष्ण की योग–माया अलौकिक कार्य का सम्पादन भी करती है।

<u>पंचवटी</u> :– गुप्त जी ने 'रामचरितमानस' के शूर्पणखा–प्रसंग में अपने पात्रों के मानसिक घात–प्रतिघात का चित्रण करने के लिए पर्याप्त परिवर्तन किये हैं। लक्ष्मण के आत्मसंलाप से काव्यारंभ होता है, शूर्पणखा रात्र्यंत में आती है और राम को देखकर उन पर भी मोहित होती है। 'मानस' में प्रथम प्रस्ताव राम से किया गया और 'पंचवटी' में उसका क्रम परिवर्तन हुआ। पंचवटी में वह 'प्रथम देवपत्नी' बनती है और फिर सौत, अतएव उसे राम अनुज–वधू कहकर और लक्ष्मण 'पूज्य आर्य को वरण करने की कामना प्रकट करने के कारण निराश कर देते हैं। गुप्त जी ने अपने पात्रों का चरित्र अभिनयात्मक पद्धति से उद्घाटित किया। इस प्रकार कथावस्तु को अपने अनुकूल बनाया। वस्तु शोधन का कार्य पंचवटी से प्रारम्भ हुआ, जो परवर्ती काव्यों में यथावश्यक रूप में सम्पादित हुआ। चरित्र–चित्रण की अभिनयात्मक शैली के कारण, अर्थात् कथन, कार्य और चरित्र की प्रधानता होने के कारण गुप्त जी के काव्य में नाटकीयता का प्रवेश भी हुआ।

<u>सिद्धराज</u> :– इस काव्य में जयसिंह का चरित्र उच्च होते हुए भी आदर्श नहीं है। कवि ने उसके पतन का भी निर्देश किया है और वह अपनी कुप्रवृत्तियों पर विजय पाकर ही श्रेष्ठ चरित्र बना है। गुप्त जी की चरित्र सृष्टि में यह एक

विशिष्ट परिवर्तन है। वे पात्रों को गिरने देते हैं और गिरते हुए पात्रों को पुनः उठाते हैं। यह छायावाद युग की यथार्थोन्मुख काव्य चेतना का परिणाम है। नायक का यह नव्य रूप मनोवैज्ञानिक वास्तविकता के काव्य में प्रवेश पा जाने के कारण दिखाई पड़ा। छायावादी काव्य में मानसिक घात–प्रतिघात की व्यंजना की जाती थी तथा नाटकों और उपन्यासों में अन्तर्द्वन्द्व की योजना प्रमुखता पा रही थी। कामायनी के मनु भी मानवीय चरित्र हैं, उत्थान पतन से युक्त। जयसिंह भी मानवीय पात्र हैं और वह धीरोदात्त नायक नहीं है। रानकदे के चरित्र के द्वारा कवि ने नारी के चारित्रिक उत्कर्ष की व्यंजना की है और मदनवर्मा के प्रसंग में राष्ट्रीय एकता का संदेश दिया है। सिद्धराज की राज्य–व्यवस्था में उसने पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता, शान्ति स्थापना और अभ्युदयशील प्रजा का विवरण प्रस्तुत किया है।

वह मुख्य वस्तु, जो गुप्त जी के चरित्र–प्रधान काव्यों की विकसित अवस्था सूचित करती है, जीवन को यथार्थ रूप में चित्रित करते हुए शील निरूपण के द्वारा आदर्श व्यंजना करना है। मुन्शी जी के रोमांस प्रधान उपन्यास और प्रेमचन्द जी के सामाजिक उपन्यासों में भी यही चित्रण पद्धति व्यह्वत हुई है।

<u>कुणाल–गीत</u> :– 'यशोधरा' की रचना करते हुए गुप्त जी ने बुद्ध–धर्म के साहित्य, दर्शन और इतिहास का अध्ययन भी किया था। अशोक का धर्म प्रचार बौद्ध इतिहास की महत्वपूर्ण वस्तु है। उसी के पुत्र कुणाल को विमाता की असफल कामासक्ति–जन्य आक्रोश का शिकार होना पड़ा। वह सीमाप्रांत में भेज दिया गया, जहाँ उसने अपनी बुद्धि के प्रभाव से राजनीतिक विद्रोह को शमित किया। उसकी पत्नी कंचनमाला भी उसके साथ थी। विमाता ने इसी बीच सम्राट का यह आदेश भेजवाया कि कुणाल को अंधा करके निष्कासित कर दिया जाय। कुणाल ने इसे भी शिरोधार्य किया। वह अंधा किये जाने पर कंचनमाला के साथ भिक्षाटन के लिए निकल पड़ा। पर्यटन करता हुआ थोड़े समय के पश्चात् वह पाटलिपुत्र जा पहुँचा। रात्रि में उसकी गीतिलहरी अशोक को

सुनाई पड़ी और पिता–पुत्र का सम्मिलन हुआ। अशोक के पुण्य से कुणाल को दृष्टि–लाभ हुआ और कुणाल के अनुरोध से विमाता का अपराध क्षमा किया गया। इसी कथा–वस्तु को आधार बनाकर गुप्त जी ने 'कुणाल–गीत' की रचना की है, पर घटनाएँ सभी सूच्य और आनुषंगिक हैं। उनसे कुणाल की परिस्थितियों का बोध मात्र होता है। सीमाप्रांत के विद्रोह शमन और नेत्र–हानि की घटना से यह काव्य आरम्भ होता है और कुणाल के पाटलिपुत्र में प्रत्यावर्तित होने पर समाप्त। इसमें मुख्यत: पथ–गीतों की रचना की गई है। कुणाल के पुन: दृष्टि लाभ करने की अतिप्राकृत घटना भी नियोजित हुई है।

<u>विष्णुप्रिया</u> :– प्रस्तुत रचना में 'साकेत' और 'यशोधरा' की भाव–धारा का विकास स्पष्ट होता है। उर्मिला का वियोग सावधि है और वह क्रियाशील चरित्र नहीं है। यशोधरा का वियोग निरवधि है पर वह पुत्रवती है। विष्णुप्रिया का वियोग भी निरवधि है, पर वह नि:संतान है। सास की सेवा तथा आजीविका को अर्जित करने का प्रयास , दोनों ही उसे करने पड़े। ये तीनों ही गुप्त जी की विशिष्ट चरित–सृष्टियाँ हैं। 'विष्णुप्रिया' प्रौढ़ोत्तरकालिक रचना है, अतएव स्वभावत: नायिका का चरित्र सामाजिक जीवन की चेतना का गहरा आधार भी ले सका है। वह भाव–प्रतिमा ही नहीं है, जीवन का दायित्व भी वहन करती है। राजकुल की वधू न होकर वह सामान्य कुलवधू है, अतएव साधारण जीवन की समस्याओं से वह ग्रस्त रही है। संक्षेप में विष्णुप्रिया की सृष्टि में उर्मिला अथवा यशोधरा के चरित्र की अपेक्षा सामाजिक जीवन का अधिक सन्निवेश हुआ है।

<u>यशोधरा</u> :– यशोधरा की भाव–धारा में उर्मिला की विरह–व्यथा का क्रमिक और स्वाभाविक विकास दिखाई पड़ा, जो 'विष्णुप्रिया' में आकर परिपूर्ण हुआ। उर्मिला का विरह–वर्णन एकान्तिक है, पर यशोधरा का गार्हस्थिक। दोनों में चिरकालिक विप्रलम्भ के उद्गार है। पर यशोधरा के मातृहृदय का चित्रण भी हुआ है। साकेत के प्रगीत उर्मिला के विरहोच्छ्वास हैं, पर यशोधरा के प्रगीतों

में अन्य पात्रों की आत्माभिव्यंजनाएँ भी सम्मिलित हैं। बौद्ध संस्कृति का दार्शनिक या साम्प्रदायिक रूप गृहीत नहीं हुआ, पर यह रचना व्यापक सांस्कृतिक भावना का स्फुरण अवश्य है। निस्सन्देह प्रधानता यशोधरा के निरवधि करुण-विप्रलंभ को दी गई है। आशय यह है कि यशोधरा तक आकर गुप्तजी ने अपने गीति-काव्यों में गृहीत भाव-क्षेत्र का पर्याप्त विस्तार कर लिया है। अब उनका जीवन की नाना अर्थभूमियों पर अधिकार दिखाई पड़ता है, पर यशोधरा की पारिवारिक सीमा अक्षुण्ण रक्खी गई है। वह साकेत से ज्यों की त्यों ले ली गई है। नायिका-प्रधान सांस्कृतिक काव्य में पारिवारिक सीमा का अतिक्रमण अनुचित ही न होता, कदाचित् चरित्र-कल्पना की दृष्टि से अकाव्योचित भी ज्ञात होता।

<u>तिलोत्तमा :-</u>

"तिलोत्तमा" की कथा-वस्तु पर माइकेल मधुसूदन दत्त के "तिलोत्तमा-संभव" काव्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यह विशुद्ध पौराणिक आख्यान है। देवराज इन्द्र के साथ दैत्यराज सुन्द का चिरकालीन विरोध है। वह अपने अनुज उपसुन्द के साथ तपस्या करता है और ब्रह्मा उसे अजेय होने का वरदान देते हैं, पर यह शर्त भी लगा देते हैं कि यदि दोनों भाई परस्पर द्वन्द्व-ग्रस्त हों तो अजेय नहीं रहेंगे। इसी उपलक्ष में कौमुदी महोत्सव आयोजित होता है। अपने सैन्य दल को प्रसन्न करके सुन्द और उपसुन्द इन्द्र पर आक्रमण करते हैं। कार्तिकेय, अग्नि, वरुण, कुबेर, वायु आदि से रक्षित इन्द्र परास्त होते हैं और अमरावती पर दैत्यों का आधिपत्य हो जाता है। दैत्य-देवताओं को दी जाने वाली बलि बन्द कर देते हैं और मदोन्मत्त होकर कादंब-सेवन करते रहते हैं। यह ज्ञात होने पर कि सुन्द और उपसुन्द का नाश पारस्परिक कलह से ही संभव है, पलायन-नीति का अवलंब किए हुए इन्द्रादि ब्रह्मा से आग्रह करते हैं कि वे ही उनकी रक्षा करें। समस्त सृष्टि के पदार्थों की सुषमा को तिल-तिल एकत्र करके तिलोत्तमा

अप्सरा की सृष्टि की गई। वह सुन्द और उपसुन्द दोनों को अपनी ओर एक साथ आकर्षित कर सकी और दोनों दैत्य परस्पर द्वन्द्व-ग्रस्त होकर नष्ट हुए। देवताओं का राज्य निष्कंटक हुआ और दुष्प्रवृत्तियों के प्रतीक दैत्य विजित हुए। इसी कथानक को गुप्तजी ने नाटकीय स्वरूप दिया है।

चन्द्रहास :-

चन्द्रहास नाटक में चन्द्रहास के चरित्र का विकास दिखाने का प्रयास किया गया है। कवि ने उसे आदर्श व्यक्ति कल्पित किया है, जो बाल्यावस्था से लेकर राज्यारोहण तक अपने सद्गुणों का विकास करता गया है। अवश्य ही उसके शील-निरूपण की चेष्टा नहीं की गई। कुन्तलपुर के पुरोहित गालव ने उसकी सर्वप्रथम रक्षा की और भविष्यवाणी से प्रभावित होकर कुन्तलपुर का महामंत्री उसके विनाश का आद्यंत उद्योग करता रहा। उसके समस्त प्रयत्न नियति की प्रेरणा से विफल होते गए। उसने तीन बार चन्द्रहास की हत्या की योजना बनाई, पर वह सफल न हो सका। उसकी यह इच्छा थी कि कुन्तलपुर का राज्य उसके पुत्र मदन को प्राप्त हो, पर गालव आदि ब्राह्मणों के इस आशीर्वाद से – "क्या ठीक है जो यह मार्गचारी बने तुम्हारा विषयाधिकारी" वह आशंकित हो उठा।

धृष्ठबुद्धि सर्वप्रथम बालक चन्द्रहास को दो सेवकों के हाथ सौंपकर निर्जन वन में उसकी हत्या करवाने की योजना बनाता है। नियति की अदृष्ट शक्ति के कारण घातकों के हृदय में चन्द्रहास का रूप देखकर करुणा उत्पन्न होती है और वे उसके पाँव की अतिरिक्त (छठी) अँगुली काटकर उसे वहीं छोड़ देते हैं। कुन्तलपुर के राजा का सामंत कुलिन्दक, जो "चन्दनावती" का अधिपति है, चन्द्रहास को अपना पोष्य पुत्र बनाता है।

द्वितीय अंक में धृष्ठबुद्धि चन्द्रहास को गोद लिए जाने के वृत्तांत से चिंतित हो उठा है और उसके सम्मुख अपनी कन्या विषया के लिए

योग्य वर की खोज का प्रश्न भी है। उसका पुत्र मदन राजकाज देखने लगा है। वह चन्दनावती पहुँच कर तथा चन्द्रहास को पाकर उसे पुनः मौत के घाट उतारने की योजना बनाता है। सांकेतिक लिपि में लिखा हुआ पत्र दे कर वह चन्द्रहास को अपने पुत्र के पास कुन्तलपुर भेज देता है। चन्द्रहास प्रजा से पूछ–पूछ कर राज–काज चलाने का इच्छुक है, अर्थात् प्रजातंत्रात्मक भावनाओं से प्रेरित होकर वह राज्यत्व को सीमित और उदार बनाता है।

तृतीय अंक में नियति चन्द्रहास की पुनः रक्षा करती है। कुन्तलपुर के उद्यान में वह विश्राम करता है और वहीं विषया उसे प्रथम बार देखती है। पिता के पत्र को पढ़कर वह "विषयाकनी" अंश का "**कनी**" शब्द–संकेत अपनी आँखों के काजल से मिटा देती है। दूसरे दृश्य में चन्द्रहास और विषया का विवाह–संपन्न हो जाता है।

चतुर्थ अंक में धृष्ठबुद्धि अपनी योजना की असफलता पर और चन्द्रहास को जामाता के रूप में पाकर उद्विग्न हो उठा है। मानसिक शैथिल्य आ जाने का उसने बहाना बनाया है। चन्द्रहास और विषया के प्रेममय दांपत्य जीवन का विकास भी वर्णित हुआ है।

पंचम अंक में महाराज कौन्तलप चन्द्रहास को कुन्तलपुर का राज्याधिकार सौंप देते हैं। धृष्ठबुद्धि अपनी हठ पर दृढ़ है और वह विजनेश्वरी के मन्दिर में चन्द्रहास को भेजकर गुप्त रूप से उसकी हत्या करवाने का कुचक्र रचता है। नियति की प्रेरणा से चन्द्रहास कौन्तलप के पास जाता है और उसके स्थान पर मंत्री पुत्र मदन विजनेश्वरी के मंदिर में। धृष्ठबुद्धि अपनी योजना की सफलता देखने के लिए स्वयं वहाँ पहुँचता है और पुत्र–वध के कारण विचलित होकर आत्म–घात करता है। देवी की कृपा से दोनों पुनर्जीवित होते हैं। अंत में धृष्ठबुद्धि चन्द्रहास के राजा बनने पर कौन्तलप के साथ वानप्रथाश्रम ग्रहण कर वन–गमन करता है। यह नाटक की सुखांत परिणति है।

मुक्तक काव्य रचनाएँ गुप्त जी का प्रासंगिक रचना–कार्य है। नीतिमयी सूक्ति और अन्योक्ति–रचना के रूप में इस कार्य पद्धति का आरम्भ और विकास हुआ। कालान्तर में सामयिक विषयों पर चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ रची गयीं और उनकी प्रबंधांतर्गत नियोजना भी हुई। अन्य काव्य रूपों के अन्तर्गत रक्खे गये मुक्तकों को भावपूर्ण बनाने का अथवा प्रगीतात्मक रूप देने का प्रयास किया गया। गुप्त जी का मुक्तक काव्य प्रकीर्ण है। वह संस्कृत और ब्रजभाषा की अलंकृत शैली में रचा गया है। उसका कहीं संग्रह नहीं किया गया। अतएव विकीर्ण सामग्री के आधार पर ही उसका काव्य–विवेचन किया गया है। गुप्त जी की मुक्त रचनाएँ स्फुट और सरल हैं। ये असंगृहीत भी हैं। इनके द्वारा उनकी काव्य प्रकिया का एक स्वरूप मात्र प्रत्यक्ष होता है। चमत्कारवादी काव्य प्रवृत्ति उनकी रचनाओं में आनुसंगिक ही रही है। वे मुख्यतः प्रबन्ध–कवि है, मुक्त रचनाकार नहीं।

नामकरण वक्रता

रचनाकार अपने ग्रन्थ के अभिधान को व्यंजक बनाने का प्रयास करता है। अभिधान के संचयन में वह इस बात पर सबसे अधिक ध्यान देता है कि ग्रन्थों के नामकरण में ही इसके मुख्य प्रतिपाद्य का अधिकाधिक बोध हो जाये। इससे अभिधान में मुख्य प्रतिपाद्य को प्रेरित करने वाली किसी घटना की सूक्ष्म रूप–रेखा आभासित हुआ करती है। कृति के अभिधान में उसकी आत्मा का पर्याप्त ध्वनन होता है, उसे कोरा नामकरण मान लेना ठीक न होगा। कवि अपने काव्य जगत का प्रजापति होता है। सम्पूर्ण सृष्टि रच लेने के उपरान्त ही वह उसके लिए उपयुक्त नाम चुनता है। वह जिस नाम का चयन करता है। कृति की उसकी समीक्षा का सूत्र माना जा सकता है। काव्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की व्यंजना वह इसी सूत्र में प्रदान करने की आकांक्षा रखता है। वह न केवल अपने अभिप्राय को इसमें समेट कर भर देता है, वरन् वह समीक्षकों के लिए अध्ययन दिशा का संकेत भी कर देता है। अतः यह कहना गलत न होगा कि कवि की आँख का 'स्वभाव' प्रमुखतः इसी सूत्र में होता है। अतएव **शीर्षक** के अभिप्राय पर विचार न करना कवि के एक महत्वपूर्ण संकेत को छोड़ देन होगा।

ध्यान से विचार करने पर पता चलेगा कि यह नामकरण वक्रता प्रबन्ध विधान का अभ्यान्तरिक तत्व नहीं है। किन्तु नामकरण के सौष्ठव से प्रबन्ध के प्रतिपाद्य का स्वरूप बहुत कुछ प्रत्यक्ष हो जाता है। अतएव जिस कवि को अपने प्रतिपाद्य पर पूर्ण अधिकार होता है, वह कवि उपयुक्त अभिधान का अनुसंधान कर सकता है। रचयिता जब अपने मुख्य प्रतिपाद्य से

भटकने लगता है, तब उसका अभिधान सटीक और व्यंजक नहीं बन पाता है। यही विरासत श्री मैथिलीशरण गुप्त के साकेत' में है। श्री नन्द दुलारे बाजपेयी ने लिखा है कि "साकेत नाम की सार्थकता क्या है? यही कि काव्य की घटनाओं का केन्द्र साकेत है। पर साकेत के साथ कवि की कोई विशेष घनिष्ठ प्रीति लक्षित नहीं होती है। साकेत के नर नारियों से कवि को कुछ अधिक मतलब जान नहीं पड़ता; अन्यथा राम के वनवास के अवसर पर उन्हें भी अपने मनोभाव व्यक्त करने का कुछ अवसर दिया जाता।.......... मैथिलीशरण जी ने साकेत को केवल एक सूक्ष्म केन्द्र बिन्दु माना है और घटनाओं की परिधि उस बिन्दु से खीची है। इस प्रकार साकेत केवल काव्य के बाह्य संगठन में सहायक है। यदि उससे कवि की अन्तर्वृत्ति का सम्बन्ध हो तो साकेत का अर्थ केवल दशरथ का राज–परिवार अथवा सरयू की धारा ही न होता, उसे कवि की कुछ अधिक व्यापक अनुभूतियाँ प्राप्त होतीं।"[1]

श्री बाजपेई और डॉ0 विजेन्द्र नारायण सिंह से अलग मैं अपना मन्तव्य स्पष्ट रूप से रखना चाहूँगी कि साकेत के नामकरण की सार्थकता क्या है? और उसमें नामकरण वक्रता किस प्रकार है?

सन् 1914 के लगभग साकेत की रचना आरम्भ हुई और इसकी समाप्ति सन् 1931 में हुई। समय – समय पर उसमें संशोधन परिवर्द्धन होते रहे, कभी–कभी उसमें काट–छाँट की भी नौबत आई और कवि को अनेक विघ्न बाधाओं का भी सामना करना पड़ा। एक बार कवि रोग ग्रस्त हो जाने के कारण मरणासन्न अवस्था तक भी पहुँच गया और उसके मुख से केवल "सियाराम साकेत" शब्द ही निकल सके, जिनका अभिप्राय था कि "प्रिय सियारामशरण" तुम साकेत समाप्त कर देना"। परन्तु वह भौतिक बाधा भी दूर हो गई और तब 16 वर्षों में कवि का संकल्प पूरा हुआ। परन्तु काव्य के पूर्ण होने पर भी कवि की भावना अपूर्ण बनी रही, क्योंकि कवि की उत्कट

---

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद – पृ0 सं0 489

अभिलाषा थी कि उसके साहित्यिक जीवन के साथ ही 'साकेत' की समाप्ति हो। इस अपूर्णता का मूल कारण कवि की दृष्टि में यह था कि कवि ने इसमें जिस नवम् सर्ग की रचना की है उसमें कवि उर्मिला के विरही जीवन की उन समस्त स्थितियों को नहीं दिखा पाया है जिनके उद्घाटन की अभिलाषा से इस काव्य का श्रीगणेश हुआ था। जो कुछ भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि साकेत का निर्माण हिन्दी साहित्य की अनुपम घटना है और इसके निर्माण से न केवल खड़ी बोली के राम कथा सम्बन्धी महाकाव्य की पूर्ति हुई, अपितु 'कामायनी' जैसे विश्व–विश्रुत महाकाव्य को पूर्ण करने के लिए कविवर प्रसाद को भी प्रेरणा प्राप्त हुई। इस प्रकार गुप्त जी के जीवन की व्यापक अनुभूतियों, राष्ट्रव्यापी हलचलों, गृहस्थ्य जीवन की व्यापक समस्याओं, भारतीय संस्कृति की परम्पराओं, युग की परिवर्तित विचार–धाराओं, काव्य की नवीनतम शैलियों आदि को साकार रूप देने के लिए 'साकेत' की अवतारणा हुई।

<u>**'साकेत' का नामकरण**</u> :– सर्वप्रथम इस काव्य का आरम्भ उर्मिला को आधार बनाकर हुआ था। इसी कारण पहले कवि ने इसका नाम "उर्मिलाउत्ताप" अथवा "उर्मिला काव्य" दिया था। परन्तु ये नाम कछ ही दिनों में हिन्दी–जगत् से विलुप्त हो गये। इसका मूल कारण यह था कि इस नाम के लिए कवि को अपनी अन्त:प्रेरणा का हनन करना पड़ता; क्योंकि 'उर्मिला काव्य' अथवा 'उर्मिला उत्ताप' से केवल उर्मिला सम्बन्धी विशिष्टता की ही ध्वनि निकलती और कवि के इष्टदेव भगवान राम के महत्व का बोध न होता। परन्तु कवि एक ओर तो अपने गुरुवर द्विवेदी जी के आग्रह को पूर्ण करना चाहता था और दूसरी ओर अपने इष्टदेव के गुणगान गाने की अभिलाषा कर रहा था। द्विवेदी जी के आग्रह से उसने उर्मिला को विशिष्टता देने का प्रयास किया और अपनी अन्त:प्रेरणा के कारण उसने राम को महत्व दिया। इस कारण अब उसके सम्मुख यह प्रश्न था कि इस काव्य को कौन सा ऐसा नाम दिया जाये

जिससे दोनों काम बन जायँ? अन्त में कवि को 'साकेत' नाम ही उचित दिखाई दिया। यह 'साकेत' अयोध्या का ही पौराणिक नाम है, जो इस महाकाव्य को दिया गया है।

'साकेत' नाम की सार्थकता :- किसी प्रबन्ध काव्य अथवा महाकाव्य के नामकरण के बारे में साहित्यदर्पणकार पं0 विश्वनाथ ने निम्नलिखित व्यवस्था की है:-

(1) महाकाव्य का नामकरण कवि के नाम पर होना चाहिए, अथवा
(2) कथावस्तु के आधार पर उसका नाम हो सकता है, अथवा
(3) नायक के नाम पर उसका नामकरण हो सकता है, अथवा
(4) किसी अन्य पात्र के नाम पर उसका नाम रखा जा सकता है। परन्तु प्रत्येक सर्ग का नाम उसके वर्ण्य-विषय के आधार पर होना चाहिए।

इस व्यवस्था से यह स्पष्ट पता चलता है कि नामकरण के लिए कवि, कथावस्तु, नायक या अन्य किसी पात्र को ही महत्व दिया जाता था। बहुत से महाकाव्यों का नाम किसी घटना विशेष अथवा स्थान-विशेष के आधार पर भी दिया जाता था। परन्तु घटना और स्थान का समावेश कथावस्तु में हो जाता है। फिर भी अभी तक प्रबन्ध काव्यों के नाम रखने के लिए साधारणतया निम्नलिखित आधार प्रचलित हैं:-

(1) कवि के नाम पर, जैसे- भाट्टिकाव्य।
(2) कथावस्तु के आधार पर, जैसे-रामचरितमानस।
(3) नायक के आधार पर, जैसे-पृथ्वीराज रासो, सिद्धराज।
(4) नायिका के आधार पर, जैसे- पद्मावत, कामायनी, पार्वती।
(5) किसी पात्र विशेष के आधार पर, जैसे-किरातार्जुनीय, सैरन्ध्री।
(6) किसी स्थान विशेष के आधार पर, जैसे-हल्दी घाटी, कुरुक्षेत्र।
(7) किसी घटना-विशेष के आधार पर, जैसे-प्रियप्रवास, जयद्रथ बध।

(8) किसी भावना या मनोवृत्ति–विशेष के आधार पर, जैसे– अर्जन और विसर्जन, प्रदक्षिणा आदि।

परन्तु नाम किसी भी आधार पर रखा जाय, उसकी सार्थकता के लिए निम्नलिखित विशेषताओं का होना आवश्यक है:–

(1) वह वर्ण्य विषय से सम्बद्ध हो,

(2) वह सम्पूर्ण घटनाओं का केन्द्र हो,

(3) वह चित्ताकर्षक हो, और

(4) उसमें उत्सुकता बढ़ाने की क्षमता हो।

अब हम उक्त विशेषताओं के आधार पर यह देखने की चेष्टा करेंगे कि इस काव्य का 'साकेत' नाम कहाँ तक सार्थक है?

(1) **वर्ण्य विषय से सम्बद्धता** :– 'साकेत' का मुख्य वर्ण्य विषय है–रामकथा के उपेक्षित अंशों का उद्घाटन करना। साधारणतया भारतीय ग्रन्थों में रामकथा का जो उल्लेख मिलता है, उसमें अभी तक तीन प्रसंगों की सर्वत्र उपेक्षा की गई थी। सर्वप्रथम लक्ष्मण की पतिव्रता पत्नी उर्मिला के चौदह वर्षीय विरह का निरूपण कहीं नहीं किया गया था। दूसरे कैकेयी के कंलकित चरित्र की मनोवैज्ञानिकता समझाते हुए उसे उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न कहीं नहीं हुआ था और तीसरे, लक्ष्मणशक्ति का समाचार सुनकर भी अयोध्यावासियों के हृदय में अपने प्रियजनों की रक्षा के लिए हलचल आदि के होने का वर्णन कहीं नहीं किया गया था। इन सभी उपेक्षित अंशों का सम्बन्ध मुख्य रूप से साकेत अथवा अयोध्या से है, क्योंकि उर्मिला साकेत में ही बिलखती–बिसूरती हुई अपने विरह की दीर्घ अवधि को व्यतीत करती है। कैकेयी के पावन और अपावन चरित्र का सम्बन्ध भी साकेत से ही है, क्योंकि इसी साकेत के राज्य को अपने पुत्र भरत के लिए सुरक्षित करने के हेतु उसने वर–याचना की थी। यहाँ कवि ने उसकी स्वाभाविक मनोवृत्ति का उद्घाटन करके उसके हृदय की पवित्रता को बड़े तर्कपूर्ण ढंग से अंकित किया है। तीसरे, अयोध्यावासियों के हृदय में लक्ष्मण–शक्ति के कारण जो हलचल उत्पन्न होती है, वह भी साकेत के अन्तर्गत

ही दिखाई गई है। इस कारण समस्त उपेक्षित अंशों से सम्बन्धित रामकथा का क्रीड़ा क्षेत्र साकेत या अयोध्या ही है। अतएव यह 'साकेत' नाम इस काव्य के वर्ण्य विषय से पूर्ण तथा सम्बद्ध होने के कारण सर्वथा सार्थक है।

(2) **सम्पूर्ण घटनाओं का केन्द्र** :– यह तो स्पष्ट ही है कि इस काव्य का नाम स्थान विशेष के आधार पर रखा गया है। इस काव्य में जिस रामकथा का वर्णन मिलता है, उसमें से प्रारम्भिक घटनाएँ, जैसे लक्ष्मण–उर्मिला का विनोदकारी वाग्विलास, राज्याभिषेक की तैयारियाँ, मंथरा का षडयन्त्र, कैकेयी की वर–याचना, दशरथ–मरण, भरत–आगमन आदि को तो कवि ने स्वयं साकेत में घटित होते हुए ही दिखाया है। इसके उपरान्त कवि राम के साथ साकेत से चलकर चित्रकूट तक अवश्य गया है और चित्रकूट की कुछ घटनायें साकेत से पृथक् भी दिखाई देती हैं, परन्तु चित्रकूट को भी कवि साकते से पृथक् नही कर सका है, क्योकि सम्प्रति साकेत–समाज वहीं है सारा। सर्वत्र हमारे संग स्वदेश हमारा। कहकर कवि ने चित्रकूट को भी साकेत में सम्मिलित कर लिया है। इसके अनंतर उर्मिला के विरही जीवन की सम्पूर्ण घटनायें साकेत में ही घटित होती हुई अंकित की गई हैं। अब कवि के सम्मुख शेष राम–कथा रह जाती है। इसमें से पहले तो कवि ने साकेत में बैठी हुई उर्मिला के मुख से ही सूर्यवंश के राजाओं की यशोगाथा, जानकी, मांडवी आदि समस्त बहनों के जन्म और बचपन की क्रीड़ाएँ, राम की बाल–लीलायें, ताड़का बध, वाटिका में जानकी–राम का प्रथम साक्षात्कार, धनुष–यज्ञ एवं विवाह आदि का वर्णन करा दिया है। आगे चलकर शूर्पणखा, खर–दूषण आदि से संबंधित कथाओं को शत्रुघ्न के मुख से कहलवा दिया गया है। तदनंतर राम की युद्ध–यात्रा, लक्ष्मण–मेघनाद युद्ध, लक्ष्मण शक्ति आदि से संबंधित कथायें साकेत में ही आकर हनुमान सुना देते हैं और शेष रामकथा में से मेघनाद–कुम्भकर्ण बध, राम–रावण युद्ध, रावण बध, विभीषण का राज्याभिषेक, पुष्पकयान पर राम का पुनरागमन आदि घटनाओं को वशिष्ठ जी योग–दृष्टि द्वारा साकेत में

ही खड़े–खड़े समस्त साकेतवासियों को दिखा देते हैं। इस प्रकार गुप्त जी ने अपने इस काव्य में सम्पूर्ण घटनाओं का केन्द्र साकेत या अयोध्या को ही बना दिया है। इसलिए 'साकेत' नाम पूर्णतया सार्थक है।

(3) **चित्ताकर्षकता** :– 'साकेत' नाम चित्ताकर्षक भी है, क्योंकि अयोध्या की अपेक्षा साकेत में अधिक प्राचीनता एवं पौराणिकता के साथ–साथ अधिक पवित्रता, महत्ता, गुरुता एवं रमणीयता जान पड़ती है। ऐश्वर्य में भी यह नाम कुछ अधिक महान् है। इसी कारण साकेत को स्वर्ग का पर्यायवाची माना जाता है और स्वर्गवासी को साकेतधामवासी कहकर पुकारा जाता है। यह बात 'अयोध्या' नाम के अन्तर्गत नहीं है। अतएव अधिक महान् एवं अधिक ऐश्वर्यशाली होने के कारण 'साकेत' नाम अधिक आकर्षक है और इसी कारण यह सार्थक भी है।

(4) **उत्सुकता बढ़ाने की क्षमता** :– 'साकेत' नाम सुनते ही पाठक अचानक यह जानने के लिए उत्सुक हो उठता है, कि इसमें साकेत के अन्तर्गत होने वाली किन–किन घटनाओं का वर्णन होगा, कौन – कौन से व्यक्तियों का वर्णन होगा और न जाने कवि साकेत का क्या वर्णन करेगा? वह इसी उत्सुकता में बराबर आगे बढ़ता चला जाता है और जैसे – जैसे वह आगे बढ़ता है, वैसे ही वैसे उसकी उत्सुकता भी बराबर बढ़ती चली जाती है, क्योंकि कवि ने शीर्षक के अनुसार कथा को इस तरह मोड़ दिया है कि सारी राम–कथा क्रमबद्ध न आकर नाम की सार्थक्ता को चरितार्थ करती हुई आगे पीछे चलती है। किसी किसी सर्ग में तो वह कथा अधिक मंद–मंथर गति से आगे बढ़ी है। परन्तु अपने लक्ष्य से भ्रष्ट नही हुई है। कवि ने औत्सुक्य–वृद्धि के लिए स्थान–स्थान पर कथा में जो नये मोड़ दिये हैं, उनसे 'साकेत' नाम की सार्थकता और भी बढ़ गई है, क्योंकि पाठक जैसे–जैसे आगे बढ़ता है, वैसे ही वैसे उसे नाम की सार्थकता का का पता चलता है। कवि ने कथा को जहाँ से उठाया था; अर्थात् उर्मिला–लक्ष्मण संवाद से आरम्भ किया था, तो अंत में इन दोनों के मिलन पर ही कथा की परिसमाप्ति की है। इस तरह साकेत से ही प्रारम्भ होकर तथा साकेत में ही समाप्ति होती है और सम्पूर्ण बाहर की घटनायें किसी न किसी पात्र के द्वारा सुना दी जाती है, जिससे 'साकेत' नाम उत्सुकता की वृद्धि करता हुआ अपनी

सार्थकता को प्राप्त कर लेता है।

निष्कर्ष यह है कि कवि ने राम–कथा के उपेक्षित अंशों को काव्य–रूप देने के लिए ही 'साकेत' की रचना करने का विचार किया था। परन्तु वह मूल राम–कथा को कैसे छोड़ सकता था, केसे वह राम लोक–पावन चरित्र से मुँह मोड़ सकता था, और कैसे वह अपने इष्टदेव भगवान राम की महत्ता का दिग्दर्शन कराने से परांड्.मुख हो सकता था? यही कारण है कि कवि ने एक ओर तो बाह्य दबावों के कारण उर्मिला के उपेक्षित जीवन को काव्य रूप देने की चेष्टा की, और दूसरी ओर अपने अन्त:करण की प्रेरणा से प्रेरित होकर भगवान राम के महत्व को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया। इन दो विरोधी बातों को साथ–साथ अंकित करने के कारण ही कवि ने 'उर्मिला उत्ताप' अथवा 'उर्मिला काव्य' जैसे किसी नाम को इसके लिए समीचीन नहीं समझा ओर दूसरों का आग्रह होने पर भी इस काव्य का नाम अपने अन्त:करण की प्रेरणा के आधार पर 'साकेत' रखा, जिसमें उक्त दोनों विरोधी बातों का समाहार हो गया और कवि परम्परागत राम–कथा को स्वतंत्र रूप से वर्णन करने में भी सफल हो सका। यह दूसरी बात है कि कथा के वर्णन में कवि को कितनी सफलता मिली है और वह कथा में स्वाभाविकता लाने के लिए कितना सफल सिद्ध हुआ है। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि कवि ने इस काव्य को जो 'साकेत' नाम दिया है, वह इस काव्य की सम्पूर्ण विशेषताओं को चरितार्थ करने में पूर्णतया सफल एवं सार्थक जान पड़ता है।[1]

---

1. साकेत में काव्य संस्कृति और दर्शन – पृ0 सं0 –50

नवम अध्याय

वक्रोक्ति विधान की दृष्टि से आलोच्य कवि के काव्यों का वैशिष्ट्य

नवम् अध्याय

वक्रोक्ति विधान की दृष्टि से आलोच्य कवि के काव्यों का वैशिष्ट्य

श्री मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी-युगीन काव्य-साधना की अन्यतम सिद्धि हैं। वे "महावीर" के "प्रसाद" हैं भी। उनके कवि-व्यक्तित्व का निर्माण द्विवेदी-युग में हुआ, परन्तु वह उस युग का ही होकर नहीं रह गया। उसने अपने समय की गतिविधि, जनता की चित्तवृत्ति तथा युग की चेतना को भली-भाँति पहचाना। गुप्तजी के काव्य को द्विवेदी-युग की चौहद्दी में ही सक्रिय और सीमित नहीं माना जा सकता, उनकी काव्य-सीमाएँ अधिक विस्तृत, गति अधिक स्वतंत्र और चिंतन अधिक व्यापक है। उनकी काव्य-कला उत्तरोत्तर प्रभाव-शालिनी होती गई है। उनके कवि-व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हुआ है। उन्होंने द्विवेदी-युग से प्रेरणा ग्रहण की तथा उनकी आरंभिक काव्य-रचना पर उसका गहरा प्रभाव भी पड़ा, परन्तु उक्त प्रेरणा और प्रभाव क्रमशः व्यापक और सूक्ष्म होते गए, उनकी काव्य प्रवृत्तियाँ नीरस इति-वृत्तात्मकता तथा शुष्क नीतिमत्ता का परित्याग करती गई और उनके काव्य में शुद्ध रसात्मकता की अभिवृद्धि होगी गई। आशय यह है कि गुप्तजी द्विवेदी युगीन काव्य-कला का ही प्रतिनिधित्व नहीं करते।

निस्संदेह गुप्त जी द्विवेदी-युग के कवि रहे हैं, उनके विचारों, मान्यताओं और विश्वासों का बहुत-कुछ निर्माण भी इसी युग में हुआ है। परन्तु आधुनिक काव्य-धारा में गुप्त जी का योग इतना विशिष्ट है कि उनके काव्य को द्विवेदी-युगीन काव्य-प्रवाह की संज्ञा ही नहीं दी जा सकती। वे एक जागरुक, विकासशील और सारग्राहिणी प्रवृत्ति के कवि हैं। यह उनकी सर्वोपरि विशेषता है कि वे सदैव नवीनता का सोत्साह स्वागत कर सके हैं। उनकी मनोदृष्टि कभी अनुदार नहीं देखी गई। अतएव उनके व्यक्तित्व और काव्य में सर्वत्र व्यापक जीवन की चेतना और समर्थ गतिशीलता परिलक्षित होती है।

गुप्तजी को किसी परवर्ती काव्य–धारा का प्रतिनिधि कवि भी नहीं कहा जा सकता। उनका वैयक्तिक वैशिष्ट्य कुछ इस प्रकार का है कि उसे क्या विचारणा और क्या वर्णना, क्या कल्पना और और क्या व्यंजना, किसी भी क्षेत्र में अनुगमन–मात्र जैसे स्वीकार्य है ही नहीं। उन्होंने नए और पुराने सभी प्रकार के काव्योपकरणों का उपयोग किया है, परन्तु अपने ढंग से। अतएव उनके कर्त्तव्य का आधुनिक हिन्दी काव्य में अपना विशेष स्थान और महत्त्व है। मैं समझती हूँ कि उन्हें मानवतादर्शवादी कवि अथवा उनके काव्य को सांस्कृतिक काव्य–सृष्टि कहना उपयुक्त होगा। वे आधुनिक काव्य की अंतर्वतिनी सांस्कृतिक प्रवृत्ति के प्रवर्तक, परिपोषक और पुरस्कर्ता कवि के रूप में उपस्थित होते हैं। उन्हें युग विशेष या प्रवृत्ति विशेष के कवियों में परिगणित नहीं किया जा सकता। मानव–जीवन का इतना व्यापक और अनेक तल–स्पर्शी संवेदन भी गुप्त जी के अन्यान्य समसामयिक कवियों की कविता में उपलब्ध नहीं होता। प्रसाद जी तथा अन्य छायावादियों की संवेदना का स्वरूप ही भिन्न प्रकार है। अर्थात् संकल्पनात्मक और आत्मगत है, प्रास्ताविक और विषयानिष्ठ नहीं। गुप्त जी आधुनिक युग के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं और उनकी लोकप्रियता का रहस्य वह सारग्राहिणी प्रवृत्ति है, जिसके द्वारा प्राचीन और नवीन के सांस्कृतिक उपकरणों का सुन्दर सामंजस्य स्थापति हुआ है।

गुप्त जी आधुनिक साहित्य की एक संस्था बन गए हैं। द्विवेदी–युग के उपरांत हिन्दी में दो प्रकार की काव्य–धाराएँ प्रवाहित हुई। एक छायावादी काव्य–धारा है और दूसरी मानवतावादी नैतिक–सांस्कृतिक काव्य–धारा। गुप्त जी इस दूसरी काव्य–धारा को उपस्थित करते हैं। उनके कवि–व्यक्तित्व की विशेषता इसी से स्पष्ट होती है कि वे द्विवेदीयुगीन काव्य–संस्कारों को लेकर चले, परन्तु न इन संस्कारों ने उन्हें जड़ बनाया, न ये इतने कमजोर साबित हुए कि छायावादी काव्य–प्रवाह में समूलोन्मूलित हो जाते गुप्त जी

की विचारधारा में बुद्धिवाद, नीतिवाद और आदर्शवाद के ऐसे उपकरण हैं, जो उन्हें द्विवेदी–युग से विरासत में मिले हैं। उनके मानवोत्थानवादी दृष्टिकोण का बहुत कुछ निर्माण भी इन्हीं के द्वारा हुआ है। उन्हें अपने आदर्शों में अत्यधिक आस्था और विश्वास है। वे स्वयं निष्ठावान् हैं भी। अतएव वे एक सीमा तक ही परवर्ती काव्य–गुणों को अपनाने में समर्थ हो सके हैं। वे नवीनता को निस्सार और उपेक्षणीय नहीं समझते, इसीसे उनके काव्य में प्रगीत तत्व, छायावादी अभिव्यंजना प्रणाली, मनःविश्लेषण की प्रवृत्ति, शृंगारिक वर्णना, आदि का समावेश हुआ है। उनके काव्य–विकास की विभिन्न स्थितियाँ हैं। हम उन्हें साहित्य में लिबरल (उदार) दृष्टिकोण का कवि कह सकते हैं। हरिऔध जी इतने लिबरल नहीं थे, वे गाँधीवादी भी नहीं बन सके; और छायावादी तो साहित्यिक क्रान्तिकारी हैं ही। इसीलिए गुप्त जी की एक भिन्न काव्य–सारणी दिखाई पड़ती है। वे एक सामञ्जस्यवादी कवि हैं, परन्तु वे मर्यादा के भीतर रहकर ही सामंजस्य–स्थापन करते हैं। उनकी जातीय भावना गाँधीवाद की परिपोषिका बन गई, परन्तु समाजवादी आग्रह वह स्वीकार न कर सकी। अभिप्राय यह है कि गुप्तजी नए के फेर में ही नहीं रहते। उन्हें जो कुछ नए में स्थायी, उपयोगी और समय की गति का साथ देने के लिए आवश्यक जान पड़ता है, उसे वे अपना लेते हैं। उस पर सर्वत्र उनके कवि–व्यक्तित्व की छाप विद्यमान रहती है। इसका कारण उनका सक्षम आशावाद है। वे जिस वस्तु में विश्वास रखते हैं, उसमें उनके हृदय का संपूर्ण योग रहता है। उनके स्वभाव और काव्य की ऋजुता का स्रोत भी इसी अखंड विश्वासपरायणता में देखा जा सकता है। गुप्त जी युग–प्रवाह में निश्चय ही उतराते हुए नहीं बह जाते, वे स्वेच्छानुसार डुबकियाँ लेना पसन्द करते हैं। उन्होंने एक ओर उपयोगितावाद को ग्रहण किया और दूसरी ओर उन्हें छायावाद का किंचित् प्रभाव भी स्वीकार करना पड़ा। वे दोनों का समाहार करते चले, किसी एक को उन्होंने निस्सार नहीं माना। उन्हें इन्हीं कारणों से साहित्य–संस्था कहा गया है।

अस्तु जितनी सचेष्ट सामाजिक चेतना गुप्त जी के काव्य में अभिव्यक्त हुई है और उसे काव्यात्मक रूप देने का जैसा कवि-कर्म उन्होंने किया है, वह उन्हें जन-जीवन का कवि ही नहीं बनाती, हिन्दी में उनके विशिष्ट स्थान का भी प्रमाण देती है। जनता की चित्तवृत्तियों से गुप्त जी जितना साम्य स्थापित कर सके हैं, उतना आधुनिक साहित्य में अन्य किसी कवि के द्वारा संभव नहीं हुआ। वे समय के साथ नहीं बदले, जनता के साथ रहकर उन्होंने अपना मनोविकास किया। यहाँ गुप्त जी के काव्योत्कर्ष या उनकी सौन्दर्य सृष्टि की विवेचना नहीं की जा रही है, वरन् यह चर्चा इसलिए हुई है कि आधुनिक हिन्दी काव्य में उनकी जो स्वतन्त्र काव्य-सरणी है, उसका परिचय प्राप्त हो सके। उन्होंने जातीय भावना से लेकर धर्मों और संस्कृतियों के सामंजस्य तक को अपना काव्य-विषय बनाया है, शुद्ध आख्यानक रचना से लेकर व्यक्ति-वैचित्र्य-प्रदर्शक काव्य तक की रचना की है तथा उपदेशात्मक और सूक्ति प्रधान रचना से लेकर भावात्मक और वैदग्ध्यपूर्ण-काव्य तक लिखा है। उनकी काव्य-सर्जना में एक अटूट विकास-क्रम देखा जा सकता है, परन्तु जिस काव्य-वैशिष्ट्य का हम उल्लेख कर आए हैं, वह उसमें आद्यन्त विद्यमान है- आरम्भिक "हेमन्त" कविता या "रंग में भंग" आख्यान-काव्य हो अथवा सद्य:प्रकाशित "राजा-प्रजा" पद्य निबंध या "विष्णुप्रिया" खण्ड-काव्य।

गुप्त जी हिन्दी में पुनर्जागरण काल की प्रवृत्तियों, चिन्ताओं और आशाओं को अभिव्यक्त करने के कारण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा छायावादी कवियों के मध्य की कड़ी माने जाते हैं। हिन्दी में द्विवेदी-युग और छायावादी युग की चर्चा कुछ इस ढंग से की जाती है कि दोनों युगों के काव्य का विभेद ही प्रत्यक्ष होता है और छायावाद को द्विवेदी-युगीन काव्य की विरोधी वस्तु समझा जाने लगता है। परन्तु वस्तुस्थिति कुछ भिन्न ही है। भारतेन्दु-युग का काव्य जिस प्रकार हरिऔध जी के काव्य में अपना विकास-सूत्र उपलब्ध करता है, उसी प्रकार द्विवेदी-युगीन काव्य भी परवर्ती काव्य में परिणति पाता

है। यदि विरोध ही विरोध होता तो गुप्त जी अपनी समस्त विशेषताओं के रहते हुए भी छायावादी काव्य-गुणों को न अपना पाते। द्विवेदी-युगीन काव्य संस्कारों और छायावादी काव्य-चिन्ताओं में यदि कोई सामंजस्य का सूत्र उपलब्ध हो सकता है, तो उसका उदाहरण गुप्त जी का काव्य है। गुप्त जी समता के कवि हैं, विषमता के नहीं और उन्होंने दो काव्य-युगों की विशेषताओं को संतुलित दृष्टि रखकर समन्वित किया है। उनकी मनोदृष्टि अवश्य ही सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध से संबद्ध नहीं है। उनके काव्य का आधार भी प्रत्यक्ष जीवन है। प्रसाद जी को मानवीय भावनाओं का कवि कहा जाता है और गुप्त जी मानवता के कवि हैं। यह छायावादी काव्य-धारा और गुप्त जी के काव्य का अन्तर भी है। उन्हें मानव-जीवन ही इतना विशाल दिखाई पड़ा कि प्रकृति को सचेतन मानने अथवा सूक्ष्म सौन्दर्य की अनुभूति करने की आवश्यकता ही नहीं रही। उन्होंने उसके बहिरंग को अपनाया, परन्तु अंतरंग को पूर्णत: स्वीकृत करने में उनकी काव्य-सीमाएँ बाधक हुईं। उनकी सामंजस्य वृत्ति और पृथक् काव्य-कला का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।

आंग्ल भाषा के काव्य में गुप्त जी की प्रवृत्तियों से किंचित समानता रखने वाले केवल **पूर्व-स्वच्छन्दतावादी** कवि दिखाई पड़ते हैं। विलियम ब्लेक सरलता, सद्भावना और रहस्यात्मक अनुभूतियों का कवि है। वह प्रवृत्ति के प्रति ममत्वशील है और जीवन के प्रति कल्पनाशील गुप्त जी रहस्यवादी कवि नहीं हैं, पर उनकी करुणाशीलता और सरलता तथा सात्विकता का यत्किंचित् साम्य ब्लेक के साथ देखा जा सकता है। ब्लेक सांस्कृतिक नवोत्थान का कवि कदापि नहीं है और गुप्त जी की भाँति वह प्रबंध-कवि भी नहीं है। इसकी अपेक्षा राबर्ट बर्न्स गुप्तजी के अधिक समीप दिखाई पड़ता है। वह मानवतावादी कवि है, पर उसने गुप्त जी की भाँति महच्चरित्रों किंवा मानवतादर्शों से काव्य-प्रेरणा नहीं ग्रहण की। उसका प्रेरणा-स्रोत

प्रकृति का व्यापक सौन्दर्य है, जीवन का व्यक्त सौष्ठव नहीं। उसने मूलतः स्वच्छंदतावाद का पूर्व-स्वरूप प्रत्यक्ष किया, गुप्त जी की भाँति नवोत्थान के जीवन-संगीत का आख्यान नहीं किया। विलियम कूपर नीतिवादी कवि होने के कारण गुप्त जी के समतुल्य ज्ञात होता है, पर उसकी प्रवृत्तियाँ धार्मिक काव्य की रचना करने में ही प्रायः सक्रिय रहीं, वह गुप्त जी की भाँति जीवन काव्य की सृष्टि न कर सका। आशय यह है कि अंग्रेजी के पूर्व स्वच्छन्दतावादी कवियों के साथ गुप्त जी की तुलना अनुपादेय ज्ञात होती है।

मैथ्यू आरनल्ड नाटकीय आख्यान-काव्यों का रचयिता है और उसने जीवन की व्याख्या को काव्य का मूल उद्देश्य समझा है। इन दोनों कारणों से वह गुप्त जी के साथ-साथ थोड़ी समानता अवश्य रखता है। कवि के रूप में उसका अप्रधान स्थान है और रचना-कार्य भी सामान्य कोटि का है। गुप्त जी युग-जीवन के अनुभावक कवि रहे हैं, पर आरनल्ड की ऐसी मनोदृष्टि कभी नहीं हुई। गुप्त जी हिन्दी के प्रमुख कवि हैं और उनका कार्य भी असामान्य है। स्वच्छंदतावाद का सम्पूर्ण स्वीकार न आरनल्ड कर पाया, न गुप्त जी। आरनल्ड ने नव्यपरंपरावाद (Neo-classicism) का भी आग्रह दिखाया और उसके साथ स्वच्छंदतावाद को अंतर्भुक्त करने की चेष्टा की। उसने स्वच्छंदतावाद को आंशिक रूप में अवश्य अपनाया। गुप्त जी क्लैसिक या नियो-क्लैसिक प्रवृत्तियों के कवि नहीं है, न उसके समर्थक ही हैं। वे परंपराओं के प्रति भी स्वच्छंदतावादियों की भांति विद्रोही नहीं हुए। महत्व, कार्य और विचारों में पर्याप्त पार्थक्य होते हुए भी मुझे आंग्ल साहित्य में आरनल्ड की काव्य-दृष्टि और उसकी आख्यानक रचनाएँ गुप्त जी की काव्य-प्रवृत्तियों के सर्वाधिक समीप जान पड़ती हैं। अवश्य ही आरनल्ड गुप्त जी की भाँति मानवतादर्शवादी कवि नहीं है।

डाक्टर गोविन्द शेनाय की धारणा है कि हिन्दी साहित्य में जो स्थान गुप्त जी को प्राप्त है, वही स्थान मलयालम-साहित्य में वल्लत्तोल नारायण मेनन को प्राप्त है। यह कथन निस्सन्देह दोनों कवियों के महत्व को दृष्टिपथ में रखकर व्यक्त किया गया है। वल्लत्तोल ने "मग्दलना मरियम" प्रभृति श्रेष्ठ प्रबंध काव्य रचे हैं और "रामायण" तथा "अभिज्ञान शाकुन्तल" के अनुवाद किए हैं। उन्होंने "कथाकली" नृत्य के पुनरुद्धार का महान् सांस्कृतिक कार्य भी किया है। उनकी विचार-धारा तथा प्रबंध रचनाएँ विषय, उद्देश्य और जीवन-दर्शन के क्षेत्र में गुप्त जी की प्रवृत्तियों के साथ समानता रखती हैं। गुप्त जी अन्ततः सर्वोदयी निष्ठा के कवि हैं और वल्लत्तोल की सामाजिक-राजनीतिक चिन्तना भी इसी कोटि की है। वल्लत्तोल गुप्त जी की भाँति राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों के कवि हैं और उनके देश-भक्ति-विषयक गीतों में गुप्तजी की ही मनोभावना मानों अभिव्यक्त होती है। दोनों कवियों ने प्रचलित काव्य-रूपों का स्वतंत्र प्रयोग भी किया है। पर वल्लत्तोल की प्रगीति-रचनाएं स्वच्छंदतावादी मानी गई हैं। गुप्तजी जितने मर्यादावादी हैं, वल्लत्तोल उतने ही स्वच्छंदतावादी। इन दोनों महाकवियों में केवल साम्य ही नहीं है, महत्वपूर्ण अन्तर भी है। मैं मलयालम भाषा की पंडिता नहीं हूँ, अतएव एक सीमा तक ही उक्त तुलना करने का मुझे अधिकार है। मैं समझती हूँ कि गुप्त जी और वल्लत्तोल के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन आधुनिक भारतीय साहित्य के अध्येताओं के लिए उपादेय होगा। यह स्वतन्त्र अध्ययन अथवा नए-प्रबंध-लेखन का उपयुक्त विषय भी है।

गुप्तजी का कर्तृत्व महान् है, उनकी सृजन-शक्ति अतुलनीय है तथा उनकी काव्य-प्रतिभा तथा कला-प्रेरणा अप्रतिहत है। उन्होंने विश्व मानवता का जीवनादर्श उपस्थिति करते हुए भारतीय संस्कृति की व्यापकता, महत्ता और विशालता का हमें बोध कराया है। वे जितने उदार हैं, उतने ही विनयशील। उनका सम्पूर्ण काव्य आशावादी ताल पर मुखरित हुआ है। जीवनास्था का ऐसा अपूर्व विनियोग अन्यत्र बहुत कम उपलब्ध होता है।

वे पूर्ण वैष्णव हैं। वे जितने नीतिवादी हैं, उससे अधिक विश्व–बन्धुत्व के पोषक हैं। उनके काव्य को विशुद्ध भारतीय कहा जा सकता है। वे पवित्रता और मर्यादा के रक्षक हैं, तथा सामान्य जन–समूह के कवि भी हैं। साधारण समाज में जितनी लोक–प्रियता उन्हें प्राप्त हुई, उतनी प्रेमचन्द जी को छोड़कर हिन्दी के किसी आधुनिक लेखक को नहीं। सामान्य होने की इतनी बड़ी शक्ति प्रायः दुर्लभ होती है। परन्तु बुद्धिजीवियों के लिए इसीलिए उनका अब अधिक महत्व नहीं रहा।

गुप्त जी के काव्य में वास्तविक काव्योत्कर्ष विद्यमान है। इतना स्वस्थ काव्य भी इस युग में अन्य कवियों ने अधिक नहीं लिखा है। उनके काव्य में आधुनिक भावना भी विद्यमान है, परन्तु वह पूर्ण विकसित नहीं है। उनका दृष्टिकोण सदैव जनहितवादी रहा है। वे अधुनातन साहित्य में द्विवेदी–युगीन खेवे के सांस्कृतिक और नवोत्साहशील कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने महान् चरित्रों की लोक–सामान्य जीवन–चर्या का वर्णन किया है, साधारण मानव चरित्र में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की है, नारीत्व की महत्ता का उद्‌घोष किया है, नायिका प्रधान महाकाव्य रचा है और अखंड मानव–संस्कृति का जयगान गाया है। वे असंकीर्ण मनोवृत्ति के कवि हैं, जिन्हें देश और काल की सीमाएँ विकासशील बने रहने का निमंत्रण देती हैं। उन्होंने खड़ी बोली काव्य के राजपथ का निर्माण किया है, जिनकी पद्य–रचना के आधार पर अनेक परवर्ती कवियों का वाणी–संधान संभव हुआ है। उनका काव्य प्रायः प्रस्तुत और स्थूल विषयों से ही सम्बद्ध है तथा वे प्रबन्धकार कवि के रूप में समादृत हैं। उनकी युग–चेतना विलक्षण है, जिसे वे अपने मध्ययुगीन संस्कारों और मानवोत्थानकारी आदर्शों से इस प्रकार समन्वित रखते हैं कि आश्चर्यान्वित होना पड़ता है। निश्चय ही वे युग के प्रमुख कवि हैं। जिनकी भारती ने भारतीयता का सन्देश वहन किया है। उनके काव्य–लक्ष्य का व्यक्त स्वरूप, संक्षेप में मानवता का उत्कर्ष अथवा कर्मण्यता का उन्मेष ही है। उनकी काव्य–कला प्रबन्धात्मक होने के कारण ही विशिष्ट नहीं है, उसने हिन्दी काव्य को अनेक प्रकार की विशेषताओं और नवीनताओं से अलंकृत

भी किया है। वस्तु–विन्यास, भाव–व्यंजना, चरित्र–चित्रण, वाक्वैचित्र्य, अभिव्यक्ति–भंगिमा, अप्रस्तुत–विधान, छंदोरचना तथा भाषा–गठन संबंधी अनेक प्रकार की नवीनताएँ उनके काव्य में सुलभ और सुप्रयुक्त हैं। उन्होंने खड़ी बोली का संस्कार ही नहीं किया, उसकी शक्ति का विकास भी किया। उनकी छन्दोबद्ध वाणी आज भी मुखर है। गुप्त जी का हिन्दी–जगत् में सम्मानित स्थान और महत्व है।" [1]

जैसे–जैसे उनकी काव्य–कृति प्रौढ़ होती गयी, वक्रता का शनैः शनैः आगमन प्रारम्भ हुआ। **"रंग में भंग"** से लेकर "लीला" तक की समस्त रचनाओं में वक्रताओं का सुष्ठ प्रयोग हुआ है, ये वक्रताएं चरम परिणति को प्राप्त हुई हैं, और इन्हीं वक्रताओं ने कवि की काव्य–कला में चार–चाँद लगा दिए हैं। इस युग का कोई भी कवि उस धरातल तक नहीं पहुँच पाया जहाँ गुप्त जी स्थापित हैं। समस्त प्रकार की वक्रताएं उनके काव्य की शोभा हैं।

---

1. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य – पृ0 सं0 – 704

आलोच्य काव्य

सहायक ग्रन्थ

आलोच्य – काव्य

1.	रंग में भंग	श्री मैथिलीशरण गुप्त –	साहित्य सदन चिरगाँव (झाँसी)
2.	जयद्रथ वध	"	"
3.	पद्य–प्रबन्ध	"	"
4.	भारतभारती	"	"
5.	शकुन्तला	"	"
6.	तिलोत्तमा	"	"
7.	चन्द्रहास	"	"
8.	पत्रावली	"	"
9.	वैतालिक	"	"
10.	किसान	"	"
11.	अनघ	"	"
12.	पंचवटी	"	"
13.	स्वदेश संगीत	"	"
14.	हिन्दू	"	"
15.	सैरन्ध्री	"	"
16.	वक संहार	"	"
17.	वन वैभव	"	"
18.	शक्ति	"	"
19.	विकट भट	"	"
20.	गुरुकुल	"	"
21.	झंकार	"	"
22.	साकेत	"	"
23.	यशोधरा	"	"
24.	सिद्धराज	"	"
25.	द्वापर	"	"
26.	मंगल घट	"	"
27.	आस्वाद	"	"

28.	नहुष	श्री मैथिलीशरण गुप्त–	साहित्य सदन–चिरगाँव (झाँसी)
29.	कुणाल गीत	"	"
30.	अर्जन और विसर्जन	"	"
31.	विश्व वेदना	"	"
32.	काबा और कर्बला	"	"
33.	अजित	"	"
34.	हिडिम्बा	"	"
35.	प्रदक्षिणा	"	"
36.	युद्ध	"	"
37.	अंजलि और अर्घ्य	"	"
38.	पृथिवी पुत्र	"	"
39.	जयभारत	"	"
40.	भूमि भाग	"	"
41.	कवि श्री	"	"
42.	राजा प्रजा	"	"
43.	विष्णु प्रिया	"	"
44.	उच्छ्वास	"	"
45.	लीला	"	"
46.	रत्नावली	"	"

सहायक ग्रन्थ

(क) संस्कृत

1. काव्यालंकार – भामह – भाष्यकार – डॉ0 देवेन्द्र नाथ शर्मा
बिहार राष्ट्र भाषा परिषद – पटना 1962

2. काव्यालंकार – रुद्रट – व्याख्याकार – डॉ0 सत्यदेव चौधरी
वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली – 1965

3. काव्य प्रकाश – मम्मट – भाष्यकार – आचार्य विश्वेश्वर
ज्ञान मंडल – वाराणसी – 1960

4. नाट्य शास्त्र — भरत — सम्पा0 रामकृष्ण
ओरियन्टल इन्स्टीच्युट — बड़ौदा

5. वक्रोक्ति जीवित — कुन्तक — डॉ0 सुशील दे — कलकत्ता—1961

6. साहित्य दर्पण — आचार्य विश्वेश्वर

7. दश रूपक — धनंजय — डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी—
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

8. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित — कुन्तक — व्याख्याकार — आचार्य विश्वेश्वर
आत्मा राम एण्ड सन्स — 1955

(ख) अंग्रेजी

1. History of Sanskrit Poetics -P.V. Kane-Moti Lal Baharidas - Third Ed.

2. Lives of the English Poets -Dr. Samuel Johnson Every Man's

3. Sanskrit Poetics as a study of Aesthetia-
-Dr. S.K. De. - Oxford University Press.

(ग) हिन्दी

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद — डॉ0 विजेन्द्र नारायण सिंह
परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद—प्रथम—1971

2. अरस्तू का काव्यशास्त्र — डॉ0 नगेन्द्र—भारती भंडार — इलाहाबाद

3. आलोचना के सिद्धान्त — डॉ0 शिवदान सिंह चौहान—राजकमल
प्रकाशन दिल्ली — प्रथम — 1960

4. काव्य में उदात्त तत्व — डॉ0 नगेन्द्र — राजपाल एण्ड सन्स
प्रथम— 1958

5. ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त — डॉ0 भोला शंकर व्यास—
नागरी प्रचारणी — वाराणसी

7. लक्षणा और हिन्दी काव्य में उसका प्रसार — डॉ0 राममूर्ति त्रिपाठी, नागरी प्रचारणी सभा — वाराणसी

8. वक्रोक्ति और अभिव्यंजना — श्री रामनरेश वर्मा

9. सिद्धान्त और अध्ययन — डॉ0 गुलाबराय

10. आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों का शिल्प विधान — डॉ0 श्यामनन्द किशोर

11. मैथिलीशरण गुप्त— व्यक्ति और काव्य — डॉ0 कमलाकान्त पाठक, प्रथम — 1960

12. हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण — डॉ0 किरण कुमारी गुप्ता

13. हिन्दी साहित्य — डॉ0 श्याम सुन्दरदास

14. संस्कृत साहित्य का इतिहास — पं0बलदेव उपाध्याय

15. साकेत में काव्य संस्कृति और दर्शन — डॉ0 द्वारिका प्रसाद सक्सेना, द्वितीय — विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा — 1973